हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

प्रधान सम्पादक

बालकृष्ण राव

भाग २६ — जुलाई-दिसम्बर

अङ्क ३-४ — सन् १९६५ ई०

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

[संयुक्ताङ्क]

भाग २६	जुलाई-दिसम्बर
अङ्क ३–४	सन् १९६५ ई०

प्रधान सम्पादक
बालकृष्ण राव

•

सहायक सम्पादक
डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य संयुक्ताङ्क ५.०० रु० वार्षिक १० रुपये

प्रकाशन तिथि—३ नवंबर सन् १९६६ ई०

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

● अनुक्रम

३ : हिन्दी रङ्गमञ्च : स्थिति और सम्भावनाएँ——श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा, सरयू कुटीर, मधवापुर, इलाहाबाद।

२२ : इतिहास की तात्त्विक व्याख्या और उसका दार्शनिक आधार——श्री गोविन्दजी, ६८ रामबाग, इलाहाबाद।

३७ : कवि चन्द्र कृत मिथिला-भाषा रामायण : एक अनुशीलन——श्री श्रीमन्नारायण द्विवेदी, इलाहाबाद एग्रीकल्चर इन्स्टीच्यूट, इलाहाबाद।

६० : अपभ्रंश के कथाकाव्य और चरितकाव्य——डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, हिन्दी-विभाग, शासकीय विज्ञान महाविद्यालय, रायपुर।

७२ : शुक्रनीतिसार' द्वारा विदित ग्रामशासन-व्यवस्था——श्री विजय गोविन्द, प्राचीन इतिहास विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

८० : सामाजिक एकता का सामाजिक विवेचन——डॉ० दयालशरण वर्मा, जे १२।१५, एल—७, नाटी इमली, वाराणसी।

९२ : भारतीय विचारधारा के अनुसार मोक्षप्राप्ति तथा चित्तशुद्धि के साधन——डॉ० सुरेन्द्र मीतल, राजनीति विभाग, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

१०३ : बुन्देली बोली : एक सर्वेक्षण——डॉ० पूरनचन्द्र श्रीवास्तव, हिन्दी विभागाध्यक्ष, सिटी हितकारिणी कालेज, जबलपुर।

१२८ : पूर्वी हिन्दी और उसकी प्रमुख भाषाएँ——डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन', हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

१५५ : प्रतिपत्तिका

(१) प्रयाग की पत्रकारिता——श्री उदयनारायण सिंह, प्रयाग।

(२) भक्तवर नागरीदास का एक अप्राप्य ग्रन्थ 'वेण विलास'——श्री मुरलीधर शहा, पूना।

(३) कबीर, सूर तथा परमानन्ददास के कुछ श्रेष्ठतर पाठ——श्री ओमप्रकाश सक्सेना, इलाहाबाद।

(४) क्या मुरलीधर 'कविभूषण' के आश्रयदाता चन्देरी के राजा देवीसिंह गोंड थे?——श्री वेदप्रकाश गर्ग, मुजफ्फरनगर।

(५) प्राचीन भारतीय शल्य चिकित्सा——डॉ० हरिहरप्रसाद गुप्त, मुजफ्फरनगर।

(६) नरसी मेहता : व्यक्तित्व एवं कृतित्व——श्री अगरचन्द नाहटा, बीकानेर।

१९२ : नये प्रकाशन

हिन्दी रङ्गमञ्च : स्थिति और सम्भावनाएँ

• लक्ष्मीकान्त वर्मा

पृष्ठभूमि

हिन्दी-रङ्गमञ्च-आन्दोलन पर जब मैं दृष्टि डालता हूँ तो ऐसा लगता है कि जिस प्रकार हिन्दी भाषा को राष्ट्रीय विपन्नताओं का व्यंग्य भोगना पड़ रहा है, ठीक उसी प्रकार हिन्दी रङ्गमञ्च को भी व्यंग्यात्मक स्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। कुछ असङ्गतियाँ ऐसी हैं जो पुनरुत्थानवादी मनोवृत्ति और अति नूतन मनःस्थितियों के कारण एक व्यंग्यात्मक रूप प्रस्तुत कर देती हैं। जैसे हिन्दी भाषा में व्याकरण संस्कृत का है और मुहावरा खड़ीबोली का, हिन्दी कविता के क्षेत्र में कविता तो अति आधुनिक भाव-बोध की है, किन्तु काव्यशास्त्र संस्कृत का, ठीक उसी प्रकार हिन्दी रङ्गमञ्च का आदर्श है भरत का नाट्य-शास्त्र, किन्तु उसका व्यावहारिक रूप है अत्यन्त यथार्थवादी पाश्चात्य रङ्गमञ्च। वस्तुतः यदि आज देखा जाय तो हिन्दी रङ्गमञ्च का कोई भी मूर्त्त रूप हमें नहीं मिलता। यह स्थिति आज की नहीं है, वरन् पिछले पचास वर्षों से हिन्दी रङ्गमञ्च की यही स्थिति है। न तो उसकी कोई परम्परा ही दीख पड़ती है और न उसे एक सशक्त कला-माध्यम के रूप में विकसित होने का अवसर ही दीख रहा है। हिन्दी रङ्गमञ्च को हिन्दी व्याकरण और हिन्दी काव्य-शास्त्र की भाँति या तो संस्कृत का सहारा लेना पड़ता है या अंग्रेजी का। सबसे विचित्र बात तो यह है कि द्विवेदी-युग में शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद तो हमें 'सरस्वती' में मिल जाता है, किन्तु हिन्दी रङ्गमञ्च सम्बन्धी आलोचना या विवेचना नहीं मिलती। एक प्रकार से देखा जाय तो इस पूरे अर्ध शती में हिन्दी रङ्गमञ्च प्रायः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के युग का जूठन मात्र बन कर रह गया है। यही नहीं, चाहे वह शौक़िया रङ्गमञ्च हो अथवा व्यावसायिक, दोनों ही आज से पचास वर्ष पूर्व तक लुप्तप्राय हो चुके थे। जो कुछ टूटा-फूटा, बिखरा, विशृङ्खल रङ्गमञ्च आज हमें दिखलाई पड़ता है, यदि हम उसे जोड़-तोड़ कर एक क्रमबद्ध रूप में मिलाने की चेष्टा भी करें तो हमें उसमें किसी भी प्रकार की परम्परा की कड़ी नहीं मिल सकेगी। यही नहीं, विकसित, अविकसित या अर्द्धविकसित रूप में हमें किसी भी प्रकार का ऐसा स्वतन्त्र आन्दोलन भी नहीं मिलेगा जो परम्परा स्थापित करने में सहायक हो। यदि कहीं, किसी रूप में हमें कोई परम्परा मिलती भी है तो वह हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों में प्रवासी बङ्गाली रङ्गमञ्च के उच्छिष्ट रूप में मिलती है। दुर्गा-पूजा के अवसर पर जो बङ्गाली रङ्गमञ्च मोहल्ले में बनते थे, उसी रङ्गमञ्च को उधार लेकर हिन्दी के कुछ युवयका

विद्यार्थी ऐसा-वैसा नाटक लेकर उसका अभिनय प्रस्तुत करके अपना शौक़ पूरा कर लेते थे। कम से कम हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र में यह परम्परा आज भी प्रचलित है।

भारतेन्दु-युग में भी जो रङ्गमन्च प्रस्तुत था, उसकी भी कोई विशिष्ट परम्परा नहीं थी। स्वयं भारतेन्दु ने जिस रङ्गमन्च की स्थापना की थी, वह व्यावसायिक पारसी थियेटर और लोक-रङ्गमन्च का एक प्रकार का मिश्रण था। भारतेन्दु का व्यक्तित्व प्रभावशाली था। वह स्वयं भी अभिनय में रुचि रखते थे। इसलिये उनके आसपास एक वातावरण था जिससे यह तो सम्भव हो जाता था कि नाटक रङ्गमन्च पर प्रस्तुत होकर अभिनीत हो जाते, किन्तु उनकी कोई भी क्रमबद्ध शृङ्खला हमें नहीं मिलती। भारतेन्दु के रङ्गमन्च में बङ्गला के गिरीशचन्द्र घोष, क्षेत्रमोहन विनोद आदि के 'कोरेन्थियन थियेटर' की प्रतिक्रिया में निर्मित बङ्गाली रङ्गमन्च के तत्त्व भी थे और 'विक्टोरिया नाट्य कम्पनी', 'गुजराती नाट्य मण्डली' एवं बम्बई के 'पारसी थियेटर' के भी तत्त्व थे। स्वयं कृष्ण भक्त होने के नाते भारतेन्दु के रङ्गमन्च में रासलीला की भी परम्परा मिली हुई थी। स्पष्ट है कि इस रङ्गमन्च में उत्तर भारत की प्रायः समस्त परम्पराएँ मिली हुई थीं। शायद यही कारण था कि भारतेन्दु के युग में रङ्गमन्च की कोई विशुद्ध परम्परा न बन सकी। किन्तु इतना सत्य है कि वह अपेक्षाकृत अधिक सजीव रङ्गमन्च था।

द्विवेदी कालीन चेतना रङ्गमन्च और नाटक के लिये शायद इतनी अधिक सजीव और सचेष्ट नहीं थी जितनी कि भारतेन्दु कालीन चेतना थी। द्विवेदी युग में राष्ट्रीय चेतना एक सक्रिय आन्दोलन के रूप में विद्यमान थी। परिणाम यह हुआ कि नाटक का कलात्मक पक्ष बिघटित हो गया। रङ्गमन्च पर केवल 'पारसी थियेटर' का प्रभाव रह गया। राधेश्याम, आग़ाहश्र, बेताब आदि ने जो भी नाटक लिखे, उसमें लोकप्रियता की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस लोकप्रियता की परिणति पारसी रङ्गमन्च की स्वीकृति में हुई। जी० पी० श्रीवास्तव, बदरीनाथ भट्ट आदि के नाटकों को देखने से लगता है कि उस युग का सम्पूर्ण रङ्गमन्च केवल मनोविनोद के लिये था और वह प्रयास जो भारतेन्दु ने किया था, कालान्तर में समाप्त हो गया। हिन्दी रङ्गमन्च को कोई भी ऐसा व्यक्तित्व नहीं मिल पाया जो उसको पूर्णरूप से विकसित कर सकता। इसके विपरीत राष्ट्रीय आन्दोलन, आर्यसमाज आदि ने कुछ नितान्त एकाङ्गी प्यूरिटेन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसके कारण नाटक और रङ्गमन्च दोनों ही विपरीत दिशाओं की ओर उन्मुख हो गये। प्रसाद ने अधिकांश नाटक पठन-पाठन और नितान्त सम्भ्रान्त रङ्गमन्च के लिये लिखे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी रङ्गमन्च बिना किसी अगुआ के एकदम उपेक्षित दशा में पड़ा रहा। यद्यपि उसे प्रसाद जैसा नाटककार मिला था, किन्तु भारतेन्दु जैसा साहसी प्रयोगशील व्यक्तित्व नहीं मिल सका।

बङ्गाल में इसके विपरीत दशा थी। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ ठाकुर जैसा व्यक्तित्व बङ्गाल के रङ्गमन्च पर 'विसर्जन' 'डाक घर' 'चित्राङ्गदा' और 'उर्वशी' जैसे नाटकों को प्रस्तुत कर रहा था। यही नहीं, इसी युग में वे स्वयं प्रमुख भूमिकाओं में उतर कर नाटक और रङ्गमन्च दोनों को सर्वथा नयी परम्पराएँ दे रहे थे। यह विचित्र बात है कि एक ओर बङ्गाल का विश्वविख्यात लेखक, कवि, रङ्गमन्च का निर्माण कर रहा था और दूसरी ओर हिन्दी में रही-सही रङ्गमन्च की परम्परा नष्ट हो रही थी। हिन्दी रङ्गमन्च की मौत के जो दो मुख्य कारण थे, उनमें से प्रथम तो आर्यसमाज

का प्यूरिटेन दृष्टिकोण था और दूसरा पारसी थियेटर से प्राप्त उर्दू की भाषा थी। इन्हीं दोनों के बीच हिन्दी रङ्गमञ्च घुटकर मर रहा था। एक ओर ब्रह्म समाज की परम्परा बङ्गाल में रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व के माध्यम से जीवन और कला को सुन्दर बनाने में व्यस्त थी, तो दूसरी ओर हिन्दी, क्षेत्र में कला के प्रति उदासीनता बढ़ती जा रही थी।

भारतेन्दु और प्रसाद युग के बीच का अन्तराल वास्तव में दो विभिन्न भावबोधों के बीच का अन्तराल था। इन दोनों के बीच का युग एक प्रकार से अनाटक युग था। इस बीच महावीरप्रसाद द्विवेदी ने देश की पुनरुत्थान-युग की चेतना को विकसित किया और जो माध्यम उस भावना-प्रधान चेतना के लिये उपयुक्त था, वह काव्य का था। साथ ही आदर्शवादी युग होने के नाते भी नाटक को प्रश्रय नहीं मिल सका। वह युग सीधे चिन्तन और आदर्श-दर्शन का युग था। उसमें नाटकीय विरोधाभास और द्वन्द्वों को इसीलिये प्रश्रय नहीं मिल सका और हिन्दी का रङ्गमञ्च या तो भारतेन्दु के रङ्गमञ्च तक सीमित रहा या फिर व्यावसायिक स्तर पर वह नितान्त पारसी थियेटर की सीमा तक सीमित रह गया।

हिन्दी रङ्गमञ्च की स्थापना का जो प्रयत्न भारतेन्दु ने अपने जीवन काल में किया था, वह १८८५ ई० में उनकी ३४ वर्ष की ही अवस्था में मृत्यु हो जाने के बाद समाप्तप्राय हो गया और वह व्यवसायिक मञ्च जिसकी उत्पत्ति वाजिद अली शाह के 'इन्दर सभा' के समय में हुई थी, पूर्ण रूप से व्यावसायिक स्तर पर विकसित होने लगा। यह पारसी रङ्गमञ्च, जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ, सिवा उर्दू शायरी और बहरेतवील के और कुछ नहीं था। इस रङ्गमञ्च के पीछे जो मन:स्थिति काम कर रही थी, वह कलात्मक न होकर शुद्ध व्यावसायिक थी।

एक प्रकार से देखा जाय तो स्वतः भारतेन्दु का रङ्गमञ्च-आन्दोलन काफ़ी सीमा तक वाजिद अली शाह के 'इन्दर सभा' और 'रहस' आदि के प्रारूपों से प्रभावित था। अन्तर इतना था कि भारतेन्दु की प्रतिभा ने उसे हिन्दीनिष्ठ किया। यही कारण है कि वाजिद अली शाह के 'इन्दर सभा' का जब पतन हुआ तो वह पारसी थियेटर के रूप में हमारे सामने आया और जब भारतेन्दु द्वारा स्थापित रङ्गमञ्च निष्क्रिय हुआ तो विकृति के रूप में वह नहीं आया, वरन् वहीं ठहर गया।

प्रसाद के युग तक भारतेन्दु द्वारा स्थापित हिन्दी रङ्गमञ्च के भग्नावशेष एक निर्जीव परम्परा के रूप में केवल काशी तक ही सीमित रहे। प्रसाद के साथ नाटक, इतिहास और सांस्कृतिक चेतना का माध्यम बन कर प्रस्तुत हुआ। 'कोरेन्थियन' 'अल्फ़र्ड' और 'विक्टोरिया' कम्पनियाँ अपने व्यावसायिक रूप में नितान्त विकृत होकर 'इन्दर सभा' की परम्परा चलाये जा रही थीं। प्रसाद की अरुचि व्यावसायिक रङ्गमञ्च के प्रति थी और वह काफ़ी सीमा तक संस्कृत नाटकों की साङ्केतिक शैली को लेकर आये। घर, बाज़ार, उपवन, जनपथ, दुर्ग सब का सब वह बिना सङ्कोच दृश्यों में पिरोने लगे। 'चन्द्रगुप्त' में मगध और काश्मीर, नदी तट और सागर का गर्जन, चन्द्रगुप्त का राजभवन और चाणक्य की कुटिया सब के सब एक साथ एक के बाद एक प्रस्तुत होते हैं और नाटक पढ़ते समय ऐसा लगता था जैसे वह यह सारी स्थितियाँ जानते हुए कह रहे हैं। ऐसा नहीं था कि वह इन विरोधाभासों से अनभिज्ञ रहे हों। मुझे ऐसा लगता है कि प्रचलित थियेटरों की परम्परा से ऊब कर ही उन्होंने ऐसा किया था।

हिन्दी रङ्गमञ्च का यह काल अपने में बड़ी ही कठिन परीक्षा का काल रहा है। पारसी थियेटर भी लगभग समाप्तप्राय हो चुका था। सिनेमा ने काफ़ी अंश तक नाटक की पूर्ति करने की चेष्टा की थी। रङ्गमञ्च में वह क्षमता नहीं रह गई थी कि वह सिनेमा के साथ-साथ रङ्गमञ्च की उपलब्धियों को सशक्त ढङ्ग से प्रस्तुत कर सकता। प्रसाद के नाटक काशी में अव्यावसायिक रङ्गमञ्च द्वारा प्रस्तुत तो अवश्य किये गये, लेकिन उसमें भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली। स्वयं प्रसाद जी को उससे विशेष प्रेरणा नहीं मिली। ऐसी स्थिति में रङ्गमञ्च जहाँ था वहीं रह गया। नाटक, विचार और अनुभूतियों के स्तर पर नितान्त गहन-गम्भीर और काव्य-प्रधान रूप में काल्पनिक आधार पर विकसित होने लगा। प्रसाद के अधिकांश नाटकों का पाठ-गुण-सम्पन्न होना इसका प्रमाण है कि नाटककार ने नाटकीय विधा को रङ्गमञ्च के सशक्त माध्यम से जोड़ने का प्रयास ही नहीं किया। रङ्गमञ्च का स्तर तो रामलीला के स्तर का रह गया, जब कि नाटकों में शेक्सपीयर, इब्सन, और चेखव की संवेदनात्मक मानवी अनुभूतियों का चित्रण होने लगा। इसका प्रमाण बड़ा रोचक है। प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक में शेर रङ्गमञ्च पर आता है और चन्द्रगुप्त उसे मार कर कार्नेलिया के प्राणों की रक्षा करता है। तदनन्तर कार्नेलिया उस पर आसक्त हो जाती है। दूसरा रोचक उदाहरण विष्णु प्रभाकर के नाटक 'डॉक्टर' से दिया जा सकता है जिसमें स्टेज पर पूरा आपरेशन थियेटर दिखाया गया है और आपरेशन थियेटर ऐसा वैसा नहीं; आपरेशन द्वारा बच्चा पैदा करने का जो दृश्य है ज्यों का त्यों रख दिया गया है। ऐसे अनेक उदाहरण आपको मिलेंगे जो इस बात के सबूत हैं कि नाटककार के व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति के सशक्त अङ्ग के रूप में रङ्गमञ्च आज भी नहीं बन पाया है। यदि एक ओर पारसी थियेटर में धीरोदात्त नायक को प्रसन्न करने के लिये या शकुन्तला को विनोद द्वारा खिजाने के लिये कण्वाश्रम की कन्याएँ 'पतली कमर बल खाय' गा सकती हैं अथवा भोंड़े गीत केवल जनता के मनोरञ्जन से पैसा उगाहने के लिये गाये जा सकते थे, तो दूसरी ओर 'गुण्डा' जैसी प्रसाद की कहानी का मञ्चीय संस्करण प्रस्तुत करने के लिये पूरा टमटम स्टेज पर ला कर खड़ा कर दिया जाता था। प्रेमचन्द के 'दो बैल' शीर्षक से प्रस्तुत होने वाले नाटक में सचमुच दो बैल किराये पर मँगाकर रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करके रङ्गमञ्च के यथार्थ की रक्षा का दम भरा गया था। कहने का मतलब यह है कि प्रसाद के युग का सम्पूर्ण भावबोध उस समय नाटक और रङ्गमञ्च को एक दूसरे का अविभाज्य अङ्ग मान कर चलता ही नहीं था। ऐसा लगता था कि नाटककार मञ्च की सुविधा को भी यदि ध्यान में रखकर कुछ लिखेगा तो इससे उसके विचारों की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। और यह द्वन्द्व नाटककार और रङ्गमञ्च में आज भी विद्यमान है। आज भी हिन्दी का साधारण नाटककार इस तथ्य को स्वीकार ही नहीं करता कि नाटक के लिये रङ्गमञ्च का भी होना नितान्त आवश्यक है।

इस सम्पूर्ण स्थिति को देखने पर पता चलेगा कि आज की वास्तविक स्थिति उस परम्परागत रङ्गमञ्च के अभाव के कारण है जो भारतेन्दु युग के बाद से आज तक कोई भी नयी सम्भावना नहीं प्रस्तुत कर सका। लगभग साठ-सत्तर वर्ष तक हिन्दी का नाटककार अपने माध्यम की शक्ति की अवहेलना करके मौन एकान्त नाटक लिखता रहा है। इस विभाजन का कारण जो भी हो, इसके परिणाम बड़े कटु हुए हैं। व्यावसायिक रङ्गमञ्च को तो सिनेमा ने मार डाला, किन्तु

एमेचर अव्यावसायिक रङ्गमञ्च भी इस ६०-७० वर्ष में ––मेरा मतलब १९४५तक––नहीं बन सका। इसका दुष्परिणाम भी बहुत हुआ है। कहना न होगा कि इस परम्पराहीनता के कारण आज जब हम हिन्दी रङ्गमञ्च को पुनः खोजने चलते हैं तो जो कुछ भी उसका भग्नावशेष मिलता है, वह एक ओर पारसी थियेटर का टूटा हुआ दर्पण है तो दूसरी ओर लोक-रङ्गमञ्च का अनगढ़ मञ्च है और यदि इससे भी आगे बढ़ते हैं तो एक झीनी सी परम्परा रामलीला और रास-मण्डली के नाम पर जीती-जागती सी मालूम पड़ती है। लेकिन उसको भी देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस दिशा में भी कोई महत्त्वपूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

स्थिति

प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त पृष्ठभूमि में परम्पराविहीन होने के बावजूद आज हिन्दी रङ्गमञ्च की स्थिति क्या है ? इस स्थिति के ही आधार पर हमें उसकी समस्याएँ देखनी होंगी और उन समस्याओं की सापेक्षता में ही हिन्दी रङ्गमञ्च की सम्भावनाओं पर विचार किया जा सकेगा।

इसी सम्बन्ध में यह भी कह देना अनुचित न होगा कि हिन्दी रङ्गमञ्च के विकास में अवरोध पैदा होने का एक कारण यह भी था कि कलकत्ते की 'कोरेन्थियेन थियेटर' से लेकर दिल्ली की 'विक्टोरिया' और बम्बई के 'अल्फ्रेड थियेटर' तक में उत्तर प्रदेश या हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र के लिये उर्दू-फ़ारसी का ही प्रयोग होता रहा। इन थियेटरों ने बहुत बड़ी संख्या में जिस संस्कृति को प्रश्रय दिया, वह ईरानी संस्कृति थी और जिन कथाओं को आधार बनाया, वह भारतीय जीवन की अपेक्षा ईरान और अरब के जीवन से अनुप्राणित थीं। शीरी-फ़रहाद, लैला-मजनूं, गुलबकावली आदि प्रेम और रोमान्स की कथाएँ ही इस व्यवसायी रङ्गमञ्च का मूल आधार थी। कभी-कभी हिन्दू जनता के लिये यह कम्पनियाँ पौराणिक कथाएँ भी प्रस्तुत करती थीं। किन्तु विश्वामित्र के श्राप से पीड़ित राजा हरिश्चन्द्र उर्दू-फ़ारसी में ही रोते-गाते थे या नल-दमयन्ती का वार्तालाप बहरेतवील, मोखम्मस, शेर और गजल से लेकर दोहे तक में होता था। द्रौपदी भी अगर अपने लाज की रक्षा के लिये विलाप करती थीं तो सूरदास के भजन और उर्दू ग़ज़ल साथ-साथ गाती थी। यद्यपि यह सारा वातावरण लगता कुछ अटपटा सा था, किन्तु इन व्यावसायिक कम्पनियों का मुख्य उद्देश्य पैसा पैदा करना था; इसीलिये उनका ध्यान कथ्य की सांस्कृतिक सङ्गति पर जाता ही नहीं था।

इन सब का प्रभाव लोक-रङ्गमञ्च पर भी पड़ा। सैकड़ों नौटङ्कियों में हमें आज भी ठेटर' और 'ड्रामा' के रूप जुड़े हुए मिलते हैं। लोक-रङ्गमञ्च पर भी थियेट्रिकल नाटक और अर्द्ध-रूमानी भोड़ी कथाएँ चलने लगीं। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी रङ्गमञ्च के विशुद्ध रूप में कोई लोक-परम्परा भी नहीं रही। धीरे-धीरे थियेटर का प्रभाव इतना बढ़ा कि यह लगने लगा कि साहित्य में 'राधेश्याम की रामायण' और रङ्गमञ्च के नाम पर थियेटर के भोड़े प्रारूप यही दो शेष बचेंगे। हुआ भी यही; नौटङ्की, बिदेसिया और इसी प्रकार के अन्य लोक माध्यमों में धीरे-धीरे भाषा-शैली से लेकर अभिनय और मञ्च व्यवस्था में थियेटर ही अनुकरणीय हो गया और उसकी अपनी मौलिक परम्परा लुप्त होने लगी।

धार्मिक रङ्गमञ्च जो रामलीला और रासलीला के रूप में मन्दिरों और मठों में प्रचलित था, मण्डलियों के रूप में व्यावसायिक रूप ग्रहण करने लगा। वैसे मण्डलियों का मुख्य उद्देश्य केवल भगवत-लीला करके भक्ति के माध्यमों को पुष्ट करना था। यद्यपि इनकी यह प्रतिज्ञा कभी भी नहीं रही कि ये भगवत्-लीला के साथ-साथ नाटकीय तत्त्वों का भी समन्वय करें, फिर भी एक क्षीण सी परम्परा उनके साथ सम्बद्ध रही है। एक दृष्टि से देखा जाय तो स्वयं रामलीला भी उस समय थियेटर से आक्रान्त सा लगता है। यही नहीं, उस पर सिनेमा और सर्कस का भी प्रभाव पड़ गया है। राम भी दुःख-दर्द में अशआर कहते हैं। रावण हिन्दी के साथ-साथ शुद्ध उर्दू भी बोलता है। इसी सन्दर्भ में जो सबसे रोचक घटना घटी, वह यह कि सहसा तुलसीदास की रामायण की जगह राधेश्याम की रामायण ने ले लिया। इसी से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रामलीला में अभिरुचि की विशिष्टता उतना काम नहीं करती, जितना कि कोई व्यावसायिक संस्था सम्भव रूप में कर सकने में सक्षम हो सकती है।

लेकिन यह धार्मिक रङ्गमञ्च भी काफ़ी हद तक सुधारवादी आन्दोलन के प्रहार की वस्तु बन गया। रामलीला के रूप में जो रङ्गमञ्च परम्परा से चला आता था, उसमें कोई विकास सम्भव नहीं था। साथ ही उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। अभिजात्य और लोक-तत्त्वों में एक प्रकार का पृथकत्व भी इसी बीच विकसित हो गया। इस पृथकत्व का परिणाम यह हुआ कि वह लोक-रङ्गमञ्च जिसको आधार मान कर बङ्गाल में तरह-तरह के प्रयोग हुए, हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में उपेक्षित हो गया। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, बङ्गाल में रवि बाबू और भादुड़ी जैसे व्यक्ति जिस लोक-रङ्गमञ्च को विकसित करके उच्चकोटि की कलाकृतियाँ दे रहे थे, वहाँ हिन्दी-प्रदेश में उपेक्षा का पात्र बना हुआ था। केवल माधव शुक्ल जैसे दो-एक व्यक्ति हिन्दी रङ्गमञ्च के टूटे-फूटे रूप को सुरक्षित रखने में लगे थे, किन्तु उस रक्तहीन परम्परा को वह जीवित रखने में असमर्थ रहे। नाटक और रङ्गमञ्च दोनों समाज के सम्भ्रान्त वर्ग से छूट गये। यह पूरी विधा ही एक प्रकार से अशिक्षित व्यक्तियों के हाथ में पड़ गई। इससे हिन्दी रङ्गमञ्च तो गौण हो ही गया, साथ ही उसकी समस्याएँ भी अन्धकार में विलीन हो गईं।

यहीं पर एक और बात भी स्पष्ट कर देना उचित होगा। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, जैसे हिन्दी भाषा को संस्कृत के व्याकरण से अनुशासित किया गया, ठीक उसी प्रकार जो भी हिन्दी रङ्गमञ्च अथवा नाटक की विवेचना करने आया, वह हिन्दी नाटक का सीधा सम्बन्ध संस्कृत-नाट्य-परम्परा से जोड़ने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि जैसे अधिकांश प्राचीन आलोचना शास्त्र आज के साहित्य को अनुशासित करने में असमर्थ रहा है, ठीक उसी प्रकार संस्कृत-नाट्य-शास्त्र ने भी हिन्दी रङ्गमञ्च को अनुशासित करने के बजाय उसके विकास की सम्भावना को ही रोक दिया और एक नितान्त कृत्रिम परम्परा विकसित हो गई।

इस बीच केवल एक ही स्थान ऐसा था, जहाँ क्षीण रूप में ही सही, हिन्दी रङ्गमञ्च का आन्दोलन चलता रहा। वह स्थल था यूनिवर्सिटी-कॉलेजों के नाट्य समारोहों का अव्यावसायिक आन्दोलन। हिन्दी का रङ्गमञ्च १९३० से १९४३ तक केवल इन्हीं स्थलों पर किसी न किसी रूप में जीवित रहा। एक दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण अव्यावसायिक आन्दोलन

जो आज तेजी से बढ़ता हुआ दिखलाई पड़ता है, उसका मूल स्रोत स्कूल-कॉलेज ही हैं। साल में दो-एक नाट्य-समारोह, चाहे वह केवल कथोपकथन शैली में ही क्यों न रहे हों, इन जगहों पर हो जाया करते थे। चूँकि सम्पूर्ण देश के सामने उस समय राजनैतिक आन्दोलन ही प्रमुख था; अतः उसके सामने उस प्रकार के छोटे-मोटे सांस्कृतिक आन्दोलनों की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता था। फलस्वरूप हिन्दी रङ्गमञ्च नाम की चीज भी दबी की दबी रह गई और उसका कोई रूप सर्वव्यापी होकर प्रस्तुत नहीं हो सका।

सन् १९४२-४३ में बङ्गाल के काल के समय भूखमरी के कारण कुछ सांस्कृतिक आन्दोलनों का नया रूप सामने आने लगा। समस्त राष्ट्रीय नेताओं के जेल चले जाने के कारण राजनैतिक स्तर पर उस भूखमरी के लिए किसी भी अन्य प्रकार से कुछ किया जाना सम्भव ही नहीं था। अकर्मण्य स्थिति स्वीकार नहीं थी। इसलिये सहसा सांस्कृतिक माध्यमों को अभिव्यक्ति मिल गई। उस समय का यदि अध्ययन किया जाय तो प्रायः समस्त प्रमुख नगरों में एक प्रकार का रङ्गमञ्च सहसा उभर आया और अकाल पीड़ितों के सहायतार्थ नाटकों के अभिनय द्वारा धन जमा किया जाने लगा। एक अर्थ में वह दबा हुआ हिन्दी रङ्गमञ्च जो अभी तक स्कूल और कॉलेजों में अपनी ज़िन्दगी की आखिरी मौत गिन रहा था, सहसा उन दीवारों को तोड़ कर बाहर आ गया।

ऐसा होने का एक कारण और था। उस राजनैतिक अवसर का लाभ उठा कर भारत की कम्युनिस्ट पार्टी यह चाहती थी कि सांस्कृतिक स्तर पर वह अपनी 'इप्टा' के माध्यम से सारे प्रदेश पर छा जाय। इसीलिये इस अन्तराल में कम्युनिस्ट पार्टी ने सांस्कृतिक और लोक-रङ्गमञ्च के उत्थान के लिये अखिल भारतीय स्तर पर रङ्गमञ्च का आन्दोलन चलाया। यह आन्दोलन एक उद्देश्य विशेष से सञ्चालित होने के कारण लोकप्रिय तो नहीं हुआ, किन्तु इसने उस रङ्गमञ्च को आगे लाने में निश्चित सहायता पहुँचाई जो अब तक केवल स्कूल, कॉलेज और यूनिवर्सिटियों में दबा पड़ा था। परिणाम यह हुआ कि उसी समय 'इप्टा' के समकक्ष एक और संस्था 'इनटा' अर्थात् 'इण्डियन नेशनल थियेटर एसोसिएशन' की स्थापना हुई। कमलादेवी चट्टोपाध्याय और कर्नल गुप्ते जैसे व्यक्तियों ने इस राष्ट्रीय नाट्य-रङ्गमञ्च-आन्दोलन को कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्थापित 'इप्टा' के विरुद्ध स्थापित किया। 'इप्टा' का उद्देश्य उस समय अंग्रेजी सरकार की सहायता, फ़ासिस्टों के विरुद्ध युद्ध, चोरबाजारी आदि के विरुद्ध विशुद्ध दलगत और प्रचार-प्रधान नाट्य अभिनयों को प्रस्तुत करना था। यद्यपि 'इनटा' के उद्देश्यों में कहीं भी यह नहीं है कि वह 'इप्टा' के विरोध में बनाई गयी संस्था है, फिर भी उसके उद्देश्यों की तुलना 'इप्टा' के उद्देश्यों से करने पर यह स्पष्ट पता चल जाता है कि दोनों एक दूसरे से भिन्न दिशाओं की ओर जाने के प्रयास में संलग्न थीं।

देश की असाधारण राजनैतिक और आर्थिक स्थिति ने समस्त राष्ट्रीय चेतना को यह नया सांस्कृतिक माध्यम दिया। सन् १९४३-४६ के बीच तो नाटकों और रङ्गमञ्च के आन्दोलनों की बाढ़ सी आ गई। 'इप्टा' का सङ्गठन राजनैतिक स्तर पर होने के नाते १९४२ तक बहुत ही गठा हुआ और अनुशासित था। १९४२ में बी० टी० रणदिवे के मन्त्रित्व काल में जब इस दल ने षड्यन्त्रकारी काम करने शुरू किये और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में उथल-पुथल और सशस्त्र क्रान्ति

का नारा देकर 'इप्टा' को भी उसका अङ्ग बना दिया, तब स्थिति कुछ बदल गई। धीरे-धीरे 'इप्टा' का व्यापक रूप सङ्कीर्ण होने लगा और वह संस्था भी विश्रृङ्खल होने लगी। आज वह समाप्तप्राय है।

स्वतन्त्रता के बाद एक नयी संस्था 'भारतीय नाट्य सङ्घ' के नाम से स्थापित हुई। हिन्दी भाषाभाषी प्रदेश की यह प्रतिनिधि संस्था तो नहीं कही जा सकती, फिर भी अखिल भारतीय स्तर की यह पहली संस्था है जो विभिन्न नाट्य संस्थाओं का सङ्घ बना कर नाटक और रङ्गमञ्च आन्दोलनों को आगे बढ़ाने की चेष्टा करती है। लेकिन यह संस्था उस सहज और व्यापक आन्दोलन की प्रतिरूप नहीं है जिसका आभास इसके संविधान और सङ्गठनात्मक घोषणा से मिलता है। सङ्घात्मक संस्था तभी वास्तविक आन्दोलन में सक्रिय भाग ले पाती है जब वह विभिन्न दृष्टियों द्वारा बनाई जाय। कोई भी ऐसी संस्था जो अपने आपको अखिल भारतीय घोषित करे और फिर यह चाहे कि विभिन्न इकाइयाँ उससे जुड़ कर उसके सङ्घात्मक अस्तित्व की रक्षा करें, तो यह सम्भव नहीं हो पाता। अखिल भारतीय स्तर पर यह संस्था दिल्ली में है तो, लेकिन उसकी कोई भी शक्ति अभी देखने में नहीं आई है।

इस अन्तराल में सिनेमा के स्तरों में कुछ गिरावट भी आई, जिसके कारण जनरुचि उसके घिसे-घिसाये उद्देश्यों और अन्य दृश्य-कथाओं से उबने लगी। सिनेमा में भी काफ़ी अंश तक मशीनवादी मनोवृत्ति अधिक उभर कर आने लगी। प्रेम और रोमांस के रुग्ण चित्रों से जनता तो ऊब ही गई थी, साथ-साथ स्वयं सिनेमा के कलाकारों को भी यह लगने लगा कि जैसे इस माध्यम को रुपया पैदा करने के लिये तो इस्तेमाल किया जा सकता है, किन्तु अभिनय-कला और स्वतन्त्र नाट्य-कला में निहित नाटकीयता के लिये वह माध्यम अधूरा पड़ रहा है। शायद इसी भावना ने पृथ्वीराज कपूर जैसे व्यक्ति को 'पृथ्वी थियेटर्स' जैसी संस्था को स्थापित करने की प्रेरणा दी थी। 'पृथ्वी थियेटर्स' ने निश्चित ही हिन्दी या हिन्दुस्तानी रङ्गमञ्च के विकास में एक नया क़दम उठाया, लेकिन उससे जो आधारभूत ग़लती इस सम्बन्ध में हुई, वह यह कि उसने सोचा कि नाट्य-आलेख के बिना भी रङ्गमञ्च का आन्दोलन चलाया जा सकता है। इसीलिये पृथ्वीराज ने हिन्दी के श्रेष्ठ नाटकों का अभिनय करने के बजाय स्वयं नाटक के आलेख अपने मनोनुकूल लिखवा कर अभिनय करना चाहा। आलेख की विविधता इस दुराग्रह में खण्डित हो गई और दो-चार प्रदर्शन के बाद ही ऐसा लगने लगा कि 'पृथ्वी थियेटर्स' हिन्दी रङ्गमञ्च के लिये नहीं है, वरन् वह पृथ्वीराज कपूर के अभिनय-अभ्यास का मञ्च है जिसमें नाटक और रङ्गमञ्च दोनों गौण हैं और पृथ्वीराज के व्यक्तित्व की माँग मुख्य है।

दूसरी ग़लती पृथ्वीराज से यह हुई कि उन्होंने सिनेमा और रङ्गमञ्च दो विभिन्न माध्यमों को मिलाकर एक प्रकार का चमत्कार पैदा करना चाहा। वह यह भूल गये कि रङ्गमञ्च की अपनी सीमाएँ हैं और उसके भीतर जो उपलब्धियाँ होती हैं वह तो रङ्गमञ्च की उपलब्धि कही जा सकती हैं, किन्तु जो उनका अतिक्रमण करके चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा करता है वह केवल एक जादू का प्रभाव छोड़ कर समाप्त हो जाता है। इसी से सम्बन्धित तीसरी ग़लती पृथ्वीराज कपूर से यह हुई कि उन्होंने 'पृथ्वी थियेटर्स' को अव्यावसायी रङ्गमञ्च न मानकर व्यावसायी रङ्गमञ्च बनाना चाहा। पृथ्वीराज के इस कार्य में किसी प्रकार की

असङ्गति नहीं थी, किन्तु एक विरोधाभास सहज ही उत्पन्न हो गया और हिन्दी रङ्गमञ्च के लिये मिशन की भावना सहसा नष्ट हो गई। परम्परा का आधार तो पहले ही संलुप्त था और जब मिशन की भावना भी नष्ट हो गई, तो वह संस्था भी हिन्दी रङ्गमञ्च के उत्थान में सफलता नहीं प्राप्त कर सकी।

किन्तु इन बड़े प्रयासों के अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटे प्रयास भी हिन्दी रङ्गमञ्च के उत्थान और विकास के लिये किये गये जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में सब से पहला नाम जो मेरे सामने आता है वह अमृतलाल नागर का है। अमृतलाल नागर ही वह पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी रङ्गमञ्च के निमित्त आगरा और लखनऊ दोनों जगहों पर यथाशक्ति प्रयास किया। यह बात और है कि कुछ दिनों तक विशेष राजनीति में पड़कर उन्होंने अपना योग 'इप्टा' को दिया था, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दी रङ्गमञ्च की स्थापना और उसका विकास था।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने बालकृष्ण राव की अध्यक्षता में 'नीटा' नाम से एक संस्था प्रयाग में भी स्थापित की थी, लेकिन अपने ही नाटकों को अभिनीत कराने की कुचेष्टा ने थोड़े ही दिनों में उक्त संस्था की समस्त गतिशीलता नष्ट कर दी। 'अश्क' ने भी वही ग़लती की जो पृथ्वीराज कपूर ने की। इसीलिये संस्था बन जाने के बावजूद भी वह उसे आन्दोलन का रूप देने में असमर्थ रहे।

आज अर्ध व्यावसायी और अव्यावसायी स्तर की नाट्य संस्थाएँ प्रायः सभी प्रमुख नगरों में हैं। लखनऊ में तो केवल एक ही संस्था है, किन्तु वाराणसी और प्रयाग में अव्यावसायी स्तर की कई संस्थाएँ हैं। 'श्री नाट्यम्' और 'नटराज' ने वाराणसी में हिन्दी रङ्गमञ्च के आन्दोलन को काफ़ी आगे बढ़ाया है। प्रयाग में 'प्रयाग रङ्गमञ्च' 'सेतुमञ्च', 'इलाहाबाद ड्रेमेटिक क्लब' और 'थ्री आर्टस् सेण्टर' जैसी संस्थाएँ संख्या में अधिक है। एक प्रकार से प्रयाग में अव्यावसायी रङ्गमञ्च का आन्दोलन शायद सबसे ज्यादा सार्थक और सफल रूप में चल रहा है। कुछ समय पहले एक संस्था 'नाट्य केन्द्र' ने तो अभिनय के लिये शिक्षण-संस्थान भी खोला था जो संस्थापक की कुचेष्टाओं के ही कारण बन्द हो गया। हिन्दी के साहित्यिक नाटकों को प्रस्तुत करने में और हिन्दी के रङ्गमञ्च को एक शिष्ट और अभिजात्य रूप देने में 'प्रयाग रङ्गमञ्च' और 'सेतु मञ्च' प्रयत्नशील है। अन्य संस्थाओं के लिये केवल अभिनय ही उद्देश्य दीख पड़ता है। वे शायद आन्दोलन के रूप में हिन्दी रङ्गमञ्च की समस्या को देख सकने में अभी तक असमर्थ रही हैं।

इसी सन्दर्भ में अर्ध व्यावसायी संस्था के रूप में दिल्ली के 'थ्री आर्टस् क्लब' का नाम उल्लेखनीय है। 'सङ्गीत नाटक अकादमी' के अन्तर्गत भी प्रशिक्षण के लिये एक मञ्च है, किन्तु उसका उल्लेख आन्दोलन के रूप में इसलिये नहीं किया जा सकता, क्योंकि एक तो वह सरकारी संस्था है, दूसरे उसका उद्देश्य अव्यावसायी होते हुए भी शिक्षण संस्थान से सम्बद्ध होने के नाते सीमित है। कलकत्ता में 'अनामिका' नाम की एक संस्था अवश्य है जिसने आन्दोलन और कला-सृजन के स्तर पर काफ़ी काम किया है। पटना में भी इसी प्रकार की दो एक संस्थाएँ है, किन्तु अभी तक उपलब्धि के रूप में हमें कुछ देखने को नहीं मिला है।

समस्याएँ

स्वातन्त्र्योत्तर काल के साहित्यिक वातावरण के साथ हिन्दी रङ्गमञ्च की समस्याएँ भी उतनी सरल नहीं रह गईं। राजनैतिक सङ्घर्ष के समाप्त होने के बाद ही समस्या यह नहीं रह गई कि हम केवल स्वतन्त्र नागरिक के रूप में ही प्रतिष्ठित हों, वरन् समस्या यह थी कि साहित्य, कला, नाटक आदि समस्त दिशाओं से हम अपनी सांस्कृतिक चेतना के साथ राजनैतिक चेतना का सम्बन्ध स्थापित करके एक सम्पूर्ण स्वतन्त्र नागरिक का परिचय दें। यह आकांक्षा अपने में जितनी सरल थी, अपनी मूल प्रकृति में उतनी ही जटिल भी। आकांक्षा अपने में बुरी नहीं थी, लेकिन माध्यमों के ग़लत हो जाने से परिणामों में भी गलतियाँ उतनी ही तीव्रता के साथ व्यञ्जित हुईं।

हिन्दी रङ्गमञ्च की समस्याएँ प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ अधिक गम्भीर रूप में प्रस्तुत हुईं। पहली बात तो यह हुई कि वे अव्यावसायी संस्थाएँ जो अब तक आत्म-निर्भर थीं, सहसा शासन की ओर उन्मुख हो गई। सरकारी संस्थाओं ने विभिन्न प्रकार के अनुदान देकर अव्यावसायी संस्थाओं की स्वतन्त्रता को शासन की ओर उन्मुख करना चाहा। कहीं-कहीं प्रादेशिक सरकारों ने तो इन स्वतन्त्र अव्यावसायी रङ्गमञ्च को पञ्चवर्षीय योजना, लघु-बचत योजना के प्रचारार्थ अनुदान दिये। अब भी शायद उत्तरप्रदेश सरकार की योजनाओं में अनुदान देने की यह शर्त है कि वह वर्ष में दो प्रचारार्थ कार्यक्रम ऐसी अनुदान लेने वाली संस्थाओं से लेगी। यही नहीं, प्रादेशिक और केन्द्रीय स्तर पर सरकार ने गीत-नाटच-अधिकारी तथा एक-एक नाटच इकाइयों की भी स्थापना की तथा नाटक और रङ्गमञ्च को प्रोत्साहित करने की घोषणा करके वर्ष में दो-एक बार नाटक समारोह की भी योजना की। इस योजना में भी जो स्पष्ट नीति बरती गई, वह यह कि प्रचारार्थ नाटकों को विशेष सुविधाएँ दी जायेंगी। यही दशा केन्द्र की भी है। वहाँ भी इसी प्रकार के नाटच समारोह मनाये जाने लगे। सरकार ने एक नए प्रकार का रङ्गमञ्च तो प्रस्तुत ही किया, साथ ही उसने अभिरुचि की प्रयोगशील प्रवृत्ति को भी प्रश्रय देना चाहा। इस प्रकार नाटक को प्रोत्साहन मिला भी, तो वह केवल सरकार द्वारा सञ्चालित योजनाओं का पिष्टपेषण मात्र तक ही सीमित रह गया।

स्वतन्त्रता के बाद एक और समस्या उठ खड़ी हुई। अभी तक अव्यावसायी रङ्गमञ्च पर जिस प्रकार के नाटक अभिनीत किये जाते थे, उनका उद्देश्य केवल नाटक का अभिनय और रङ्गमञ्च का विकास हुआ करता था। 'सङ्गीत नाटक अकादमी' और प्रान्तीय सरकार द्वारा नियोजित नाट्य संस्थाओं की स्थापना से रङ्गमञ्च आन्दोलन तो ढीला पड़ गया और जो प्रवृत्ति विशेषकर इस काल में विकसित हुई, वह यह थी कि प्रामाणिकता के लिये वह चाहे-अनचाहे सरकार, सरकारी संस्थाओं और अकादमियों की ओर देखने लगीं। इन अकादमियों विशेषकर 'सङ्गीत नाटक अकादमी' में जो लोग प्रतिनिधि होकर गये थे, वे प्रायः 'इप्टा' के विचारों के समर्थक थे। परिणाम यह हुआ कि 'इनटा' या स्वतन्त्र रूप से रङ्गमञ्च के विकास के लिये जो संस्थाएँ काम कर रही थीं, उनको तो कोई महत्त्व मिला नहीं और उसके साथ-साथ एक व्यंग्य भी सुनने को मिला कि अहिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में तो व्यवस्थित रङ्गमञ्च एवं व्यवस्थित नाट्य संस्थाएँ भी हैं, किन्तु हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र में न तो रङ्गमञ्च है और न व्यवस्थित नाट्य संस्थाएँ ही हैं। पिछले वर्ष और इस वर्ष की बात मैं नहीं जानता, किन्तु इससे पहले तो इस बात

का ज़बानी आन्दोलन चलाया गया था कि न तो हिन्दी का कोई रङ्गमञ्च है और न हिन्दी में कोई ऐसी नाट्य संस्था है जो किसी भी प्रकार का संरक्षण पाने की अधिकारिणी हो।

यह तो हुई सरकारी बातें। यद्यपि सरकार की निन्दा करना मेरा उद्देश्य नहीं है, किन्तु यह सत्य है कि सरकार ने हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र में रङ्गमञ्च-आन्दोलन के विकास में जो कार्य करना चाहिये था, वह नहीं किया। 'सङ्गीत नाटक अकादमी' को यह आधार केवल हवा में नहीं बनाना चाहिये था। उसे कुछ छानबीन करना चाहिये था और उन कारणों को ढूँढ़ निकालना चाहिये था जो हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र में अगिणित संस्थाओं के बावजूद एक व्यवस्थित हिन्दी रङ्गमञ्च के निर्माण में बाधक है। वस्तुतः आज सबसे बड़ी समस्या जो हिन्दी रङ्गमञ्च के सामने है, वह यह नहीं कि अभिनय, लेखन, या प्रस्तुतीकरण की दिशा में किसी भी प्रकार से कम प्रतिभा वाले लोग हैं, वरन् मुख्य समस्या यह है कि इतनी संस्थाओं और इतने प्रकार के रङ्गमञ्चों के हिन्दी में होने के बावजूद भी हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों में रङ्गशाला और रङ्गभवन है ही नहीं। वाराणसी में तो आज भी नाटक करने के लिये जो पण्डाल बनाये जाते हैं उनमें हजारों का व्यय हो जाता है और नाटक का अभिनय केवल दो दिन हो पाता है। प्रयाग में भी यही स्थिति है। प्रत्येक प्रदर्शन के लिये किसी न किसी सिनेमा हाल को केवल दो घण्टे के लिये किराये पर लिया जाता है। सेट लगाने की कोई सुविधा नहीं, प्रकाश की कोई सुविधा नहीं, मञ्च केवल १२ फीट गहरा और उसके पीछे विज्ञड़ित सिनेमास्कोप की दीवार। सारांश यह कि नाटक का पूरा आयोजन एक मञ्च पर टेन्शन में होता है और एक बार एक नाटक को कर चुकने के बाद उसे दुबारा करने का न तो साहस ही रहता है, और न सुविधा। सिनेमाघरों के मालिकों को नाटक में कोई दिलचस्पी होती ही नहीं। उनका व्यवसाय सिनेमा है और उद्देश्य बम्बई की बाक्स हिट वाले चित्रों को मँगा कर अधिक से अधिक धन अर्जित करना। ऐसे सहानुभूतिहीन वातावरण में हमें हिन्दी रङ्गमञ्च का आन्दोलन चलाना पड़ रहा है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि नाटक के अन्तिम दृश्य के समय सिनेमा का मैनेजर नाटक घर के पार्श्व भाग में घड़ी लेकर सेकेण्ड-सेकेण्ड गिनता रहता है, हाल के बाहर सिनेमा दर्शकों की भीड़ रहती है और मञ्च पर निर्देशक, प्राम्पटर, और ऐक्टर सब के सब किसी प्रकार कथोपकथन को मुँह से निकाल कर जल्दी से जल्दी वापस आ जाना चाहते हैं। स्वयं मेरा अनुभव है कि 'चन्द्रगुप्त' और 'अन्धा युग' के प्रदर्शन के समय अन्त में मजबूरन दृश्य को काट देना पड़ा, ताकि सिनेमा-मैनेजर की तेवरियों से हम बच जायँ।

हिन्दी का जो रङ्गमञ्च इतनी असुविधाओं के बावजूद विकसित होकर अपना प्रदर्शन दे रहा है, उसे जब परम्पराहीन या हिन्दी को रङ्गमञ्चहीन बताया जाता है तो थोड़ा दुःख होता है। यह दुःख इसलिये अधिक होता है कि आज हिन्दी रङ्गमञ्च के उत्थान के लिये जो भी लोग काम कर रहे हैं, उनको किसी भी प्रकार की सुविधा प्राप्त नहीं है। उत्तर प्रदेश में, कहने के लिये पाँच नगर महापालिकाएँ हैं, किन्तु इन पाँच नगर महापालिकाओं में से एक के पास भी कोई ऐसा हाल नहीं है जिसमें किसी भी प्रकार का छोटा-मोटा सांस्कृतिक कार्यक्रम किया जा सके। इन नगर महापालिकाओं का ध्यान भी इस ओर नहीं है, क्योंकि आज भी अधिकांश लोग नाटक और रङ्गमञ्च को वाजिद अली शाह की ऐयाशी समझते हैं। हमारा जो प्रेक्षक समूह है वही हमें

दान देता है। अधिकांश लोग तो यह भी कह देते हैं कि भाई मेरा मनोरञ्जन तो सिनेमा से अधिक होता है, हम तुम्हारा नाटक देख कर क्या करें।

इसी से सम्बद्ध एक तीसरी स्थिति है, जिसमें हमें लाभहीन और केवल रङ्गमञ्च के उत्थान के लिये काम करते हुए भी 'मनोरञ्जन कर' के लिये जिलाधीश से लेकर मनोरञ्जन-कर निरीक्षक तक दौड़ना पड़ता है। कोई भी नाटक शुरू करने के पहले दो सौ रुपये हाल के लिये और कम से कम सवा सौ रुपये 'मनोरञ्जन कर' के लिये हमें पहले जमा कर देना पड़ता है। तब उसके बाद हमें नाटक की व्यवस्था में व्यय करना पड़ता है। अनुदार शासन, अन्धी नगर-महापालिकाएँ, व्यवसायी सिनेमाघर के मैनेजर, दफ्तर में काम करने वाले भूखे-प्यासे कलाकारों का रिहर्सल, नारी-पात्रों के लिये महीनों की दौड़ और सिनेमा और मनोरञ्जन के बीच जिस व्यंग्यपूर्ण स्थिति में आज का हिन्दी रङ्गमञ्च-आन्दोलन चल रहा है, वह किसी भी कठिन से कठिन अग्नि-परीक्षा से कम नहीं है। किसी भी नाटक के प्रस्तुतकर्ता के सामने नाटक और अभिनय-कला को विकसित करने के बजाय उपर्युक्त सिरदर्दों की इतनी भीड़ लग जाती है कि वह पुनः नाटक करने का साहस ही नहीं करता।

यदि हम रङ्गमञ्च सम्बन्धी संयोजन-सङ्गठन की समस्याओं का विवेचन करें तो हमें कुल मिला कर पाँच प्रकार की समस्याएँ परेशान करती हैं जो इस प्रकार हैं:––

(१) **सरकार द्वारा उपेक्षा**––सरकारी उपेक्षा का अव्यावसायी रङ्गमञ्च पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा है। आज सरकारी मान्यता का अर्थ होता है आर्थिक चिन्ताओं से मुक्ति। यह आशाजनक स्थिति जब सरकारी प्रश्रय के रूप में बदल जाती है तो सरकारी आधार पर अव्यावसायी रङ्गमञ्च के संयोजन और सङ्गठन में अन्तर तो आ ही जाता है, साथ ही उसका नैतिक परिणाम भी बुरा होता है। ऐसा होने का एकमात्र कारण यह है कि सरकारी अनुदान आदि की पद्धति ही दूषित है। नाट्य-संस्थानों द्वारा यदि यह कार्यक्रम कार्यान्वित होता तो इतनी विडम्बनाएँ न होतीं।

(२) **प्रेक्षागृह का अभाव**––प्रेक्षागृह का अभाव एक दूसरा कारण है जिससे हिन्दी-रङ्गमञ्च की सम्भावनाएँ स्पष्ट नहीं हो पातीं। सरकार ने जो प्रेक्षागृह बनवाये भी हैं, उसमें यह ध्यान नहीं रक्खा है कि रङ्गमञ्च के आन्दोलन की दृष्टि से कौन सी जगह अधिक उपयुक्त होगी। रवीन्द्र भवनों का निर्माण भी प्रदेश की राजधानी के अनुसार किया गया है। परिणाम यह हुआ है कि जहाँ नाटक का आन्दोलन नहीं है, वहाँ प्रेक्षागृह है और जहाँ आन्दोलन है वहाँ कुछ भी नहीं।

(३) **अव्यावसायी रङ्गमञ्च**––आज भी हमारी जनता में यह भावना वर्तमान है कि नाटक एक व्यसन है। वह यह नहीं समझ पाती कि रङ्गमञ्च का आन्दोलन भी हमारे व्यक्तित्व के लिए उतना ही आवश्यक है जितना कि योजना या किसी अन्य प्रकार की वस्तुएँ। अभी तक हमारे यहाँ सुरुचिपूर्ण प्रेक्षक सदस्यों का पूरी तरह से अभाव है।

(४) **तकनीकी साधनों का अभाव**––हिन्दी रङ्गमञ्च को शिथिल बनाये रखने में तकनीकी साधनों का अभाव भी विशेष बाधक रहा है। आज की सम्पूर्ण तकनीकी सुविधाएँ प्रत्येक अव्यावसायी रङ्गमञ्च के सामने सुलभ नहीं हैं। रङ्गमञ्च का पूरा प्रभाव उस समय

पड़ता है, जब वह प्रकाश, ध्वनि और अन्य प्रकार के वैज्ञानिक सुविधाओं को भी प्रयोग में लाये। आज स्थिति यह है कि प्रायः सभी अव्यावसायी रङ्गमञ्च समस्त सम्भावनाओं से वञ्चित है।

(५) **आलेख सम्बन्धी कठिनाइयाँ**--आलेख सम्बन्धी कठिनाइयों के विषय में बहुधा बहुत सी बातें कही जाती हैं जो पूर्णतया तो नहीं, किन्तु आंशिक रूप में ठीक कही जा सकती हैं। आज हिन्दी रङ्गमञ्च के पास आलेखों का अभाव दो रूपों में है; पहला तो इस रूप में कि जो आलेख हैं वह प्रायः प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से कठिन है, कठिन इसलिये कि आज किसी भी अव्यावसायी संस्था के पास उतने साधन नहीं हैं जितने कि उन आलेखों की प्रस्तुति के लिये आवश्यक हैं। नये आलेखों का अभाव इसलिये है, क्योंकि नाटक लिखना, आर्थिक दृष्टि से सब से कम आर्थिक उपलब्धि का साधन है।

उपर्युक्त विवेचन से स्वतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी रङ्गमञ्च इन समस्त असुविधाओं और असङ्गतियों के बीच जी रहा है। न तो उसे आज तक कोई सबल आश्रय मिला है और न नितान्त युगप्रवर्तक या क्रान्तिकारी आलेख। प्रेक्षा-गृह के अभाव में नाट्य संयोजन कैसे हो सकता है और जब उसका संयोजन ही लचर होगा तो फिर उसके प्रस्तुतीकरण और अभिनय आदि से यह आशा करना कि वह अद्वितीय स्तर का होगा, ग़लत ही नहीं अन्यायपूर्ण भी होगा। आज हिन्दी रङ्गमञ्च अपनी इच्छा-शक्ति से जीवित है। उसके पास न तो धन है, न व्यवस्था और न तो उसके पास यही सुविधा है कि वह अपने किसी भी नाटक को लगातार दो-तीन बार प्रस्तुत करके हिन्दी रङ्गमञ्च को प्रतिष्ठित कर सके।

आज हमारे सामने समस्या यह है कि हिन्दी रङ्गमञ्च को जिसे सस्ते और बाजारू चित्र-पटों से होड़ लेना पड़ता है, कैसे महत्त्वपूर्ण रूप में प्रतिष्ठित किया जाय। आज हिन्दी रङ्गमञ्च को इस दृष्टि से सबसे पहली कठिन परीक्षा उस प्रेक्षक-सदस्य के सामने देनी पड़ती है जिसे वह अपना प्रदर्शन देखने के लिये आमन्त्रित करता है। वह प्रेक्षक सदस्य अभी तक सिनेमा के चमत्कार से आक्रान्त है। वह इस सिद्धि में या अभिनय-कौशल में उतनी रुचि नहीं रखता, जितनी कि मनोरञ्जन में। सबसे बड़ी समस्या हिन्दी रङ्गमञ्च के सामने ऐसे प्रेक्षक सदस्य को जागरूक बनाने की है। नाट्य-कला और सिनेमा दोनों कितने भिन्न हैं, इससे उसे परिचित कराना और उसकी रुचि को मोड़ कर नाटक की ओर ले आना कठिन ही नहीं, बल्कि कठिन परीक्षा है। उसकी नाट्य सम्बन्धी अभिरुचि को कैसे जल्दी से जल्दी जागरूक बनाया जाय, यही आज सबसे बड़ी समस्या है।

कुछ ग़ैर जिम्मेदार नाट्य संस्थाएँ केवल सस्ते प्रेक्षक को प्रसन्न करने के लिये उसी प्रकार के सस्ते नाटक भी चुन लेती हैं। मैं समझता हूँ हिन्दी रङ्गमञ्च को इस प्रकार की ग़लतियों से बचाना चाहिये। उसे यह कदापि नहीं सोचना चाहिये कि यह प्रेक्षक-सदस्य जो सिनेमा देखते-देखते उसका आदी हो गया है, बदलेगा ही नहीं। आज की स्थिति में हमें हिन्दी रङ्गमञ्च को उस सस्ते नुस्खे से बचाना है जो उतावलेपन में प्रेक्षक-सदस्य की अभिरुचि को बदलने के बजाय स्वयं अपने को बदल देने के लिये तत्पर है।

हिन्दी रङ्गमञ्च के सामने तीसरी समस्या है शुद्ध रङ्गमञ्च के आन्दोलन को

राजनैतिक हथकण्डों से बचाना। गत बीस वर्षों के अनुभव से हमें यह जान लेना चाहिये कि रङ्गमञ्च और नाटक को विशुद्ध कला-प्रधान होना चाहिये। रङ्गमञ्च अन्य कला माध्यमों की भाँति सीमित परिवेश में सीमित लक्ष्यों का माध्यम नहीं है। वह मानव जीवन के व्यापक परिवेश में मानव-जीवन की गहरी और जटिल स्थितियों का प्रतिनिधित्व करता है और इसलिये उसे मानव-जीवन के व्यापक भाव-स्तरों का अन्वेषण और प्रतिष्ठापन करना चाहिये। जो लोग हिन्दी रङ्गमञ्च के आन्दोलन में हों, उन्हें यह मालूम होना चाहिये कि रङ्गमञ्च की सार्थकता तभी है जब वह अपने माध्यम की प्रकृति और उसके दायित्व को मानकर चले और मनुष्य की गहनतम गुत्थियों को परिष्कृत करके प्रस्तुत करे।

हिन्दी रङ्गमञ्च को इस बात से भी नहीं डरना चाहिये कि वह परम्पराहीन है। कला के क्षेत्र में कभी-कभी परम्पराहीन होना भी लाभदायक होता है। यदि हिन्दी रङ्गमञ्च की कोई अपनी परम्परा नहीं है तो इससे लाभ उठाया जा सकता है और योजनाबद्ध तरीके से स्वतन्त्र प्रयोग किये जा सकते हैं। लेकिन वे लोग जो परम्परा से चिपकने के लिये आज के युग में संस्कृत नाट्यशास्त्र या पारसी थियेटर कम्पनियों या रामलीला मण्डलियों से अपना नाता जोड़ कर उनका फूहड़ अनुकरण करना चाहते हैं, वह न तो परम्परा का निर्वाह करते हैं और न अपनी सम्भावनाओं के प्रति ही उदार हो पाते हैं।

यहीं एक सबसे बड़ी समस्या यह उठ खड़ी होती है कि फिर हिन्दी रङ्गमञ्च को प्रतिष्ठित कैसे किया जाय? उसको प्रमाणिकता कैसे मिले? यह प्रश्न जितना सरल है, उतना ही भ्रामक भी। मैं समझता हूँ कि प्रामाणिकता के लिये यह सब करने के बदले यदि वह अभिनय, मञ्च-संयोजन और प्रस्तुतीकरण में अद्वितीय भाव-स्थितियों का प्रदर्शन करे और मानव-जीवन में निहित संवेदनाओं का प्रदर्शन सटीक और भावानुकूलता को ध्यान में रख कर करे तो वह स्वयं अपने में इतना मूल्यवान होगा कि किसी भी परम्परा से न जुड़ सकने के बावजूद भी वह अपने को प्रतिष्ठित कर सकता है।

आज के सन्दर्भ में हिन्दी रङ्गमञ्च के सामने एक दूसरे प्रकार का भी भय है। कुछ लोग प्रायः यह कह कर कि हिन्दी में अभिनय योग्य नाटक ही नहीं है, वे अंग्रेजी या अन्य नाटकों का रूपान्तरण प्रस्तुत करने लगते हैं। मेरा अपना मत है कि इस प्रकार का पैबन्द लगाने से भी हिन्दी नाटक और हिन्दी रङ्गमञ्च पुनर्जीवित नहीं हो पायेगा। उसके लिये आवश्यक है कि वह हिन्दी के नाटक के माध्यम से ही आगे बढ़े।

एक और समस्या भी आजकल हिन्दी रङ्गमञ्च के विभिन्न समर्थकों द्वारा प्रस्तुत की जाती है। अति भावुक निर्देशक या लेखक आज हिन्दी रङ्गमञ्च को अभिनय और भावाभिव्यञ्जना का माध्यम न मानकर उसे तिलस्मबाजी का माध्यम बनाना चाहते हैं। वे नितान्त अनभिज्ञता के आधार पर नाटक के साथ छाया नाटिका या 'फ्लैश बैक' के माध्यम से चमत्कार पैदा करके रङ्गमञ्च को उसकी सीमाओं में न रख कर उसे बहुधन्धी बना देने की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी यह सस्ती रूमानी और ओछी मनोवृत्तियाँ रङ्गमञ्च को केवल एक सतही स्तर पर प्रयोग करके छोड़ देती हैं। रङ्गमञ्च मात्र चमत्कार या चकाचौंध या रङ्गीन सेट और कीमती सजावट की वस्तु नहीं है। रङ्गमञ्च अभिनय-कला और प्रस्तुति की विधाओं की मर्यादा का

प्रतीक है। रङ्गमञ्च उस भ्रम को सत्य के रूप में चित्रित करता है जो हमारे जीवन में, हमारे मानस में जटिलताओं को उत्पन्न करता है और फिर उस जटिलता में मानव-सम्भावनाओं और उसकी नियति की वास्तविकता को प्रदर्शित करता है। 'लेडी मैकबेथ' में रङ्गमञ्च उस वृक्ष की ही अभिव्यक्ति नहीं है जिसके नीचे लेडी मैकबेथ सोने के लिए आती और टहलती है। न तो वह अपने सत्य के लिए किसी वैभवपूर्ण प्रसाद की ही अपेक्षा करता है। वह इससे अतिरिक्त मैकवेथ और लेडी मैकबेथ के मानस के अन्तरालों के पर्त दर पर्त प्रस्तुत करने का माध्यम है।

आज रङ्गमञ्च के सामने मूल समस्या यह है कि क्या वह दृश्य प्रस्तुत करने का माध्यम है या मानव-जीवन की उस जटिलता को व्यक्त करता है जो जीवन के वाह्य और आन्तरिक सङ्घर्षों से उपजता है। रङ्गमञ्च का वास्तविक दायित्व यही अन्तिम खोज है। हिन्दी रङ्गमञ्च को आज अपने मार्ग को स्पष्ट कर लेना होगा। उसे यह निर्णय लेना ही होगा कि वह बङ्गाल के रङ्गमञ्च के समान चमत्कार और चकाचौंध से प्रभावित होगा या मानव-जीवन के उन अनुभूतिपूर्ण क्षणों को पकड़ेगा जो हमारे सूक्ष्म संवेदनशील मन में सर्वदा घटित होते रहते हैं। मैं समझता हूँ कि यह बहुत बड़ी समस्या है।

सम्भावनाएँ

जैसा कि पहले कह चुका हूँ, मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो परम्परा न होने के कारण विधवा-विलाप करते हैं या परम्परा की खोज में ही अपना जीवन बिता कर, आगे बढ़ने के बजाय इतिहास के भग्नावशेषों में भटकते रहते हैं। मैं कर्म को प्रधान मानता हूँ और एक नाटक का नट या सूत्रधार या प्रस्तुतकर्ता या निर्देशक या कलाकार जो भी हो, जब तक वह प्रतिभा के साथ रङ्गमञ्च की दूसरी शर्त कर्मठता को नहीं स्वीकारता, तब तक वह कोई बड़ी उपलब्धि नहीं दे सकता। आज हिन्दी रङ्गमञ्च की समस्त सम्भावनाएँ केवल एक बात पर निर्भर हैं और वह यह कि उसे जो कुछ भी उपलब्ध है, उसके आधार पर वह कितना कर सकता है। यदि यह क्रियाशीलता उसके मन में है तो हिन्दी रङ्गमञ्च को वह अति आधुनिक और कला-सम्पन्न बना सकता है।

पिछले दो दशकों का इतिहास हमें यह बताता है कि हिन्दी रङ्गमञ्च अनेक कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद भी निरन्तर गतिशील है। आज जिस अव्यवस्थित रङ्गमञ्च पर प्रसाद का 'चन्द्रगुप्त', धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग', रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'गोरा' और डॉक्टर विपिन अग्रवाल का 'तीन अपाहिज' प्रस्तुत किया जा सकता है, वह कोई शक्तिहीन रङ्गमञ्च नहीं है। जिस 'अन्धायुग' को अभिनीत करने के लिए सरकारी संस्था 'नेशनल स्कूल आफ़ ड्रामा' दस हजार रुपया खर्च करके करती है, उसे एक साधारण हिन्दी रङ्गमञ्च भी प्रस्तुत करने का साहस रखता है। हिन्दी रङ्गमञ्च में जहाँ यह निर्भीकता है, वहीं उसमें दुस्साहस से बचने की भी प्रवृत्ति है और जिस भी संस्था में यह साहस और विवेक है। वह गतिशील होती है। आज हिन्दी रङ्गमञ्च में यह क्षमता है।

हिन्दी रङ्गमञ्च में अनेक सम्भावनाएँ इसलिये भी हैं कि अभी इसमें आडम्बरों के प्रति अनावश्यक मोह नहीं विकसित हुआ है। अव्यावसायी संस्थाएँ ही यह आन्दोलन चलाती हैं।

उनके पास आडम्बर रचने का न तो आर्थिक साधन है और न निश्चिन्तता। जहाँ आर्थिक अभावों के कारण उनकी कुशलता में कमी आती है, वहीं अपनी क्षमता को दूसरे रूपों में प्रस्तुत करने की भी उत्कण्ठा उनके पास है और यह उत्कण्ठा और जिज्ञासा ही उन्हें अतिरिक्त आडम्बरों से बचाती है। बङ्गाल का रङ्गमञ्च इतना सशक्त हो गया है कि उसमें यह आडम्बरप्रियता सहज ही आ गई है। साथ ही उसका परिणाम यह हुआ है कि आज बङ्गाल में शम्भू मित्र का रङ्गमञ्च प्रख्यात हो गया है, त्रिप्ति मित्र का अभिनय विख्यात हो गया है, किन्तु दूसरी ओर बङ्गाल में नाटककार की हत्या हो गई है। रङ्गमञ्च आज एक प्रकार का नियन्त्रण करता है और इतना अधिक नियन्त्रण करता है कि लेखक की स्वतन्त्रता ही उसके सामने नष्ट हो जाती है। रिवाल्विङ्ग स्टेज ने भी आलेख की कुशलता को नष्ट कर दिया है। चमत्कार ने अभिजात्य विशिष्टताओं की उपेक्षा की है। परिणाम यह हुआ है कि रङ्गमञ्च अपनी विकसित क्षमता के आगे लेखक पर हावी हो गया है। नाटक की हत्या करके वे रङ्गमञ्च दृढ़ हैं।

हिन्दी रङ्गमञ्च के सामने आज यह स्थिति नहीं है। हिन्दी रङ्गमञ्च आज लेखक और दर्शक के बीच केवल सेतु का काम कर रहा है। मैं समझता हूँ रङ्गमञ्च का आदर्श धर्म भी यही है। जिस दिन यह साधारण स्थिति किसी भी प्रकार की असाधारण उक्ति का शिकार हो जायगी, उस दिन लेखक की स्वतन्त्रता भी नष्ट हो जायगी। डॉ० विपिन अग्रवाल, कुँअर नारायण तथा अन्य प्रयोगशील लेखक आज हिन्दी रङ्गमञ्च में इसलिये हैं, क्योंकि रङ्गमञ्च ने अभी भी अपने विवेकपूर्ण अस्तित्व को सुरक्षित रक्खा है। इसीलिये मैं समझता हूँ कि हिन्दी रङ्गमञ्च में सम्भावनाएँ भी अनेक हैं। प्रौढ़ता जब किसी भी आन्दोलन से या कला-विधा से उसकी स्वभावगत लोच को समाप्त कर देती है, तब वह रूढ़ि रूप में मृत संवेदनाओं को जन्म देती है। स्थिरता, स्थूलता और दुराग्रह ही तब उसकी विधा का मूलस्रोत हो जाता है। हिन्दी रङ्गमञ्च आज तक अपनी इस लोच तथा गतिशीलता के प्रति जागरूक है। मैं समझता हूँ कि यही उसकी सम्भावनाओं का स्रोत है।

लेकिन एक बात की ओर हमारा ध्यान अवश्य जाना चाहिये और वह यह कि अव्यवसायी होने के नाते इस लोच और सम्भावना को स्वीकार करने के पीछे किसी भी प्रकार की अराजकता या अनुशासनहीनता नहीं होनी चाहिये। किसी भी विधा के लचीली होने की प्रकृति में इस अनुशासन का बहुत बड़ा महत्त्व है, किन्तु यह अनुशासन विधा विशेष की प्रकृति से ही निकलनी चाहिये, न कि परम्परा या किसी अन्य प्रकार के विकृत आग्रह से। अभी तक हिन्दी रङ्गमञ्च इन त्रुटियों से बचा है। यही कारण है कि रङ्गमञ्च के इस प्रारूप के कारण डॉ० विपिन अग्रवाल और कुँअर नारायण जैसे प्रयोगशील लेखकों के सामने किसी भी प्रकार की रुकावट या रूढ़िग्रस्त आग्रह नहीं है। वह रङ्गमञ्च को केवल सेतु मान कर कला के महत्त्वपूर्ण अङ्गों की रक्षा करते हैं। यहीं इस विवाद का भी खण्डन हो जाता है कि रङ्गमञ्च के बिना नाटक नहीं लिखा जा सकता। यद्यपि इस कथन में सत्यता है किन्तु इस पर विशेष बल देने से यह सत्यता ही भ्रम में बदल जाती है और लगता है रङ्गमञ्च ही नाटक की विधा को प्रशासित करेगा। प्रभावित तो सदैव कर सकता है किन्तु प्रशासित कहाँ तक कर सकेगा, यह प्रश्न विवादग्रस्त है।

जब हम यह बात मान लेते हैं कि मञ्च नाटक और दर्शक के बीच का सेतु है और

इसीलिए वह माध्यम है, तो फिर प्रश्न उठता है कि मञ्च की यह सीमा मान लेने के बाद उसकी सम्भावनाएँ क्या हैं और किस हद तक उन सम्भावनाओं को हम सार्थक कला-उपलब्धि के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। यदि इस समस्या को हम इन दो सीमाओं की सापेक्षता में देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि तथाकथित परम्पराहीन हिन्दी-रङ्गमञ्च प्रयोग का एक सफल माध्यम हो सकता है। आज हिन्दी में अधिकांश नाटक ऐसे हैं जिनके विषय में यह कहा जाता है कि वे मञ्च के अनुकूल नहीं है अर्थात् हिन्दी नाटककार को मञ्च की सुविधाओं और असुविधाओं का रञ्चमात्र भी ज्ञान नहीं है। बहुत से लोग तो प्रसाद को भी इसी कोटि में रखते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि हम कहें तो यही बात इस तरह से भी कही जा सकती है कि न तो हिन्दी-रङ्गमञ्च की कोई परम्परा है और न हिन्दी के नाटककार के पास कोई परम्परा है। ऐसी स्थिति में दोनों ही सम्भाव्य का अन्वेषण कर सकते हैं और मञ्च की घिसी-पिटी परम्परा से भिन्न नई परम्परा का निर्माण कर सकते हैं।

हिन्दी रङ्गमञ्च इस अर्थ में अन्य भाषाभाषी रङ्गमञ्च से भिन्न है कि उसका प्रेक्षक-सदस्य किसी विशिष्ट प्रकार के नाट्य-आन्दोलन से परिचित नहीं है। उसकी अभिरुचि भी इस अर्थ में पूर्व निर्धारित नहीं है। ऐसी दशा में हिन्दी-रङ्गमञ्च के सामने कोई पूर्वग्रह नहीं है। मैं समझता हूँ कि किसी भी कला-माध्यम के लिये जहाँ इससे कठिनाई उत्पन्न होती है, वहीं इस स्थिति से लाभ भी उठाया जा सकता है। हम ऐसे प्रेक्षकों को विकसित कर सकते हैं जो नये नाट्य-प्रयोजनों के साक्षी हों। आज रङ्गमञ्च-आन्दोलन को सर्वथा नये प्रेक्षक वर्ग की आवश्यकता है और वह हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र से ही विकसित हो सकता है।

अन्य भाषाभाषी प्रदेशों में आज नाटक की साहित्यिकता और उसके सफल मञ्च प्रस्तुतीकरण को लेकर काफ़ी द्वन्द्व चल रहा है। आज रङ्गमञ्च के अधिष्ठाता यह कहने लगे हैं कि नाटक का सम्बन्ध साहित्य से नहीं, रङ्गमञ्च से है। बङ्गाल में 'सेतु' और 'काञ्चनरङ्गा' जैसे आलेखों से यह स्पष्ट है कि उन प्रदेशों में रङ्गमञ्च द्वारा प्रेषित यह नारा काम कर गया है। आज हिन्दी रङ्गमञ्च के सामने यह समस्या नहीं है। आज भी साहित्यिक नाटक को हिन्दी में प्रधानता मिलती है। मैं व्यक्तिगत रूप से इससे हिन्दी नाटक और रङ्गमञ्च दोनों के लिये हितकर समझता हूँ। आज हम किसी भी प्रकार यह नहीं मान सकते कि कोई भी नाटक बग़ैर साहित्यिक स्तर का हुए सफल हो सकता है। वस्तुतः नाटक की कला द्विपक्षीय है। विचार और अनुभूति के स्तर पर वह साहित्य का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, अभिव्यक्ति और दृश्य होने के नाते वह रङ्गमञ्च का अङ्ग है। हिन्दी रङ्गमञ्च को इन दोनों दायित्वों का निर्वाह करना है।

संस्कृत-नाट्य-परम्परा में बहुत कुछ ऐसा है जो हमारे अमूर्त्तन मञ्च के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। काल और दिक् की सीमाओं पर संस्कृत नाटक कई दृष्टियों से समाधान प्रस्तुत करता है। मुझे लगता है कि हिन्दी रङ्गमञ्च ही वह समर्थ माध्यम है जिसमें संस्कृत नाट्य-परम्परा के सूक्ष्म साङ्केतिक तत्त्वों का उपयोग सम्भव है। हिन्दी रङ्गमञ्च यदि उस शिल्प को आज के काल-दिक् सम्बन्धी जटिलताओं और अनुभूति की संज्ञाओं से सम्बन्ध स्थापित करके उस विधा में व्याप्त अनेक साङ्केतिक तत्त्वों का प्रयोग कर ले, तो निश्चय ही वह एक कुशल प्रयोग होगा।

आज के अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि यान्त्रिक रङ्गमञ्च की अपेक्षा अत्यन्त सरल रङ्गमञ्च अधिक उपयोगी है और जितना ही अधिक हम उसे जटिल और तकनीकी रूप देते चलेंगे, उतना ही हिन्दी रङ्गमञ्च की अपनी सम्भावना नष्ट हो जायेगी। आज के युग में भावातिरेक और भावव्यञ्जना को प्रदर्शित करने के लिये सङ्गीत और प्रकाश का सन्तुलित और विवेकपूर्ण उपयोग तो निश्चय ही हमारे संवेदनशील अभिनय को उभार सकता है और रङ्गमञ्च जो कि एक भ्रम का सृजन करने के लिये ही बनाया जाता है, उसमें सहायक भी होता है। किन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि भावना या अनुभूति को उभारने के बजाय इनका प्रयोग प्रायः चमत्कार स्थापित करने के लिये किया जाता है। मैं समझता हूँ कि यन्त्र का विवेकपूर्ण प्रयोग ही हमें सार्थक अनुभूतियों के उभारने में सहायक हो सकता है। हिन्दी रङ्गमञ्च का दायित्व इस दिशा में भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

अभिनय मूलतः भावनाओं और अनुभूतियों का दृश्य रूप प्रस्तुत करने का माध्यम है। आज स्थिति यह है कि रङ्गमञ्च के अत्यधिक निर्वैयक्तिक होने के कारण उस पर विधा के प्रभाव से अधिक रूढ़ियों का प्रभाव हो गया है जिसका परिणाम यह होता है कि अभिनय तो कृत्रिम हो ही जाता है, साथ ही उसका प्रभाव भी अच्छा नहीं पड़ता। जहाँ परम्पराहीन होने के नाते हिन्दी-रङ्गमञ्च में कुछ न मिलने की शिकायत है, वहीं नितान्त नया आन्दोलन होने के नाते हिन्दी मञ्च अभिनय की इस पवित्र भूमिका को वहन करने में सार्थक और शक्तिशाली सिद्ध हो सकता है। मैं समझता हूँ, हिन्दी रङ्गमञ्च में आलेख और प्रदर्शन दोनों को एक सूत्र में प्रस्तुत करने की भी सम्भावना निहित है।

प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भी हिन्दी रङ्गमञ्च का दायित्व बढ़ जाता है। रिवाल्विङ्ग सेट और उसके माध्यम से जादू के से प्रभाव उत्पन्न करने से कहीं पृथक् हिन्दी रङ्गमञ्च की सम्भाव्य स्थिति है। आज मराठी का रङ्गमञ्च जिस सीमा तक पक्के गानों और घण्टों के सङ्गीत-कार्यक्रमों से लदा हुआ चल रहा है, वह इस बात का प्रमाण है कि मराठी रङ्गमञ्च में विद्रोही शक्ति अब नहीं रही है। हिन्दी रङ्गमञ्च अपने प्रयोगों में इन विभिन्न भाषाभाषी रङ्गमञ्चीय विधाओं से सबक़ सीख सकता है और प्रस्तुतीकरण को आलेख पर आधारित करके उसे नितान्त सजीव और सप्राण बना सकता है।

निर्देशन में भी हमें परम्परागत निर्देशक के व्यक्तित्व की अनुकृति की शैली से मुक्ति पाना है और कलाकार के स्वाभाविक व्यक्तित्व के आधार पर भावाभिनय के शिल्प को विकसित करना है। समझ में नहीं आता कि जो लोग रङ्गमञ्च को नितान्त प्राकृतिक गठन के अन्तर्गत स्वाभाविकता पर बल देते हैं, वह इस बात पर क्यों आग्रह करते हैं कि सिकन्दर या जहाँगीर का रूप वही आदर्शरूप है जो पृथ्वीराज और चन्द्रमोहन ने प्रस्तुत किया था। मेरा अपना मत है कि मञ्च को अत्यन्त प्राकृतिक और स्वाभाविक बनाने के बजाय हमें अपने निर्देशन में कलाकार की सम्भाव्यता पर अधिक बल देना चाहिये और उसकी स्वाभाविकता में जहाँ जहाँगीर या सिकन्दर है, उसे उस रूप में प्रस्तुत होने देना चाहिये। लेकिन यहाँ एक सावधानी अवश्य अपेक्षित है कि स्वाभाविकता सङ्गतियों के साथ है, असङ्गतियों के साथ नहीं। मेरे इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि एक कुबड़ा या शारीरिक रूप से पङ्गु व्यक्ति भी जहाँगीर या सिकन्दर का अभिनय अपनी

स्वाभाविकता के अनुसार करने का अधिकारी है। मेरा आशय है कि कम से कम आवश्यकताओं की पूर्ति होने के बाद उसके मैनेरिज़्म को उस अभिनेता के व्यक्तित्व के आधार पर ही विकसित होने देना चाहिये।

प्रस्तुत आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आज जिस स्थिति में हिन्दी रङ्गमञ्च है, उसमें अनेक सम्भावनाएँ हैं और इन सम्भावनाओं को विकसित करने के लिये हमें ऐसे प्रस्तुतकर्ता और निर्देशक चाहिये जो समस्त ऐतिहासिक स्थितियों का लाभ उठा कर हिन्दी रङ्गमञ्च की रचनाविधि और उसके निर्माण एवं उसकी उपलब्धि को एक सार्थक आदर्श तक पहुँचा सकें। मैं समझता हूँ कि इन बिखरे हुए सूत्रों को न तो 'सङ्गीत नाटक अकादमी' सुलझा सकती है और न आफ़िसरी लाल फ़ीतों की दौड़धूप। उसे विकसित कर सकते हैं हम और आप, अपने-अपने आत्म-विश्वास और आत्मोत्सर्ग की भावना से। इसके लिये हमें थोड़ा-थोड़ा अपना रक्त देने के लिए तैयार रहना होगा और उस बौद्धिक वर्ग को, जो केवल विचारों की दुनिया में रहता है और कला के इन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों पर ध्यान नहीं देता, अधिक जागरूक होकर उन लोगों का अभिभावक बनना पड़ेगा जो इस काम में लगे हैं।

अन्त में, मैं एक और बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ और वह यह कि जहाँ कहीं भी छुट-फुट रूप में रङ्गमञ्च सम्बन्धी कार्य हो रहे हों, उन्हें जल्द से जल्द एक सङ्घ के रूप में अपने को सङ्गठित कर लेना चाहिये। मुझे ऐसा लगता है कि आज की जटिल जीवन-पद्धति की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन कर नाटक की विधा आ रही है। मराठी में तेन्दूलकर के नाटक, हिन्दी में विपिन अग्रवाल और कुँअर नारायण के नाटक इस बात के द्योतक हैं कि आज नाटक से भावुकता और मेलोड्रामा का युग समाप्त हो रहा है और यथार्थ के जटिल परिवेशों के साथ सर्वथा नये उपमानों और प्रतीकों के माध्यम से आन्तरिक और वाह्य दोनों के सङ्घर्षों को व्यक्त करने के लिये एक उफ़ान सा उठ रहा है। कविता एक सीमा तक यह जटिलता वहन करके शिथिल हो गई है। कथा-उपन्यास में तीव्रता नहीं आ पाती और संवेदनाओं की पर्तों की टकराहट से व्यंग्य नहीं उभर पाता। शायद इसीलिये आज का सृजनशील कृतिकार नाटक की विधा की ओर बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। मैं समझता हूँ कि यह हिन्दी रङ्गमञ्च के लिये बड़ा स्वास्थ्यप्रद है। हमें उन नाटकों को हिन्दी रङ्गमञ्च से जोड़ कर उसकी सार्थकता को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने में योग देना चहिये।

इतिहास की तात्त्विक व्याख्या और उसका दार्शनिक आधार

• गोविन्दजी

प्राचीन काल में दार्शनिक स्तर पर इतिहास का चिन्तन अनेक विचारशील देशों में हुआ है, किन्तु आधुनिक युग में यूरोप इस प्रकार के चिन्तन का प्रमुख केन्द्र माना जाता है। इतिहास की व्याख्या का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रयत्न भी यूरोप में ही हुआ। 'इतिहास-दर्शन' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वालतेयर ने १८ वीं शताब्दी में किया। इस शब्द से उसका अभिप्राय केवल आलोचनात्मक अथवा वैज्ञानिक इतिहास से था। उस शताब्दी के अन्त में हिगेल तथा अन्य लेखकों ने भी इस शब्द का प्रयोग 'विश्व-इतिहास' के अर्थ में किया। १९ वीं शताब्दी में परीक्षणात्मक यथार्थवाद के प्रचलन के फलस्वरूप इतिहास को परीक्षणात्मक विज्ञानों की सूची में सम्मिलित कर लिया गया। इस दृष्टिकोण से 'इतिहास दर्शन' ऐतिहासिक घटनाचक्र में प्रच्छन्न सामान्य नियमों का अनुसन्धान समझा जाने लगा। २० वीं शताब्दी के कुछ चिन्तकों ने इस परीक्षणात्मक दृष्टिकोण का विरोध किया और प्राकृतिक विज्ञानों की चिन्तन-पद्धति की तुलना में इतिहास के अध्ययन को भ्रान्तिमूलक समझा।

इतिहास-दर्शन के सम्बन्ध में हम कोई भी दृष्टिकोण ग्रहण करें, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि मानवता के अतीत के अनुसन्धान के अपरिमित विस्तार को किसी नियमित आधार पर प्रतिष्ठित करके, मानव-कार्य-कलाप के विशाल क्षितिज को एक समन्वयात्मक दृष्टि से देखना आवश्यक है। इस विचाराधारा के अनुसार ऐतिहासिक अध्ययन की दिशा वैयक्तिक तथ्यों एवं घटनाओं के स्थान पर सार्वजनिक प्रवृत्तियों की ओर बदल जाती हैं और घटनाएँ आन्दोलनों-शृङ्खलाओं की कड़ियों का महत्त्व ग्रहण कर लेती हैं। वस्तुतः मानव के क्रिया-कलाप में अगणित जटिल सामाजिक सम्बन्ध-भावनाएँ सन्निहित रहती हैं। अतः उन पर आधारित ऐतिहासिक घटनाएँ सूक्ष्म तथा अपरिमित सम्बन्ध-परम्पराओं से परिविद्ध होती हैं। जैसे-जैसे उनके विषय में हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है और उनका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे उनके सम्बन्ध-सूत्र दृष्टिपथ पर आने लगते हैं। ऐतिहासिक गवेषणा के उन्नतिशील विस्तार और गम्भीरता के साथ-साथ घटनाएँ जीवन के जटिल, दुरूह और अक्षुण्ण प्रवाह में विलीन हो जाती हैं। "आज का इतिहासकार ऐतिहासिक घटनाओं के चक्र और क्रम की असंख्य प्रक्रियाओं और परस्पराश्रित परम्पराओं से इतना अभिभूत है कि उसके लिये इनका स्वतन्त्र अस्तित्व कोई महत्त्व नहीं रखता। वह मानव-विकास की मुख्य प्रवृत्तियों और दिशाओं के निर्धारण में दत्तचित्त है।

उसका दृष्टिकोण निर्वचनात्मक, समन्वय प्रधान और व्याख्यापरक है और उसका ध्यान घटनाओं की प्रक्रिया, प्रवृत्ति तथा परम्परा पर केन्द्रित है।"[१]

मानव-मस्तिष्क की चिन्तन-पद्धति समानताओं, आवर्तनों, पारस्परिक सम्बन्धों, नियमों और स्वरों पर आधारित है। वह घटनाओं अथवा तथ्यों को नियमों से परिविद्ध कर तथा उनमें सन्तुलन स्थापित कर जितनी सुगमता से ग्रहण कर सकता है, उतना स्वतन्त्र रूप से नहीं। अतः इतिहास का अध्ययन करते समय अप्रत्यक्ष रूप से इतिहासकार के मन में उसके युग की प्रवृत्ति के अनुसार एक दर्शन समाविष्ट हो जाता है। डॉ० बुद्धप्रकाश के अनुसार वस्तुतः यही इतिहास-दर्शन है।[२] इतिहास को देखने की, इतिहास के दार्शनिक की दृष्टि वैज्ञानिक इतिहासकार से बिल्कुल भिन्न होती है। वह इतिहास की सम्पूर्ण प्रक्रिया, इतिहास के सम्पूर्ण मानवीय घटनाओं के अभिप्रायों के भीतर एक अन्तर्दृष्टि विकसित करने का प्रयास करता है। वह विशिष्ट घटनाओं का अध्ययन नहीं करता, वरन् ऐसे सामान्य नियमों अथवा आदर्शों का परिकल्पन करता है जिसके अनुसार इतिहास अपने लक्ष्य की ओर गतिशील होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा सम्भव है कि ये सिद्धान्त-परिकल्पन असार, निरर्थक एवं कपोल-कल्पना जैसे लगे, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इनमें ऐसे तत्त्व अवश्य मिलेंगे जो इतिहास को गतिशील बनाते हैं। सच बात तो यह है कि सैन्य-दलों की अपेक्षा इन परिकल्पनाओं एवं विचारों ने इतिहास को अधिक निर्मित किया है और यह कहना असङ्गत न होगा कि सैन्यदल तथा युद्धकलाएँ इन आदर्शों एवं विचारों के साधन रहे हैं और इन्हीं के द्वारा प्रकाश में आए हैं।

अब हम कुछ विशिष्ट देशों और कालों के प्रमुख इतिहास-दर्शनों की चर्चा करेंगे जो इस सन्दर्भ में हमारा लक्ष्य है।

भारतीय इतिहास-दर्शन

यद्यपि प्राचीन भारतीय चिन्तकों तथा दार्शनिकों ने स्वतन्त्र रूप से इतिहास-दर्शन के सम्बन्ध में अपना कोई मन्तव्य नहीं प्रकट किया है और न किसी व्यवस्थित इतिहास-परम्परा को ही जन्म दिया है, फिर भी धर्म और दर्शन के सन्दर्भ में इतिहास की तात्त्विक चर्चा यत्र-तत्र मिल जाती है। संक्षेप में भारतीय इतिहास-दर्शन को निम्न रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं--

(१) प्रकृति और सृष्टि का अवयवित्व: समष्टि और व्यष्टि का एकीकरण

हिन्दू-दर्शन के अनुसार सृष्टि और प्रकृति एक प्रकार के अवयवी भाव से सम्बन्धित हैं। इनके सम्पूर्ण क्रिया-कलाप परस्पर इस प्रकार आश्रित हैं कि उनका प्रत्येक पक्ष उनके समस्त विधान की क्रिया पर निर्भर रहता है। उदाहरणार्थ, जब एक बीज वृक्ष बनता है तो उसमें प्रकृति का समस्त तन्त्र सक्रिय हो जाता है। उसका विकास जलवायु, भूमि तथा वातावरण की अनुकूलता पर निर्भर करता है। उसके विकास के ये कारण उतने ही प्रबल हैं जितनी बीज की शक्ति। 'सांख्य योग' में इस विचारधारा की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। उसके अनुसार कार्य-कारण की प्रक्रिया अवयवित्वमय सम्पूर्ण तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण है। सम्पूर्ण तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण अवयवों का भी प्रत्यक्षीकरण है। किसी वस्तु के विकास और निर्माण की प्रवृत्ति एक ओर इसकी

अन्तर्निहित शक्ति का प्रत्यक्षीकरण है और दूसरी ओर अन्य वस्तुओं के विकास और निर्माण के इतिहास की कड़ी है।[३]

इसी प्रकार व्यष्टि और समष्टि का विकास अन्योन्याश्रित एवं परस्पर अध्यास द्वारा ब्रह्म के विविध रूपों का विस्तार है।[४] बौद्ध-दर्शन के अनुसार किसी भी वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ भी इस सृष्टि में वर्तमान है अथवा दृष्टिगोचर होता है, वह अक्षुण्ण प्रगति का स्वरूप है अर्थात् सृष्टि की प्रत्येक वस्तु समग्र सृष्टि के संविधान की परस्पराश्रितता को प्रतिबिम्बित करती है।[५]

(२) 'आदि पुरुष' और 'विराट-स्वरूप'

भारतीय दर्शन में वर्णित प्रकृति के इस अवयवी दृष्टिकोण के प्रतीक 'ऋग्वेद' (१०, ९०) का 'आदि पुरुष' और 'भगवद्गीता' (११. ५-८) का 'विराट रूप' है। इनमें समस्त चराचर जगत् की अभिन्नता प्रतिपादित की गयी है। एक सर्वव्यापी अवयवी के माध्यम से प्राकृतिक शक्तियों और सामाजिक तत्वों का समन्वय किया गया है। जिस 'आदि पुरुष' के चार अङ्गों से चारों वर्णों की उत्पत्ति होती है, उसी के अन्य अङ्गों से प्राकृतिक शक्तियों की भी सृष्टि होती है।[६] इसी प्रकार गीता का विराट रूप सूर्य, मेघ, समीर आदि में सन्निहित है। वह जन्म, मृत्यु और काल है। उसके इङ्गित पर योद्धा युद्ध करते हैं और एक-दूसरे का संहार करते हैं। व्यक्ति मात्र उसकी इच्छा का दास है, निमित्तमात्र है।[७]

(३) काल-चिन्तन

पाणिनि के एक सूक्त (३, २, १२३) 'वर्तमाने लट्' की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने काल-सम्बन्धी अपना महत्त्वपूर्ण एवं रोचक मत व्यक्त किया है। पतञ्जलि की व्याख्या के अनुसार भूत, वर्तमान और भविष्य सापेक्ष प्रव्यञ्जनाएँ हैं। वर्तमान का कोई अर्थ ही नहीं है, क्योंकि जिन पदार्थों का अस्तित्व हम स्वीकार करते हैं वे हमेशा से ही वर्तमान रही है। वर्तमान का अस्तित्व इसलिये भी असम्भव है कि जो क्रिया पूर्ण हो चुकी है वह भूत है और जो पूर्ण होनी है वह भविष्य है। किसी ऐसी क्रिया की कल्पना ही असम्भव है जो एक ही साथ पूर्ण और अपूर्ण दोनों हो। इसके अतिरिक्त पदार्थों का अस्तित्व क्षणिक है। वे प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। अतः भूत, भविष्य और वर्तमान का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता।[८]

भर्तृहरि ने काल को अद्वैत, शाश्वत और व्यापक माना है। उनके अनुसार वह सृष्टि का सञ्चालक है और विश्व के समस्त क्रिया-कलापों का नियन्त्रण करता है। भावों का स्थगन और उन्मज्जन काल का कार्य है। इस प्रकार काल वस्तुजगत् का उपकरण है। और चूँकि वह शाश्वत है, अतः पदार्थ विनष्ट नहीं होते, उनका केवल रूप बदल जाता है।[९]

(४) काल-गति तथा युग-कल्पना

हिन्दू-दर्शन की मुख्य धाराओं के अनुसार काल की गति यान्त्रिक एवं चक्रात्मक है। इसके दो पक्ष ब्रह्मा के दिन और रात हैं। जैन-ग्रन्थों में इन्हें दो कल्प कहा गया है। पहले कल्प में धर्म

गिरता हुआ निम्नतम बिन्दु पर पहुँच जाता है और दूसरे में वह उन्नति करता हुआ चरम बिन्दु पर पहुँच जाता है।[१०] इसी प्रकार पुराणों के चार युगों–कृत, त्रेता, द्वापर और कलि में धर्म की क्रमानुसार उन्नति और अवनति सन्निहित है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' के अनुसार इन युगों का क्रम मनुष्य की जागृति एवं सुषुप्ति क्रिया के अनुसार है। जब मनुष्य या मनुष्य-समाज क्रियाशील रहता है तो कृतयुग रहता है, जब वह आलस्य और निद्रा के कारण निष्क्रिय होने लगता है तो त्रेता और द्वापर आ जाते हैं और जब वह एकदम सुषुप्त हो जाता है तो कलियुग छा जाता है।[११] अतः युगों के परिवर्तन में मनुष्य की क्रियाशीलता प्रच्छन्न रूप से कार्य करती है।

(५) नियतिवाद और परिणामवाद

कुछ भारतीय दर्शन ऐसे हैं जिनमें प्रकृति की प्रक्रिया को यन्त्र सदृश मान लिया गया है। सांख्य के अनुसार विकास की प्रक्रिया एक निश्चित नियम के अधीन हैं जिसका उल्लङ्घन असम्भव है। यह परिणाम-क्रम का नियम है। अतः विकास की प्रक्रिया को नियमानुसार ही गतिशील होना पड़ता है।[१२] आजीविक दर्शन में इस परिणामवाद को पूर्णरूप से यान्त्रिक, अचल और दैवी माना गया है। इसके अनुसार समस्त प्रकृति नियति, सङ्गति और भाव के नियन्त्रण में अग्रसर होती है। नियति, जीवन की अटल गति है, सङ्गति आकस्मिकता की क्रिया है और भाव प्रकृति का स्वरूप है।[१३]

निष्कर्ष

उपर्युक्त कतिपय भारतीय दर्शनों के विवेचन से हम एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। जैसा कि डॉ० बुद्धप्रकाश का मत है, यद्यपि कुछ दर्शन पूर्णतः नियतिवादी तथा ऐतिहासिक क्रम को यान्त्रिक मानते हैं, कुछ व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं उसकी सृजनशीलता को भी प्रश्रय देते हैं; किन्तु इस बात पर लगभग सभी दार्शनिक मत एक साथ है कि व्यक्ति, समष्टि के अधीन है। इतिहास में व्यक्तियों का उतना महत्त्व नहीं है जितना प्रवृत्तियों का है। घटनाएँ उतनी सारगर्भित नहीं हैं जितने आन्दोलन। महापुरुष ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के एक निमित्त मात्र होते हैं। इतिहास का विषय मानवता के दृष्टिकोण से धर्म का उत्थान-पतन है।[१४]

यूनानी-रोमन इतिहास-दर्शन

इतिहास-लेखन के क्षेत्र में प्राचीन युग में यूनान और रोम का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है। हिरोदोतस (४६७ ई० पू०), थूसीदाईदीस (४५४ ई० पू०), पोलीबस (२०५ ई० पू०), लिव्री (५९ ई० पू०) और तेसीतस (५५ ई० पू०) उस युग के महान् इतिहास लेखकों में गिने जाते हैं। आधुनिक ऐतिहासिक चेतना का मूल उद्‌गम इन महान् इतिहासकारों की कृतियों को माना जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। किन्तु यह लक्ष्य करने की बात है कि इन इतिहासकारों ने इतिहास-लेखन की जिस प्रौढ़ एवं वैज्ञानिक पद्धति को जन्म दिया, उसमें इतिहास-दर्शन की दृष्टि का अभाव है। फिर भी प्रयत्न करने पर यत्र-तत्र इतिहास-दर्शन सम्बन्धी दृष्टि मिल जाती है।

यूनानी-रोमन इतिहास-दर्शन की प्रमुख विशेषता मानववाद थी। इसका लक्ष्य मनुष्य के क्रिया-कलाप, सफलता-असफलता, उन्नति-अवनति आदि का सर्वाङ्गीण चित्रण था। इसमें सन्देह नहीं कि इस इतिहास-दर्शन ने दैवी तत्वों को स्वीकार किया है, किन्तु इनके कार्य सर्वथा सीमित थे। यूनानी इतिहास-दर्शन के अनुसार दैवी सत्ताओं की इच्छाओं की व्यञ्जना इतिहास में न कभी होती है और न मानव-कार्यों के विकास के लिये उनके पास कोई अपनी योजनाएँ ही होती हैं। वे केवल मानव-योजनाओं की सफलता-असफलता की स्वीकृति भर देते हैं।[१५] यही कारण है कि यूनानी इतिहास-लेखकों ने अपने इतिहासों में इन दैवी सत्ताओं के अङ्क में बैठे हुए मनुष्यों का नहीं, वरन् अपनी सफलता-असफलता का बोझ ढोने वाले मनुष्यों तथा उनके मानवीय कार्य-कलापों का चित्रण किया है।

यूनानी-रोमन इतिहास-दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का मूल कारण मानव के व्यक्तित्व, चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा समूहगत——में सन्निहित रहता है। मनुष्य स्वतन्त्र है और अपने भाग्य का विधायक वह स्वयं ही है। वह चाहे तो अपनी बौद्धिक शक्ति एवं सामर्थ्य द्वारा सफलताएँ प्राप्त कर सकता है और चाहे तो क्षणिक आघात से टूट सकता है। इस दर्शन के अनुसार इतिहास में जो कुछ भी घटित होता है, वह मनुष्य की इच्छाओं का प्रत्यक्ष परिणाम है।[१६]

ईसाई इतिहास-दर्शन

इतिहास-दर्शन का व्यवस्थित एवं स्पष्ट रूप हमें ईसाई विचारकों की चिन्तन-पद्धति में उपलब्ध होता है। वस्तुतः ईसाई विचारकों का इतिहास विषयक चिन्तन सही अर्थों में इतिहास-दर्शन नहीं है, वरन् धार्मिक इतिहास है। क्योंकि यह दैवी सन्देश अथवा ईश्वरीय ज्ञान पर आधारित है। आधुनिक योरोपीय इतिहास-दर्शन पर ईसाई इतिहास-दर्शन का अत्यधिक प्रभाव है।

ईसाई विचारकों एवं दार्शनिकों में सन्त ऑगस्तीन (३५४-४३० ई०) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी चिन्तनाओं का प्रभाव ईसाइयत के इतिहास विषयक दृष्टिकोण के विकास पर ही केवल नहीं पड़ा, वरन् समस्त योरोपीय इतिहास-लेखन की परम्परा को भी उसने प्रभावित किया। 'दि सिटी आफ़ गाड' नामक अपनी पुस्तक में ऑगस्तीन ने अपने इतिहास विषयक दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। ऑगस्तीन के अनुसार विश्व का इतिहास सर्व शक्तिमान् ईश्वर की लीलाओं का परिणाम है; वह अपने मनुष्यों के दुखान्त ऐतिहासिक नाटकों में भाग लेता है और उनके माध्यम से अपने अभिप्रायों की पूर्ति करता है। विश्व-इतिहास की धारा दो गतिशील सिद्धान्तों के सङ्घर्षों से प्रवाहित है——एक सिद्धान्त है ईश्वरीय सत्य और न्याय का तथा दूसरा है मनुष्य के पापाचार का। सत्य और पाप के द्वन्द्व के कारण ही साम्राज्यों का उत्थान-पतन होता है तथा संस्कृतियों का आगमन और विनाश होता है।

ईसाई चिन्तकों के अनुसार यह विश्व सर्वशक्तिमान् ईश्वर की लीला का परिणाम है। मनुष्य के क्रिया-कलाप अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इनकी वास्तविक महत्ता इसी में है कि वे ईश्वर की इच्छा को प्रतिबिम्बित करते हैं। सम्पूर्ण ऐतिहासिक-प्रक्रिया मानवीय प्रयोजनों

का परिणाम नहीं, बल्कि मनुष्य के लिये ईश्वरीय प्रयोजन है। इस दृष्टि से इतिहास विशिष्ट व्यक्तियों के विचारों और कृत्यों का वृत्तान्त नहीं है या विशिष्ट संस्थाओं के विकास और प्रसार का कथानक नहीं है, अपितु दैवी इच्छा शक्ति की क्रीड़ा है। दूसरे शब्दों में इतिहास की प्रक्रिया की अपनी निजी प्रवृत्ति है जो इसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों से स्वतन्त्र हैं।[१७]

बुद्धिवाद का युग और आधुनिक इतिहास-दर्शन

(१) १८वीं शताब्दी का योरोपीय इतिहास-दर्शन

जैसे ही इतिहास का विद्यार्थी १७ वीं शताब्दी से १८ वीं शताब्दी में प्रवेश करता है, उसे विचारों के जगत तथा चिन्तन के आयाम में एक अद्‌भुत नवीनता दृष्टिगोचर होती है और एक अजीब बौद्धिक उत्कर्ष से समन्वित वह युग उसके सम्मुख आ खड़ा होता है। १७०० ई० के लगभग देकार्त के दर्शन ने सम्पूर्ण योरोप को अभिभूत कर लिया था। विद्वत्ता के स्थान पर व्याख्या और चिन्तन के स्थान पर आलोचना की प्रधानता हो रही थी। इस विश्लेषणात्मक पद्धति ने आधुनिक विज्ञान का प्रवर्तन किया। १७ वीं शताब्दी के वैज्ञानिक अनुसन्धान ने इस बौद्धिक परिवर्तन की दिशाएँ निर्धारित कीं। गैलेलियो और न्यूटन ने विचारों की क्रान्ति को गति प्रदान की। भौतिक शास्त्र, राजनीति और अर्थ-व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्धों पर बल दिया गया। इस युग में यन्त्रशास्त्र को ही भौतिक शास्त्र का व्यावहारिक रूप समझा गया। अतएव, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था और इतिहास की प्रक्रिया को यान्त्रिक समझा जाने लगा।

इस युग के इतिहास-चिन्तकों में देकार्त, वाल्तेयर, ह्यूम, गिबन, विको तथा कान्त प्रसिद्ध हैं। अन्तिम दो चिन्तकों––विको तथा कान्त के इतिहास-दर्शन सम्बन्धी मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। विको इटली का निवासी था। उसके अनुसार इतिहास में समानता और अक्षुण्णता की प्रवृत्ति विद्यमान है। समानता का आधार यह है कि मनुष्य स्वयं इतिहास का निर्माता है और उसकी प्रकृति में सर्वत्र मौलिक समानता मिलती है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि मानव-प्रकृति में आकस्मिक परिवर्तन नहीं होते। इसमें पूर्व स्थिति और स्वरूप के चिह्न अवश्य विद्यमान रहते हैं। अतः इतिहास में भी अक्षुण्णता और क्रम बने रहते हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण इतिहास की उन्नति-अवनति की दिशाएँ निश्चित सी रहती है और यह चक्रवत् घूमता रहता है। इसकी गति के दो पक्ष, 'कोर्सो' तथा 'रिकोर्सो' कहलाते हैं। 'कोर्सो' एक तन्त्रात्मक शासन पर समाप्त होता है और फिर 'रिकोर्सो' प्रारम्भ हो जाता है। 'रिकोर्सो' का अर्थ पतन नहीं है, बल्कि एक नूतन गति है। विको के अनुसार प्राचीन काल 'कोर्सो' का युग था और मध्य काल 'रिकोर्सो' का। कोर्सो-रिकोर्सो का यह विकासवाद ईसाई धर्म के इतिहास से सम्बन्धित था।[१८]

इस युग का दूसरा महत्त्वपूर्ण इतिहास-दार्शनिक जर्मनी का कान्त (सन् १७२४-१८०४) था। कान्त का दृष्टिकोण पूर्णतः ऐतिहासिक है। कान्त के दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष जगत् में वस्तुओं का विकास प्राकृतिक इतिहास के समकक्ष होता है। वाह्य प्रगति उन आन्तरिक शक्तियों की कलेवर मात्र होती है जो एक निश्चित नियम के अनुसार मानव-जगत् में क्रियाशील रहती

है। यह नियम उसी प्रकार अटल एवं निश्चित है, जिस प्रकार सौर-मण्डल को सन्तुलन प्रदान करने वाला नियम। अतः बाह्य विकास प्रकृति की सम्पूर्ण आन्तरिक विकास-प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब होता है। यह प्रक्रिया मनुष्य को नियन्त्रित करती है, मनुष्य द्वारा नियंन्त्रित नहीं होती। ऐतिहासिक परिवर्तन काल के दोल पर घूमती हुई एक अक्षुण्ण प्रक्रिया है जो सभ्यता और स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो रही है।

कान्त के मतानुसार विश्व की प्रक्रिया नियमबद्ध है। यह एक प्राकृतिक योजना के अनुसार गतिशील है और मनुष्य इस योजना के अधीन है। यह ठीक है कि वैज्ञानिक साक्ष्य से हम उस योजना को सिद्ध अथवा असिद्ध करने में असमर्थ हैं, किन्तु यह एक ऐसी मौलिक धारणा है जिसके बिना प्रकृति को समझना असम्भव है। इतिहास के भीतर जो योजना कार्यशील है, उसका मुख्य लक्षण स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति है। स्वतन्त्रता का, कान्त की दृष्टि में एक विशिष्ट अर्थ है। वह दृश्य जगत् तथा अन्तर्जगत् में भेद मानता है। दृश्य जगत् बाह्य दृष्टिकोण से देखा और समझा जा सकता है, किन्तु अन्तर्जगत्, दृश्य जगत् के भीतर प्रच्छन्न जीवन के मानसिक अथवा आध्यात्मिक साक्षात्कार से ही जाना जा सकता है। अन्तर्जगत्, दृश्य जगत् के नियमों के अधीन न होकर स्वतन्त्र है। कान्त के अनुसार इतिहास दृश्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर अग्रसर होने की प्रक्रिया है।

कान्त के विचार से इतिहास बुद्धिमत्ता की प्रगति भी है और उन्नति भी। वास्तव में यह प्रगति ही इतिहास और प्रकृति के अन्तर को बनाये रखती है। मनुष्य जड़ और निष्क्रिय स्थायित्व का अतिक्रमण करके प्रगति की ओर चलता है। इसका कारण यह है कि उसमें तामसी वृत्तियों का प्राधान्य है। काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकार उसे सदा सामाजिक सन्तुलन को बिगाड़ने के लिए बाध्य करते हैं। अतः उसके जीवन में सङ्घर्ष और द्वन्द्व की भावना भरी रहती है। इस द्वन्द्व के सहारे ही वह उठता बढ़ता और आगे चलता है तथा बौद्धिक एवं नैतिक उत्कर्ष की ओर गतिशील रहता है।

संक्षेप में कान्त के इतिहास-दर्शन के चार मुख्य पक्ष हैं––(१) इतिहास एक सार्वजनिक प्रक्रिया है; (२) इसमें प्रगति की एक योजना निहित है। (३) इसकी मौलिक प्रवृत्ति मालिकता एवं नैतिकता का विकास है; (४) यह विकास अज्ञान, स्वार्थ और वासना आदि पर निर्भर तामसी वृत्तियों की क्रीड़ा का परिणाम है।[१९]

(२) रोमाण्टिक युग और हिगेल का इतिहास-दर्शन

उद्बोधन युग के शुष्क आदर्शवाद और नीरस बौद्धिकता की प्रतिक्रिया एक नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण के रूप में प्रकट हुई जो भावना और कल्पना पर आधारित थी। जीवन में केवल बुद्धिगम्य स्थिरता, स्पष्टता, व्यवस्था तथा समन्वय ही नहीं है, वरन् एक भावनापरक तरलता, स्वप्निलता और विद्रोह भी है। विश्व में आश्चर्य, उत्सुकता तथा उत्तेजना के भाव स्थिरता, निश्चय तथा ज्ञान से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर हैं। जीवन और जगत् के भीतरी रहस्यों को हम बुद्धि और युक्ति की अपेक्षा भावना और कल्पना से अधिक स्पष्टता से जान सकते हैं।[२०] यही रोमाण्टिक दृष्टिकोण है जो रोमाण्टिक युग के इतिहास-दर्शन का मूलाधार है।

रोमाण्टिक युग का प्रवर्तक फ्रेञ्च विचारक जॉं जाक रूसो था। हेरदर, शिलर, फिश्ते, शेलिङ्ग तथा हिगेल इस परम्परा के श्रेष्ठ इतिहास-दार्शनिक थे। हेरदर ने सन् १७८४ में जिस नवीन इतिहास-दर्शन का सूत्रपात किया, उसकी चरम परिणिति हिगेल (१७७०-१८३१) के विचारों में हुई।

हिगेल ने अपने इतिहास विषयक विचारों को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'फ़िलासफ़ी आफ़ हिस्ट्री' में व्यक्त किया है। हिगेल के अनुसार केवल विचार-तत्त्व ही सत्य और पूर्णसत्य है तथा इतिहास केवल विचारों के विकास से सम्बन्ध रखता है। इतिहास की प्रक्रिया के प्रारम्भ में विचार-तत्त्व आत्मचेता नहीं रहता। इतिहास एक ऐसी सहज प्रक्रिया है जिसका मुख्य केन्द्र बुद्धि है और जिसके माध्यम से विचार-तत्त्व पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है। अपने मूलभूत रूप में यह विश्व विचार-तत्त्व की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। इतिहास की सम्पूर्ण विकास-प्रक्रिया आत्मज्ञान पथ पर विचरण करने वाले मनुष्य के विचारों का परिणाम है। इतिहास में जो कुछ होता है, मनुष्य की इच्छा से होता है। मनुष्य की इच्छा, कर्म के रूप में उसके विचारों की अभिव्यक्ति करती है। वस्तुतः सम्पूर्ण इतिहास, आत्मज्ञान और पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के हेतु मनुष्य के विचारों का उर्ध्वाभिगामी सङ्घर्ष है।

हिगेल के मतानुसार, चूँकि इतिहास विचारों का क्रम और बुद्धि की प्रक्रिया है, अतः इसका स्वरूप मूलतः तार्किक है। ऐतिहासिक संक्रान्तियाँ कालदण्ड पर सजायी हुई तार्किक संक्रान्तियाँ हैं। इतिहास एक तर्क है जिसमें सामयिकता रहती है। तार्किक प्रक्रिया के द्वन्द्वात्मक और विरोधात्मक होने के कारण अर्थात् वाद, विवाद और संवाद के क्रम पर आधृत होने के परिणामस्वरूप इतिहास की प्रक्रिया भी इसी प्रकार द्वन्द्वात्मक और विरोधात्मक होती है। इसमें एक स्थिति, विरोधी स्थिति को जन्म देती है और उन दोनों के सङ्घर्ष से एक नवीन समन्वित स्थिति का प्रादुर्भाव होता है। दो विरोधी स्थितियों के सङ्घर्ष का द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त ही इतिहास की गति है।

(३) मार्क्स का इतिहास-दर्शन और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

आधुनिक योरोपीय चिन्तन-पद्धति में भौतिकवाद का विकास सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में परीक्षणात्मक प्रणाली और यान्त्रिक परमाणुवाद के प्रचार के फलस्वरूप हुआ। लियानार्डो दा विंचीं तथा गैलेलियो ने प्रकृति के परीक्षणात्मक अध्ययन का प्रारम्भ किया और देकार्त तथा बेकन ने चिन्तन-जगत् में इसका श्रीगणेश किया। हाब्स ने भौतिक दर्शन की आधार-शिला पर अपने राजनीतिक एकतन्त्र के सिद्धान्त का प्रासाद खड़ा किया। इन विचारों का प्रभाव लॉक, लामेत्री, दिदेरो और होलबास पर पड़ा। दिदेरो के अनुसार चेतना अथवा अनुभूति भौतिक तत्त्वों का स्वरूप है और इनके संविधान की उपज है। अतः पुण्य और पाप, ज्ञान और अज्ञान आदि वातावरण और परिस्थितियों के भेद के अनुसार बदलते रहते हैं। मौलिक पाप और परित्राण का सिद्धान्त नितान्त भ्रामक है।[११]

उन्नीसवीं शती में योरोप के चिन्तन-जगत् में आर्थिक तत्त्वों के अध्ययन की प्रधानता थी। अनेक विद्वानों ने आर्थिक परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत कर इनके द्वारा सामाजिक

जीवन की व्याख्या की। सन् १८३७ में राउमर ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की जो मार्क्स की विचारधारा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। उसका मत था कि राजनीतिक परिवर्तन, उत्पादन की परिस्थिति के परिवर्तनों की छाया मात्र होते हैं तथा धर्म, संस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन आदि के परिवर्तन भी इन मौलिक आर्थिक प्रवृत्तियों के सहगामी होते हैं।

भौतिकवाद को सर्वोत्तम और सर्वोन्नत रूप देने का श्रेय कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३) को है। मार्क्स की भौतिकवादी दृष्टि ने चिन्तन की परम्परा को एक ऐतिहासिक मोड़ प्रदान किया। इतिहास की व्याख्या भी उसने इसी भौतिकवादी दृष्टि से की। यदि हिगेल का इतिहास-दर्शन इतिहास का आदर्शीकरण है तो मार्क्स का इतिहास-दर्शन इसकी भौतिकवादी व्याख्या है।

मार्क्स से पूर्व जर्मन दार्शनिक एवं पदार्थवादी फायरबाख (सन् १८०४-१८७२) ने अपनी रचनाओं में हिगेल के निरपेक्ष, अनुभवातीत विचारतत्त्व का बहिष्कार किया था और उसके स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठित किया था। उसने स्पष्ट घोषणा की कि इतिहास, विचारों का नहीं, वरन् ज्ञान और स्वतन्त्रता की ओर बढ़ते हुए मनुष्य का उत्कर्ष है जो समाज की भौतिक परिस्थितियों से आबद्ध है।

मार्क्स और उसके सहयोगी ऐंगिल्स ने फायरबाख के भौतिकवाद तथा हिगेल के 'ऐतिहासिक आदर्शवाद' को मिला कर इतिहास के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जो 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' नाम से अभिहित किया जाता है।

मार्क्स के इतिहास-दर्शन के सम्बन्ध में तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं :—

१. भौतिकवाद सम्बन्धी उसकी धारणा।

२. इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या।

३. वर्ग-सङ्घर्ष की द्वन्द्वात्मकता।

(१) मार्क्स शुद्ध अर्थ में भौतिकवादी था। जहाँ हिगेल ने सम्पूर्ण ऐतिहासिक वास्तविकताओं, वस्तुओं, प्रणालियों आदि को केवल मस्तिष्क में आये हुए विचारों के रूप में विवेचित किया, वहाँ मार्क्स ने मात्र प्रकृति की वास्तविकता पर जोर दिया। उसके लिए यह विश्व ही सत्य है और पूर्ण सत्य है। इसके पार देखना निरी मूर्खता है। यह सर्वनिष्ठ वास्तविकता जिसे मार्क्स भौतिक कहता है, स्थिर नहीं, वरन् गतिशील है और अपने आभ्यान्तरिक नियमों के अनुसार विकसित होती है।

(२) मार्क्स का विचार है कि विश्व का इतिहास वस्तुतः आर्थिक प्रक्रिया का इतिहास है। किसी दिये हुए काल में आर्थिक उत्पादन का विशिष्ट रूप ही उस काल के समाज की प्रकृति का निश्चयन करती है। मार्क्स के सहयोगी ऐंगिल्स की धारणा है कि सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक सम्बन्ध, सम्पूर्ण धार्मिक तथा न्यायिक व्यवस्था, सम्पूर्ण सैद्धान्तिक दृष्टिकोण जो इतिहास के बीच दिखाई पड़ते हैं, वे जीवन की भौतिक अवस्थाओं से व्युत्पन्न होते हैं।[२२] जैसे-जैसे उत्पादन की पद्धति बदलती जाती है, सम्पूर्ण समाज भी (अपने सभी पक्षों सहित) बदलने लगता है। इस विषय में मार्क्स का निम्निलिखित मत द्रष्टव्य है :—

"मनुष्य जब उत्पादन की प्रक्रिया में संलग्न होते हैं तो उनके कुछ निश्चित सम्बन्ध बन जाते हैं जो अनिवार्य और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं। ये उत्पादन के सम्बन्ध उत्पादन की भौतिक शक्तियों के विकास के स्तर के अनुरूप होते हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों के समूह से समाज का आर्थिक ढाँचा बदलता है। यही वह आधार शिला है जिस पर वैधानिक और राजनीतिक प्रासाद खड़े होते हैं और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना का विकास होता है। भौतिक जीवन में उत्पादन की विधि जीवन की सामाजिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं की निर्णायक होती है। अपने विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुँच कर उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ उत्पादन के सम्बन्धों से टकराने लगती हैं, अर्थात् कानूनी शब्दावली में वे सम्पत्ति के सम्बन्धों के विपरीत हो जाती हैं। ये सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों के विपरीत न रह कर उसके बन्धन बन जाते हैं। तब सामाजिक क्रान्ति का युग आता है। आर्थिक परिवर्तन के साथ-साथ समस्त प्रासाद जल्दी से बदल जाता है।"[२३]

मार्क्स के अनुसार, धर्म उत्पादन की दूषित प्रणाली का परिणाम मात्र है। क्योंकि जब मनुष्य अपनी आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाते तो वे एक ऐसे स्वप्निल संसार की कल्पना करते हैं जिसमें उनकी सभी इच्छाओं की पूर्ति हो सकेगी। इस अर्थ में, मार्क्स के लिए "धर्म, मनुष्य जाति के लिए अफ़ीम है।"

(३) वर्ग-सङ्घर्ष सम्बन्धी विचार कोई नया नहीं था। मार्क्स की मौलिकता यही है कि उसने इस विचार की व्याख्या हिगेल के आध्यात्मिक 'द्वन्द्ववाद' के परिवेश में उसे भौतिकवादी बना कर किया। परिणाम स्वरूप इतिहास सम्बन्धी एक नवीन क्रान्तिकारी दृष्टिकोण सम्मुख आ गया। मार्क्स के अनुसार समाज की प्रत्येक अवस्था में एक विशेष वर्ग उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण कर लेता है और अपनी सुविधा हेतु शेष व्यक्तियों का शोषण करता है। यह केवल भाग्य की बात नहीं है, वरन् इतिहास के द्वन्द्ववाद का परिणाम है। इन दो वर्गों––शोषक और शोषित––के बीच का संङ्घर्ष और तनाव ही इतिहास की गति है। प्रत्येक प्रभुत्व-सम्पन्न वर्ग निश्चित रूप से दूसरे वर्ग को जन्म देता है। और फिर यह दूसरा वर्ग शासनाधिकार प्राप्त कर अपनी उन्नति करने लगता है। मार्क्स के अनुसार वर्ग-सङ्घर्ष की अन्तिम अवस्था अब समीप है। वर्ग-सङ्घर्ष अब अपनी अन्तिम विकासावस्था को पहुँच गया है, क्योंकि पूँजीवादी वर्ग, सर्वहारा वर्ग के सम्मुख है। सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के साथ ही, वर्गहीन समाज की स्थापना प्रारम्भ हो गयी है और इतिहास अपने उद्देश्यों की ओर पहुँच रहा है।

मार्क्स के सिद्धान्त के निरूपण से यह प्रकट होता है कि आर्थिक उत्पादन और उपयोग के विधान से मानव-इतिहास का स्वरूप निश्चित होता है। जब कोई आर्थिक विधान अपनी उपयोगिता से आगे निकल जाता है तो उसका स्थान दूसरा विधान ग्रहण कर लेता है। इस परिवर्तन में सामाजिक वर्गों का विरोध उग्र रूप धारण कर लेता है। शोषक और शोषित एक दूसरे के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं। प्रथम वर्ग नष्ट प्राय आर्थिक ढाँचे को खड़ा करने का प्रयत्न करता है और दूसरा वर्ग उसे उखाड़ फेंकने की शीघ्रता करता है। अतः वर्ग-युद्ध भड़क उठता है। इस युद्ध, विरोध और सङ्घर्ष से एक नयी व्यवस्था का जन्म होता है। मार्क्स के विचार से मानव-इतिहास, वस्तुतः वर्ग-युद्धों का वृत्तान्त है।

(४) 'स्पेंगलर' का इतिहास-दर्शन और इतिहास की वृत्तात्मकगति

स्पेंगलर (१८८०-१९३६) के अनुसार इतिहास आत्म-अन्तर्विष्ट वैयक्तिक ईकाइयों का एक विकास-क्रम है। स्पेंगलर ने इसे 'संस्कृति' की संज्ञा दी है।[२४] एक 'संस्कृति' में किसी विशिष्ट जाति अथवा समूह के सभी मानवीय कार्य, विश्वास, दर्शन, मूल्य एवं रीति-रिवाज आ जाते हैं। प्रत्येक संस्कृति की अपनी एक विशिष्ट प्रकृति होती है जो अपने आप में बँधी हुई और पूर्ण होती है। एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

स्पेंगलर के मतानुसार 'संस्कृति' एक जीव सदृश है और जैसे जीव जन्म लेता है, प्रौढ़ता प्राप्त करता है और अन्त में मर जाता है, वैसे ही संस्कृति का जीवन भी जन्म-जरा-मरण के क्रम से चलता है। इस प्रकार इतिहास की गति रेखात्मक न हो कर वृत्तात्मक अथवा चक्रात्मक है। स्पेंगलर के शब्दों में विश्व-इतिहास अनन्त निर्माणों और पुनर्निर्माणों का और जीवित शरीरियों के अद्भुत उत्थान और पतन का चित्रपट है।[२५] 'संस्कृति' की उत्पत्ति तब होती है, जब एक महान् आत्मा 'मानवता की आदिम आध्यात्मिकता' से जाग्रत हो कर अपने पृथक् रूप में प्रकट होती है। यह एक निश्चित भूमि और क्षितिज में वनस्पति की तरह घिरी रहती है। जब यह आत्मा जातियों, जनों, भाषाओं, विचारों, कलाओं, विज्ञानों और राष्ट्रों के रूप में अपने जीवन की सब सम्भावनाओं को पल्लवित और प्रत्यक्ष कर चुकती है तो इसका अन्त हो जाता है और यह पुनः आदिम आध्यात्मिकता में विलीन हो जाती है। 'संस्कृति' का जीवन मनुष्य के जीवन के सदृश है।

स्पेंगलर ने संस्कृति के जीवन-क्रम को वनस्पति की जीवन-लीला सदृश माना है जो ऋतुओं के परिवर्तन के अनुरूप चलती रहती है। विकास की प्रथम तीन अवस्थाओं को स्पेंगलर ने 'संस्कृति' नाम दिया है और पश्चात् की तीन अवस्थाओं को 'सभ्यता' की संज्ञा दी है। उसके मतानुसार सभ्यता का विशेष अभिप्राय पतन, ह्रास, क्षय तथा जड़ता की उस अवस्था से है जिसमें संस्कृति विकास एवं प्रौढ़ता प्राप्त करने के बाद प्रवेश करती है। दूसरे शब्दों में सभ्यता, संस्कृति का वार्धक्य काल है और उसके इतिहास का उपसंहार है।[२६]

(५) ट्वायन्बी का इतिहास-दर्शन

स्पेंगलर के विचारों ने वर्तमान इतिहास-दर्शन को अत्यधिक प्रभावित किया है। वर्तमान महान् विचारक ट्वायन्बी के सिद्धान्तों पर उसकी स्पष्ट छाप है। ट्वायन्बी ने भी इतिहास को स्पेंगलर की तरह 'संस्कृति' के रूप में देखा है, किन्तु 'सभ्यता' की परिभाषा के विषय में इन लेखकों में अवश्य मतभेद है। ट्वायन्बी की धारणा है कि किसी युग की चुनौती (Challenge) की 'प्रतिक्रिया' (Response) के फलस्वरूप समाज स्थिरता और जड़ता को छोड़ कर प्रगतिशीलता और चेतनता की प्रवृत्ति ग्रहण करता है। कठोर दुर्गम भूमि, नये देश, आघात, दण्ड और दबाव की यातना के कारण मनुष्य में चुनौतियों की प्रतिक्रिया की शक्ति उत्पन्न होती है। इस शक्ति के द्वारा वह चुनौतियों का प्रत्युत्तर तो देता ही है, साथ ही साथ एक नवीन चुनौती को भी अपने सम्मुख खड़ा कर लेता है। जिस प्रतिक्रिया और उत्तर से एक चुनौती समाप्त होती है, उसी से दूसरी चुनौती पैदा हो जाती है। मनुष्य को फिर दूसरी चुनौती का

उत्तर देना पड़ता है। चुनौतियों के इस प्रकार सफल उत्तर देने की प्रवृत्ति का नाम 'विकास' (growth) है। चुनौती का सफल उत्तर देने के लिए मनुष्य को आन्तरिक सन्तुलन स्थापित करना पड़ता है। ट्वायन्बी ने इस आन्तरिक सन्तुलन को 'आत्मनियमन' (self-determination) की संज्ञा दी है।[२७] इस 'आत्मनियमन' की प्रवृत्ति का बाहरी रूप एक कम जटिल और अधिक समुन्नत जीवन-पद्धति का आविर्भाव है। इस प्रवृत्ति को 'सूक्ष्मीकरण' (Etherialisation) कहते हैं।[२८] सभ्यता का विकास सृजनशील व्यक्तित्वों और वर्गों का कार्य है जो जनता के स्तरों को अपनी प्रतिभा और क्षमता के द्वारा अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर लेते हैं। ये सृजनशील व्यक्तित्व और वर्ग 'निर्गमन' (withdrawal) और 'प्रत्यागमन' (Return) की प्रक्रिया द्वारा कार्य करते हैं। ये कुछ समय के लिए संसार से अलग हो जाते हैं और शक्ति का सञ्चय करते हैं तथा फिर संसार में वापस आकर अपूर्व वेग से सृजन-कार्य में संलग्न हो जाते हैं।

ट्वायन्बी का 'सृजनशील व्यक्तित्व का सिद्धान्त' कार्लाइल, विलियम जेम्स, डब्ल्यु० एच० डेविस आदि के 'वीरपूजा' के सिद्धान्त की प्रतिलिपि मात्र है और व्यापक अर्थ में हर सृजनशील व्यक्तित्व पर लागू नहीं होता।

ट्वायन्बी के मतानुसार जब सृजनशील व्यक्तियों तथा वर्गों की प्रतिभा जनता को आकृष्ट करने में असफल होने लगती है तो सभ्यता का विकास रुक जाता है, जनता उनसे अपना सहयोग हटा लेती है और समाज की एकता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। सृजनशील व्यक्तियों और सामान्य जन के सम्बन्ध की प्रक्रिया में आकर्षण के बजाय विवशता तथा प्रेरणा की अपेक्षा शक्ति अधिक कार्य करती है। अतः आरम्भ से ही सभ्यता के विकास में ह्रास की प्रक्रिया प्रच्छन्न रहती है। ट्वायन्बी के शब्दों में "विकासशील सभ्यता का क्रम एक सङ्कटपूर्ण प्रक्रिया है। यह सङ्कट निरन्तर और गम्भीर है, क्योंकि यह उस मार्ग की वास्तविक प्रकृति में सन्निहित है जिस पर प्रत्येक सभ्यता को चलना है। इस प्रकार प्रत्येक सभ्यता क्षीण और नष्ट होने के लिए ही उत्पन्न होती है और लगभग ८०० वर्ष के ह्रास और पतन के जीवन के उपरान्त निश्चित रूप से अतीत के अन्धकार में लय हो जाती है।"[२९] ट्वायन्बी का यह 'सृजनशील व्यक्तित्वों का सिद्धान्त' उन्हें एक अटल नियतिवाद और उच्छेदवाद की ओर ले जाता है।

ट्वायन्बी की दृष्टि में इतिहास की गति एकता की ओर है और सभ्यताएँ उच्चतर धर्म और दर्शन का सूत्रपात करती हैं। इस प्रकार इतिहास की गति वृत्तात्मक न होकर रेखात्मक है। इस दृष्टि से ट्वायन्बी ने विश्व-इतिहास को चार स्तरों में विभाजित किया है--१. आदिम समाज २. प्रारम्भिक सभ्यता, ३. मध्यस्तरीय सभ्यता तथा ४. उच्च धर्म। उच्च धर्म की स्थिति में इतिहास एकीकृत समाज के भीतर अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर लेगा।

ट्वायन्बी के इतिहास-दर्शन की प्रमुख विशेषता यह है कि उसने इतिहास में राजनीति को प्रधानता न देकर संस्कृति और धर्म को प्रधानता दी है और सामाजिक आन्दोलनों एवं परिवर्तनों को विशेष महत्त्व दिया है। उसकी यह मान्यता कि किसी समाज का विकास अथवा विनाश उसकी आन्तरिक शक्ति अथवा दुर्बलता के कारण होता है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसका यह विचार भी महत्त्वपूर्ण है कि विश्व-इतिहास की रूपरेखा विभिन्न सभ्यताओं एवं समाजों के सम्पर्क से बनी हैं।

(६) सोरोकिन का इतिहास विषयक दृष्टिकोण

सोरोकिन (१८८९–) के इतिहास-दर्शन सम्बन्धी विचार समसामयिक इतिहास-चिन्तकों के दर्शन के समान सूक्ष्म एवं तथ्यपरक विवेचन पर आधारित है। स्पेंगलर और ट्वायन्बी की तरह उसकी भी मान्यता है कि इतिहास का विषय राजनीतिक और सामरिक घटनाओं का परिगणन नहीं है, प्रत्युत् सांस्कृतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण है।

सोरोकिन के मतानुसार 'संस्कृति' उन मूल्यों, आदर्शों और स्थापनाओं का समवाय है जिसके अनुसार मनुष्य अपनी जीवन-पद्धति का निर्माण करते हैं। मनुष्य अपने जीवन में जिन तत्त्वों को सत्य, शिव और सुन्दर मानते हैं, उन्हीं से 'संस्कृति' का स्वरूप निर्मित होता है। अतः यह एक मानसिक विकास की प्रक्रिया है। चूँकि समाज में रहकर ही मनुष्य इस विकास में अग्रसर होता है, अतः संस्कृति सामाजिकता में घुलमिल जाती है। सोरोकिन ने इसके लिए 'सामाजिक-सांस्कृतिक' (Socio-Cultural) शब्दावली का प्रयोग किया है। मनुष्यों के विशिष्ट समूहों के कुछ अपने आदर्श एवं मूल्य होते हैं जिनकी छाप उनकी कला, साहित्य, धर्म, नीति, अर्थ-व्यवस्था, न्याय-प्रणाली और दैनिक जीवन-पद्धति को एक वैयक्तिक स्वरूप प्रदान करती है। प्रत्येक संस्कृति में एक आन्तरिक एकता है और उसके समस्त अङ्ग परस्पर समन्वित रहते हैं।

सोरोकिन के अनुसार संस्कृतियाँ अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्थाओं की समूह हैं। इन व्यवस्थाओं में भी विविध और विभिन्न सांस्कृतिक सूत्र जुड़े रहते हैं जो उनको एक सामयिक समन्वय प्रदान करते हैं। ये सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ तीन प्रकार की होती है—(१) भावना-प्रधान, (२) गोचरता-प्रधान तथा (३) आदर्श-समन्वय-प्रधान। ये व्यवस्थाएँ हर देश और जाति के इतिहास में समय-समय पर प्रकट होती हैं और सांस्कृतिक सूत्रों को समन्वित एवं सङ्गठित कर एकता की शृङ्खला में संग्रथित कर देती हैं। इनके विषय में स्पेंगलर और ट्वायन्बी द्वारा प्रतिपादित जन्म-जरा-मरण का क्रम लागू नहीं होता। वे तो सांस्कृतिक-सामाजिक धाराओं के मिलन-बिन्दु हैं जो प्रवाह की गतिशीलता-अगतिशीलता आदि के कारण बदलते रहते हैं। इनकी अवधि निश्चित करना असम्भव है।

सोरोकिन की धारणा है कि भावना-प्रधान सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था श्रद्धा पर आधारित होती है और उनमें जीवन का प्रत्येक पक्ष और रूप इन्द्रियातीत परम तत्त्व और परम सत्य की आध्यात्मिक भावधारा में निमग्न और निष्णात होता है। गोचरता-प्रधान सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का आधार तर्क, विज्ञान और परीक्षण है और उसकी व्यवस्था में जीवन का प्रत्येक पक्ष और रूप इन्द्रियगम्य ऐहिक और भौतिक तत्त्वों के आलोक में चमक उठता है। आदर्श-समन्वय-प्रधान सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में उपर्युक्त दोनों व्यवस्थाओं का समन्वय रहता है और दोनों के प्रमुख तत्त्व इसमें सन्निहित रहते हैं। इसमें मानव-मस्तिष्क तर्क और दर्शन के क्षेत्र में अपनी सर्जन-शक्ति के चरम उत्कर्ष की अभिव्यक्ति करता है और साथ ही साथ कला और साहित्य में अभूतपूर्व चैतन्य और स्पन्दन का परिचय देता है। यद्यपि इस युग में आध्यात्मिक और भौतिक मूल्यों का सुन्दर सामञ्जस्य हो जाता है, फिर भी आध्यात्मिक प्रेरणा प्रबल रहती है।

सोरोकिन के मतानुसार सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ अपने आन्तरिक स्वभाव के कारण बदलती हैं। वह इस परिवर्तन को आन्तरिक और स्वभावगत मानता है। वाह्य तत्त्व उसको प्रेरणा अवश्य देते हैं, किन्तु परिवर्तन के मूल कारण नहीं हैं। प्रत्येक व्यवस्था की उपयोगिता सीमित होती है। जब कोई व्यवस्था अपनी सीमा का अतिक्रमण करती है तो अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से वह परिवर्तन की ओर बढ़ने लगती है। सोरोकिन ने इसे 'सीमा नियम' (law of limit) कहा है। वह यह भी मानते हैं कि उक्त सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के परिवर्तन किसी अटल और कठोर नियम के अधीन नहीं होते। इनमें व्यक्तिगत विविधता व्याप्त रहती है।

अन्तिम निष्कर्ष

ऊपर इतिहास-दर्शन सम्बन्धी जितने भारतीय अथवा अभारतीय विचार व्यक्त किये गये हैं, उनमें विभिन्नता होते हुए भी परस्पर कोई मौलिक भेद नहीं है। वस्तुतः वे एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं और इतिहास-दर्शन के विभिन्न पक्षों की ओर सङ्केत करते हैं। सभी में सत्य का कुछ न कुछ अंश निहित है। किन्तु एक बात यह लक्ष्य करने की है कि भारतीय इतिहास-दर्शन के सभी पक्ष कहीं न कहीं आकर एक विन्दु पर मिल जाते हैं, जब कि योरोपीय इतिहास-दर्शन एक-दूसरे को स्पर्श न कर समानान्तर चलते हैं। इतिहास की प्रक्रिया, वस्तुतः मनुष्य के बौद्धिक और भावनात्मक प्रक्रियाओं का परिणाम है और उसको प्रवृत्ति अथवा संस्कृति के प्रवाह के रूप में ही देखना उपयुक्त है। तभी, इतिहास का विवेचन पूर्णता से किया जा सकता है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) डॉ० बुद्ध प्रकाश : इतिहास दर्शन, प्रस्तावना, पृ० १० (२) वही, पृ० १२ (३) श्री एस० एन० दासगुप्त : योग थ्योरी आफ़ द रिलेशन आफ़ माइण्ड एण्ड बॉडी (कल्चरल हेरिटेज आफ़ इण्डिया, भाग १), पृष्ठ ३६८ (४) डॉ० बुद्धप्रकाश : इतिहास दर्शन, पृ० १० (५) वही, पृ० ११ (६) ऋग्वेद १०।९०।१२-१४ (७) भगवद्गीता, ९०१६-१९ (८) डॉ० बुद्ध प्रकाश : इतिहास दर्शन, पृ० १३ (९) भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय ३।९।५ (१०) डॉ० बुद्ध प्रकाश : इतिहास दर्शन, पृ० १४।

(११) कलिश्शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्।। (ऐतरेय ब्राह्मण ३३।३)

(१२) एस० एन० दासगुप्त : हिस्टरी आफ़ इण्डियन फिलासफ़ी, भाग १, पृ० २६५ (१३) दीघ निकाय (पाली टेक्स्ट सोसायटी का संस्करण), भाग १, पृ० ६३ (१४) डॉ० बुद्धप्रकाशः इतिहास-दर्शन, पृ० १६-१७ (१५) आर० जी० कॉलिंगउड : आइडिया आफ़ हिस्टरी, पृ० ४१ (१६) वही, पृ० ४१ (१७) वही, पृ० ४८ (१८) डॉ० बुद्धप्रकाश : इतिहास-दर्शन, पृ० १५० (१९) आर० जी० कॉलिंगउड : आइडिया आफ हिस्टरी, पृ० १०३ (२०) जी० ए० बोरगेसे, रोमाण्टिसिज़्म, इन्साइक्लोपीडिया आफ़ सोशल साइंसेज़, भाग १३, पृ० ४२६ (२१) डॉ० बुद्धप्रकाश: इतिहास-दर्शन, पृ० २६५।

(२२) All social, political and intellectual relations, all religious and legal systems, all theoretical outlooks which emerge in course oj history..... are derived from material conditions of life.

—Engles : Budwig Feuerbach, page 93.

(२३) डॉ० बुद्धप्रकाश की पुस्तक 'इतिहास-दर्शन' के पृ० २६९ से उद्धृत।

(२४) According to Spengler, history is succession of self-contained individual units which he calls cultures.

—R. G. Collingwood : Idea of History, page 181

(२५) स्पेंगलर: द डिक्लाइन आफ द वेस्ट, भाग १, पृ० २२ (२६) वही, पृ० ३१ (२७) ए० ट्वायन्बी: ए स्टडी आफ़ हिस्टरी, भाग ३, पृ० २१६ (२८) वही, भाग ३, पृ० १७४ (२९) वही भाग ३, पृ० १२२।

•

कवि चन्द्र कृत मिथिला-भाषा रामायण : एक अनुशीलन

• श्रीमन्नारायण द्विवेदी

प्राचीन मैथिली साहित्य को ज्योतिरीश्वर, विद्यापति प्रभृत कवियों ने साहित्यिक गरिमा प्रदान की है। उनकी परम्परा में अर्वाचीन समय तक एक से एक उत्कृष्ट कवियों का प्रादुर्भाव हुआ है। मैथिली साहित्य के विद्वान जहाँ ज्योतिरीश्वर को विद्यापति रूपी मार्तण्ड के आगमन की सूचना देने वाले अरुण मानते हैं, वहीं वे कवि चन्द्र को आधुनिक कवि रूपी नक्षत्रों का मार्गदर्शक मानते हैं। कवि चन्द्र अर्वाचीन मैथिली साहित्य की अप्रतिम प्रतिभा थे।[1] उनकी प्रेरणा एवं सहायता से ही प्रसिद्ध विद्वान डॉ० नगेन्द्रनाथ गुप्त 'विद्यापति पदावली' के समुचित सम्पादन एवं मूल्याङ्कन में सफल हो सके थे। वे कवीश्वर चन्दा झा को विद्यापति की भाषा के लिये अपना शिक्षा गुरु मानते थे।[2] डॉ० ग्रियर्सन का मैथिली भाषा सम्बन्धी अध्ययन चन्द कवि की प्रेरणा से ही उपोद्वलित था।

चन्द कवि का जन्म सन् १८३० ई० में मैथिली जनपद के पिण्डारुछ नामक ग्राम में हुआ था। उनकी मृत्यु १९०९ ई० में ८० वर्ष की अवस्था में हुई। कवि को मिथिला के नरपतियों में महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह एवं महाराज राजेश्वर सिंह का राज्याश्रय प्राप्त हुआ था। कवि चन्दा झा संस्कृत के उद्भट विद्वान थे, किन्तु उनका वैशिष्ट्य इस बात में है कि वे संस्कृत के विद्वान होते हुए भी सर्जन की दृष्टि से मैथिली भाषा में अधिक अनुरक्त थे। अब तक मैथिली में उनकी 'गीत सप्तशती,' 'गीतिसुधा,' 'चन्द्रपदावली,' 'महेशवाणी' एवं 'मिथिला भाषा रामायण' नामक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। विद्यापति की 'पुरुष परीक्षा' का मैथिली में अनुवाद उन्होंने किया था।

कवि चन्दा झा मूलतः शैव थे। उनकी शिवभक्ति सम्बन्धी रचनाओं का इस प्रदेश में अधिक प्रचार भी हुआ है। महामहोपाध्याय डॉ० गङ्गानाथ झा ने उनके शिवभक्ति विषयक पदों का संग्रह 'महेशवाणीक संग्रह' नाम से प्रकाशित कराया है। महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र ने कतिपय स्थलों पर कवि के काव्य-सौन्दर्य एवं विचार गाम्भीर्य पर प्रकाश डाला है। डॉ० जयकान्त मिश्र के अनुसार कवि चन्दा झा उन प्रथम मैथिल विद्वानों में से हैं जिन्होंने मैथिली भाषा के साहित्यिक गौरव को पहचाना था और उसके अध्ययन पर जोर दिया था।[3] कवि की कीर्ति का श्रेय उसकी सर्वाधिक प्रचलित रचना मिथिला भाषा में लिखे रामायण को है। इस ग्रन्थ का प्रचार घर-घर में है जिससे कवि की काव्यात्मक प्रतिभा का गौरवान्वित रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।

मिथिला भाषा का उत्कर्ष विद्यापति की 'पदावली' में देखा जाता है। 'पदावली' का उद्देश्य कृष्ण-कथा के संक्षिप्त सन्दर्भ में भक्ति एवं शृङ्गार का मण्डन करता था। यद्यपि प्राचीन मैथिल कवियों का ध्यान कृष्ण-कथा की अपेक्षा रामकथा की ओर नहीं आकृष्ट हो सका, फिर भी लोक की रागात्मक अभिव्यक्ति सीता को अपने परिवेश में नई संवेदना देती रही और सीता एवं रामभक्ति के प्रति लोक तथा साहित्य में बराबर पूज्यबुद्धि की अभिव्यक्ति होती रही। अब तक मैथिली भाषा में राम सम्बन्धी कोई ऐसी रचना उपलब्ध न थी जो रामभक्ति एवं कथा के प्रति सामान्य जन के मन को खींच सके। अतः मिथिला भाषा में रामायण की रचना करने के पीछे कवि चन्दा झा का यह उद्देश्य रहा है कि रामकथा का अपने जनपद में व्यापक प्रचार-प्रसार हो तथा रामकाव्य की गौरवमयी परम्परा से मातृभाषा समलंकृत हो। इस काव्य-रचना के पीछे कवि की यह मनोवृत्ति भी रही है कि वह **'वैदेह देश वचसा रुचिरां सुरीतिम्'** अथवा **'जनक नृपति पुत्री मातृभाषाञ्चितायाः'** के माध्यम से रामकथा का उपवृंहण हो। जहाँ तक रामकथा के प्रस्तुत करने के दृष्टिकोण का प्रश्न है, कवि परम्परा से प्रेरित है और उसने कोई बड़ा प्रत्यावर्तन नहीं प्रस्तुत किया है। उसकी समस्त रचना 'अध्यात्मरामायण' एवं तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' से प्रभावित है। किन्तु इससे कवि की मौलिक प्रतिभा के निदर्शन में कोई आशङ्का नहीं की जा सकती। उसकी काव्य-प्रतिभा का तेजोमय रूप इस काव्य-कृति में प्रस्फुटित हुआ है। अस्तु, काव्य की विषयवस्तु, भक्ति-भावना एवं काव्यात्मक सौन्दर्य का अनुशीलन अपेक्षित महत्त्व रखता है।

'अध्यात्मरामायण' और तुलसी का 'रामचरितमानस' कवि के उपजीव्य ग्रन्थ हैं। 'अध्यात्मरामायण' में राम-भक्ति-भावना को साम्प्रदायिक ढङ्ग से उपस्थित किया गया है और उससे रामकथा के अर्वाचीन व्याख्याताओं को अभूतपूर्व प्रेरणा मिली है। चन्द कवि ने अपने रामायण की रचना काण्डों एवं अध्यायों में की है। उन्होंने 'अध्यात्मरामायण' के सर्गों के स्थान पर सामान्यतया अध्यायों का आयोजन कर दिया है और किञ्चित अन्य परिवर्तन भी किये हैं। कवि ने मात्र 'अध्यात्मरामायण' का दृष्टिकोण ही नहीं ग्रहण किया है, वरन् उसका कहीं-कहीं रूपान्तर भी अपनी कृति में किया है। बालकाण्ड की कथा 'अध्यात्मरामायण' की भाँति ही शौनक-सूत, नारद-ब्रह्म, शिव-पार्वती, सीताकान्त-हनुमान के माध्यम से सञ्चरण करती है। कलियुग-वर्णन, रामगीता-माहात्म्य, व्याकुल पृथ्वी का विरञ्चि लोकगमन, ब्रह्मा तथा अन्य देवों का विष्णु द्वारा रामावतार का आश्वासन, दशरथ के यहाँ शृङ्गी ऋषी द्वारा यज्ञ-सम्पादन, अलौकिक पुरुष के पायस द्वारा राम आदि का अलौकिक जन्म, विश्वामित्र का आगमन, अहल्योद्धार, धनुषभङ्ग, सीता-परिणय, परशुराम-मानमर्दन, युधाजित सहित भरत का ननिहाल-गमन आदि सभी घटनाएँ पूर्णतः 'अध्यात्मरामायण' के आधार पर ही वर्णित है। स्थान-स्थान पर कवि ने उपर्युक्त प्रसङ्गों में 'वाल्मीकीयरामायण' तथा तुलसी के तद्विषयक दृष्टिकोणों का भी समन्वय कर दिया है।

परम्परागत ढङ्ग से काव्य की विषय वस्तु को निरूपित करते हुए भी कवि ने अपनी काव्य प्रतिभा से मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं और उसकी इन उद्भावनाओं का अनुशीलन महत्त्वपूर्ण है। शान्तापति ऋषि शृङ्ग का दशरथ के यहाँ पुत्रेष्टि यज्ञ कराना पुराणों एवं प्राचीन

साहित्य का एक प्रचलित प्रकरण है। वाल्मीकीय-रामायण में बालकाण्ड के नवम् सर्ग से पन्द्रहवें सर्ग तक यह कथा विस्तार से वर्णित है और रामायणकार ने स्वतः इस कथा के पुराणवृत्त होने का उल्लेख किया है। बालकाण्ड के नवम् सर्ग के प्रथम श्लोक में यह वर्णित है कि पुत्रोत्पत्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ-सम्पादन करने की बात सुनकर सुमन्त राजा दशरथ से एकान्त में कहते हैं कि महाराज, मैं आपको एक प्राचीन इतिहास सुनाना चाहता हूँ जो पुराणों में वर्णित है:—

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयतां तत् पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम्।।—बा० का० ९.१

विमाण्डक पुत्र ऋषि शृङ्ग की कथा को अध्यातमरामयणकार ने अत्यन्त संक्षिप्त ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। वशिष्ठ राजा दशरथ को आदेश देते हैं कि तुम शान्तापति तपोधन ऋषि शृङ्ग को बुलाकर शीघ्र ही पुत्रेष्टि-यज्ञ का अनुष्ठान करो:—

शान्ताभर्तारमानीय ऋष्यशृङ्गं तपोधनम्।
अस्माभिः सहितः पुत्रकामेष्टिं शीघ्रमाचर।। —अ० रा०, बा० का० ३.५

इस प्रसङ्ग में तुलसीदास ने मात्र ऋषि शृङ्ग द्वारा यज्ञ-सम्पादन कराने का ही संक्षिप्त उल्लेख किया है:—

सृंगी रिषिहि वसिष्ठ बोलावा। पुत्र काम शुभ जग्य करावा।।
भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चार कर लीन्हें।।
—रामचरितमानस, बा० का०

शान्तापति ऋषि शृङ्ग के विषय में यह संक्षिप्तता अर्वाचीन रामायणकारों द्वारा क्यों अपनाई गई, इस विषय में कुछ कौतूहल उत्पन्न हो सकता है। इसका कारण प्रासङ्गिक कथा होने के अतिरिक्त शान्ता की पितृ-परम्परा में मतभेद भी हो सकता है। सामान्यतया शान्ता को अङ्ग-नृपति रोमपाद की पुत्री बतलाया गया है, किन्तु कतिपय स्थलों पर पुत्री रूप में उसे दशरथ से भी सम्बद्ध किया गया है और दशरथ द्वारा रोमपाद को गोद प्रदान करने की बात भी कही गई है।[४] डॉ० अशोक चटर्जी ने 'ऑवर हेरिटेज' में प्रकाशित अपने लेख में शान्ता की पितृ-परम्परा के विकास का अनुशीलन किया है और रामायण के विभिन्न संस्करणों के आधार पर शान्ता का दशरथ तथा रोमपाद से सम्बद्ध होने का उल्लेख किया है।[५] पूर्ववर्ती साहित्य में शान्ता और दशरथ के सम्बन्ध में द्व्यर्थता दिखलाई देती है, किन्तु परवर्ती रचनाओं में सामान्य रूप से अयोध्या नरेश दशरथ की पुत्री के रूप में शान्ता का उल्लेख हुआ है।[६] 'वाल्मीकीय रामायण' में शान्ता को अङ्गराज की पुत्री बतलाया गया है और वहाँ दशरथ एवं रोमपाद की मैत्री का भी उल्लेख है तथा उनकी सख्य-भावना से ही दशरथ को पुत्र प्राप्ति सम्भव हो सकी थी।[७]

चन्द कवि ने ऋषि शृङ्ग के प्रसङ्ग को रामायण की उपर्युक्त पृष्ठभूमि में ही वर्णित किया है। राजा की पुत्र-प्राप्ति की मन्त्रणा देते हुए वशिष्ठ कहते हैं कि मित्र-जामाता

शान्तापति द्वारा किये गए यज्ञ से ही पुत्र-प्राप्ति सम्भव है, अतः उनका लाया जाना आवश्यक है:—

शान्ता-स्वामी मित्र जमाय। आनू तनिकाँ अपनहिं जाय।।
काम-यज्ञ करु विधि सौं भूप। हमरा सब मिलि कर्म्म अनूप।।

—मिथिला रामायण, बा० का०, अ० ३

'वाल्मीकीय रामायण' के बालकाण्ड में अङ्ग-नृपति विमाण्डक-सुत ऋषि शृङ्ग को अनावृष्टि को दूर करने के लिए बुलाते हैं, किन्तु चन्द कवि ने इसका कारण पुत्र-प्राप्ति ही उल्लिखित किया है—

अङ्ग देश मे भाग्य विशाल। रोमपाद नामक महिपाल।।
पुत्र न तनिकहुँ गत कत वर्ष। चिन्तातुर मन रहल न हर्ष।।
तनिकाँ कहलनि सनत्कुमार। पुत्र होयत करु एहन विचार।।
शृङ्गी ऋषि जौं एहि थल आव। तनिका सौं बाढ़य सद्भाव।।

—मि० रा०, बा० का०, अ० ३

कवि चन्द ने शृङ्गी ऋषि सम्बन्धी अन्य सामग्री को संक्षिप्त ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। अङ्गराज द्वारा प्रेषित गणिकाओं द्वारा ऋषि का अङ्ग देश-आनयन बड़ी मार्मिकता से कवि ने चित्रित किया है। तपस्वी ऋषि के सात्विक मनोभाव का चित्रण कवि ने बड़ी सफलता से किया है। यथा,

मोदक मधुर मनोजविवर्द्धन सुधा-समान विलक्षण।
गणिका देथि वनी नहिं जानथि लगला करय सुभक्षण।।
एक वर्ष सहवास नियत छल छल न बुझल दुर्ल्लक्षण।
रतिपति-गति संप्राप्त जानि मुनि लय गेली पुर तत्क्षण।।
बड़ उत्सव महिपाल कयल तत शान्ता कन्या देलनि।।

—मि० रा०, बा० का०, अ० ३, पृ० १६

दशरथ जब रोमपाद से आज्ञा लेकर अङ्ग देश से ऋषि शृङ्ग को अपनी राजधानी में ले आते हैं तो 'वाल्मीकीय रामायण' के अनुसार, अत्यधिक सम्मानपूर्वक उनका स्वागत करते हैं। राजा शृङ्गी ऋषि को अन्तःपुर में लाकर शास्त्रीय रीति से उनका पूजन करते हैं तथा रानियाँ, विशाललोचना शान्ता एवं उनके पति को पाकर अपार हर्ष का अनुभव करती हैं। 'मिथिला भाषा रामायण' में शान्ता-पति के आगमन पर रानियाँ उत्सव गीत गाकर उनका 'चुमाओन' करती है जो मिथिला की लोकप्रिय रीति है—

तनिक चुमाओन उत्सव गीति। सुता जमाइक सन सब रीति।।
सभ रानी मन हर्ष अपार। नित नव कन्या वर व्यवहार।।

—मि० रा०, पृ० १८

राम-काव्य की एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रासङ्गिक कथा अहिल्योद्धार की है। राम के चरणों की धूल पाषाणभूता अहल्या का पापमोचन करने में समर्थ होती है। 'अध्यात्मरामायण' के इस प्रसङ्ग की भाँति ही कवि ने अहिल्या-उपाख्यान का वर्णन किया है। यहाँ भी राम 'अध्यात्म-रामायण' की भाँति अहल्या को प्रणाम करते हैं। 'अध्यात्मरामायण' में अहल्या-शापमोचन के उपरान्त राम की विस्तृत स्तुति करती है। राम-स्तुति के सन्दर्भ में ही 'अध्यात्मरामायण' के रचयिता ने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। 'रामचरितमानस' में अहल्या द्वारा की गयी राम-स्तुति में भक्ति-भावना प्रबल है और वहाँ अहल्या की शोकजनित विवशता का मार्मिक उद्घाटन हुआ है। कवि चन्द्र ने इस प्रसङ्ग को 'अध्यात्मरामायण' की परम्परा से ग्रहण करते हुए भी उसके दार्शनिक पक्ष को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। अहल्या की प्रार्थनाओं तथा नारी-हृदय की पृष्ठभूमि में कवि ने अपनी भक्ति-भावना और दैन्य का चित्रण मार्मिकता से किया है—

हमर गति अपनें सौं के आन।
करुणागार दीन-प्रति-पालक रामचन्द्र भगवान॥
पिता विधाता घुरि नहि तकलनि पति-मति भेलहु पषान।
सुरपति कुमति विदित भेल कतए न हम अबला को ज्ञान॥
जन्तु मात्र सौं वर्जित आश्रम नहि भोजन जल पान।
वरष हजार बहुत एत गत भेल रामचरण में ध्यान॥
सगुन ब्रह्म अपनैका देखल निर्गुन मन अनुमान।
'चन्द्र' सुकवि भन लाभ एहन सब त्रिभुवन शुनल न कान॥

—मि० रा०, बा, अ० ३, पृ० २८

'अध्यात्मरामायण' के बालकाण्ड में मिथिलानगर का वर्णन नहीं किया गया है। वहाँ विश्वामित्र सहित राम के विदेह नगर में पहुँचने की सूचना भर है। तुलसीदास ने मिथिलापुरी का वर्णन किया है, किन्तु उस वर्णन में कोई विशेषता नहीं है। कविवर चन्दा झा ने मिथिला के वर्णन में कुछ नई बातें भी जोड़ी हैं तथा उनका जमकर वर्णन किया है, क्योंकि वह कवि की मातृभूमि भी है। कवि तिरहुत की पावनता, यज्ञभूमि विद्योदधि, उच्चैश्रवा सदृश घोड़ों एवं पुरन्दर सदृश नृपतियों आदि वस्तुओं की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। वह वहाँ के राजकुमारों की उदारता, विद्या-विनय-सम्पन्नता, शौर्य, शीलता, धर्मपरायणता आदि गुणों का उल्लेख करता है। वह वहाँ की सुन्दरी रमणियों का उल्लेख करने से भी नहीं चूकता——

नारी सुनयना शुभमती कुलदैवत लज्जावती।
सकल रसज्ञा नतिमती मत-मतङ्गज-वर-गती॥

—मि० रा०, बा०, अ० ३, पृ० ३१

जनक की फुलवाड़ी तथा राम-सीता के पूर्वानुराग के चित्रण में कवि तुलसीदास से प्रभावित है। विवाह की रहस्यमय स्थिति का सङ्केत अन्ततः राजा जनक नारद की गोपनीय

मन्त्रणा की पृष्ठभूमि में करते हैं जिसका आधार 'अध्यात्मरामायण' ही है। 'अध्यात्मरामायण' में नारद राम के परमतत्व का उल्लेख करते हुए सीता का योगमाया होना बतलाते हैं:—

योगमायापि सीतेति जाता वै तव वेश्मनि।
अतस्त्वं राघवायैव देहि सीतां प्रयत्नतः।।—अ० रा०, बा०, सर्ग ६।६५

कवि चन्द ने अपने काव्य में इस प्रसङ्ग को तद्वत प्रतिष्ठित किया है—

योगमाया थिकथि सीता राम विभु भगवान।
देब तनिकहि हिनक पति ओ थिकथि सत्य न आन।।
—मि० रा०, बा०, अ० ३, पृ० ५२

अध्यात्मरामायणकार और तुलसीदास दोनों ने सीता की विदाई का भाव-विह्वल चित्रण किया है। कवि चन्द ने इनकी परम्परा से आगे बढ़कर कतिपय नई अभिव्यञ्जनाएँ की हैं। बेटी की विदाई के अवसर पर मिथिला में गाये जाने वाले कारुणिक, मर्मभेदी 'समदाउनि' गीत की योजना कवि ने सीता की विदाई के अवसर पर की है और निश्चित रूप से कवि एक संवेदनात्मक स्थिति उत्पन्न कर सकने में समर्थ हुआ है। जनक के हृदय की करुणामिश्रित विह्वलता यहाँ द्रष्टव्य है—

तुअ बिनु आज भवन भेल रे, घन विपिन समान।
जनु ऋधि सिधिक गरुअ गेल रे, मन होइछ भान।।
परमेश्वरि महिमा तुअ रे, शिव बिधि नहि जान।
मोर, अपराध छमब सब रे, नहि याचब आन।।
जगत जननि काँ जग कह रे, जन जानकि नाम।
नहर नेह नियत नित रे, रह मिथिला धाम।।
शुभमयि शुभ शुभ दिन रे, थिर पति अनुराग।
तुअ सेबि पुरल मनोरथ रे, हम सुखित सभाग।।
—मि० रा०, बा०, अ० ३, पृ० ५३

परशुराम के मान-मर्दन की घटना तथा भरत का अपने मामा के साथ ननिहाल जाने का वर्णन कवि ने 'अध्यात्मरामायण' के अनुरूप ही संक्षेप में किया है। बालकाण्ड के अन्त में कवि ने जहाँ छन्द परिवर्तन किया है, वहाँ उसने सीता की महामाया रूप में 'गीतगौरी योगिया' में स्तुति की है जो मैथिल जनपद की शाक्तगीत-परम्परा की याद दिलाता है।

चन्द कवि कृत रामायण के अयोध्या काण्ड के प्रारम्भ के श्लोकों पर तुलसीदास की स्पष्ट छाप है। कवि ने तुलसी के **'यस्याङ्के च विभाति भूधर सुता देवापगा मस्तके'** वाले श्लोक की अनुकृति में शङ्कर की आराधना के लिए शार्दूल विक्रीड़ित छन्द में प्रस्तावना निर्मित की है:—

भाले बालकलाकरं गलगरं वामाङ्गेवामाधरं।
चञ्चन्मौलिसरिद्वरं वृषचरं सर्व्वप्रदं निर्द्दरन्।।

बन्दे पिङ्गजटं मनोहरनटं विश्रान्तिभूसद्वटं।
श्रीमन्निष्कपटं सुकृतिकपटं भ्राजद्विभूतिच्छटम्॥
—मि० रा०, पृ० ६५

अयोध्याकाण्ड में कवि ने नव अध्यायों में क्रमशः 'अध्यात्मरामायण' के नव भागों की सामग्री का सञ्चयन कर दिया है। राम के पास नारद का उद्बोधन के लिए आना, रामराज्याभिषेक की तैयारी तथा वशिष्ठ का संवाद, राजा दशरथ द्वारा कैकेयी को वर-प्रदान, राम का माता से विदा लेकर सीता-लक्ष्मण सहित वन-प्रस्थान, गङ्गा पारकर भरद्वाज एवं वाल्मीकि से मिलना, सुमन्त्र का प्रत्यागमन, दशरथ का स्वर्गवास, भरत का लौटकर पिता की अन्त्येष्टि करना, भरत का वन प्रस्थान, गुह तथा भरद्वाज से भेंट, चित्रकूट-दर्शन, भरत-राम-मिलन, भरत का अयोध्या लौटना एवं रामचन्द्र का अत्रि मुनि के आश्रम पर प्रस्थान आदि ये सभी प्रसङ्ग अत्यन्त संक्षिप्त ढङ्ग से कवि चन्द ने वर्णित किये हैं। 'अध्यात्मरामायण' के अयोध्या काण्ड की भाँति ही यहाँ भी राम लक्ष्मण के प्रति, वामदेव अयोध्या के नागरिकों के प्रति, लक्ष्मण निषाद राज के प्रति, तथा वाल्मीकि राम के प्रति अपने उपदेश कथन करते हैं और इस बात की उद्घोषणा करते हैं कि राम अनादि विष्णु हैं और सीता उनकी माया शक्ति श्री लक्ष्मी हैं। इन समस्त प्रकरणों में राम का वेदान्त सम्यक परमब्रह्म रूप निरूपित करना ही कवि का अभीष्ट प्रतीत होता है। राम के सकुशल राज्याभिषेक के लिए 'अध्यात्मरामायण' की भाँति ही कौशल्या लक्ष्मी एवं दुर्गा की पूजा करती हैं। कौशल्या के दुर्गा पूजा के अवसर पर कवि ने जिस गीत की रचना की है, उसमें मैथिल-जनमानस की कोमलता और नारी हृदय की भावविह्वलता अपने ढङ्ग से अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त हो सकी है। कौशल्या की मनौती तो देखते ही बनती है—

से करु देवि दयामयि हे, थिर रह महराज।
पूरिअ हमर मनोरथ हे, केकयि नहि बाज॥
नृपतिक हृदय केकर वश हे, ककरो नहि मीत।
सौतिनि सामरि सापिनि हे, मन हो भयभीत॥
तुअ शङ्करि हम किङ्करि हे, यावत रह देह।
तुअ पद-कमल नियत रह हे, मोर अचल सिनेह॥
रामचन्द्र सीतापति हे, होयता युवराज।
त्रिभुवन आन एहन सन हे, नहि हित मोर काज॥
—मि० रा०, पृ० ७०

'अध्यात्मरामायण' में अरण्यकाण्ड की सामग्री १० सर्गों में समन्वित है। 'मिथिला भाषा रामायण' में इन्हीं सर्गों की सामग्री को कवि ने अपने ढङ्ग से संक्षेप में १० अध्यायों में नियोजित किया है। इस अरण्यकाण्ड में भी रचयिता ने विराधवध, शरभङ्ग-सुतीक्ष्ण-भेंट, अगस्त्य से भेंट, पञ्चवटी-निवास तथा लक्ष्मण-उपदेश, सूर्पणखा को दण्ड तथा खरादि राक्षसों का बध, रावण का मारीच के समीप गमन, मारीच-बध, सीताहरण, रामविलाप, जटायु

से भेंट, कबन्ध का उद्धार एवं शबरी से भेंट आदि प्रसङ्गों को 'अध्यात्मरामायण' के आधार पर ही वर्णित किया है। राम को दार्शनिक एवं भक्तिपरक प्रतिष्ठा में हमेशा उसका दृष्टिकोण 'अध्यात्मरामायण' से उपोद्वलित है। वह हमेशा राम के परमात्म तत्त्व का सङ्केत करता चलता है और राम के वेदान्त सम्मत ब्रह्मरूप की प्रतिष्ठा करता है। अरण्यकाण्ड के प्रारम्भ में स्वतः राम अपने मायामय ब्रह्मरूप का परिचय कराते हुए लक्ष्मण से कहते हैं:——

आगाँ हम पाछाँ अहाँ, सीता माझहि ठाम।
ब्रह्म जीव माया जेहनि, चलु दण्डक बन नाम।।——मि० रा०, पृ० १३२

यह कथन 'अध्यात्मरामायण' के एतद् विषयक प्रसङ्ग से लिया गया है जहाँ राम ने ठीक यही बात लक्ष्मण से कही है:——

अग्रे यास्याम्यहं पश्चात्वमन्वेहि धनुर्धरः।
आवयोर्मध्यगा सीता मायेवात्मपरात्मनोः।।
——अ० रा०, अरण्य काण्ड, १।१३

इसी प्रकार शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, जटायु, कबन्ध, शबरी आदि द्वारा की गई स्तुतियों से राम के परब्रह्म परमात्मा स्वरूप तथा अनन्तता की पुष्टि होती है। अध्यात्मरामायणकार ने इन स्तुतियों में एक ओर तो राम के अद्वैत रूप की प्रतिष्ठा की है और दूसरी ओर सगुण रूप में उनकी भक्ति-भावना की अमोघता की प्रतिष्ठा की है। 'अध्यात्मरामायण' में विराध मुक्त होकर राम से उनकी अनन्य भक्ति की याचना करता है, वह रामचरणारविन्द का स्मरण, वाणी द्वारा उनका नाम-सङ्कीर्तन, कर्ण द्वारा कथामृतपान, हाथ द्वारा चरण कमलों का पूजन एवं शिर द्वारा उनके चरणों में प्रणाम व्यक्त करने की आकांक्षा करता है।[^] चन्द कवि के रामायण में भी विद्याधर विराध वस्तुतः यही आकांक्षा करता है, क्योंकि माया से ऊपर उठने के लिए प्रभु की कृपा अपेक्षित है।

'अध्यात्मरामायण' में राम द्वारा खर एवं विशाल सेना का वध सुनकर रावण, राम के अवतार की प्रतीति करता है। वह सोचता है कि यदि मैं भगवान राम के हाथों मारा जाउँगा तो बैकुण्ठ प्राप्त करूँगा, नहीं तो राक्षसों का राजभोग तो उसे उपलब्ध होगा ही। इसलिए वह विरोध-बुद्धि द्वारा राम के सामीप्य प्राप्ति में तत्पर होता है।[^] कवि चन्द ने भी इस प्रसङ्ग में इसी तरह की उद्भावना करते हुए रावण की विरोध-बुद्धि का उल्लेख किया है :——

जौं मृति तनिकहि हाथ, राज्य करब बैकुण्ठ में।
नहिं तौं सहित समाज, लङ्कापति बनले रहब।।
प्रभु सौं करब विरोध, लड़ब भिड़ब रणमे मरब।
से करता जौं क्रोध, बनत काज सभटा हमर।।——मि० रा०, पृ० १४८

राम के चरित में जहाँ कहीं भी अलौकिकता का निरूपण हुआ है, कवि ने 'अध्यात्मरामायण' का अनुसरण किया है। उसके सामान्य वर्णनों पर भी 'अध्यात्मरामायण' की छाप

है। किन्तु इन वर्णनों में जहाँ कहीं अधिक भावात्मक प्रसङ्ग आये हैं, वहाँ कवि ने अपनी मौलिक काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। 'अध्यात्मरामायण' में मारीच-वध में तत्पर राम के अपशकुन की आशङ्का से सीता का हृदय विह्वल हो उठता है। जब लक्ष्मण उनके आदेशों का झट पालन नहीं करते, तब वे उन पर दोषारोपण करती हैं। वे उन्हें राम का विनाश चाहनेवाले भरत द्वारा प्रेषित बतलाती हैं और कहती हैं कि तुम मेरे अपहरण हेतु आए हो, किन्तु राम तुम्हारी मनोभावना को नहीं जानते; जहाँ तक मेरी स्थिति है, मैं राम के अतिरिक्त किसी का स्पर्श नहीं कर सकती। कवि चन्द ने इस प्रसङ्ग को भावात्मक ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। उनकी सीता को जनक की पुत्री तथा ज्ञानभूमि मिथिला के नैहर होने का गर्व है। वे रामरूपी घन के लिए सौदामिनी सदृश हैं। सीता के हृदय की भावाकुलता एवं व्यथा का कवि चन्द ने अत्यन्त मनोरम चित्रण किया है। नारी-सुलभ मनःस्थिति में सीता की पीड़ा एवं कसक का चित्रमय रूप कवि ने उपस्थित किया है—

सकल कपट हम जानल मन में।
स्त्रीहर्त्ता अहँकै रघुनन्दन नहि जनइत छल हथि हा सपनमे।।
भेल मनोरथ लाभ अहाँकाँ भरत शिखाय पठाओल वनमे।
भरत अहाँक अधीनि होयब नहि वरु हम प्राण त्यागि देब छनमे।।
जाय मिलब हम सौदामिनि सनि रामचन्द्र नव सुन्दर घनमे।
जनक जनक मिथिला-महि नैहर ज्ञानभूमि सभ लोक सुजन मे।।

—मि० रा०, पृ० १५३

चन्द्र कवि ने किष्किन्धा काण्ड के प्रारम्भ में राम को 'जगति दत्तमायाभ्रमः' रूपमें चित्रित किया है जो तुलसी के 'मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ' के समतुल्य है। दूसरे श्लोक में कवि ने 'धृतविप्रवेषः मारुतसुत' का स्मरण किया है। 'अध्यात्मरामायण' के किष्किन्धाकाण्ड के नवसर्गों में सुग्रीव-भेंट, बालि-वध, तारा-विलाप, सुग्रीव-राजत्व, क्रिया-योग, राम-शोक, लक्ष्मण का किष्किन्धापुरी-गमन, सीतान्वेषण में तत्पर वानरों का गुहाप्रवेश, स्वयम्प्रभामिलन, वानरों का प्रायोपवेशन, सम्पाती-मिलन, सम्पाती की आत्मकथा एवं समुद्रोलङ्घन की मन्त्रणा आदि प्रकरण क्रमशः वर्णित किये गये हैं। प्रस्तुत रामायण के रचयिता ने भी सामान्य रूप से इसी सामग्री को आधार बनाया है। 'अध्यात्मरामायण' के किष्किन्धाकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में क्रियायोग का परम्परागत वर्णन किया गया है जो सामान्यतया पुराणों का प्रतिपाद्य विषय रहा है; किन्तु यहाँ कवि ने 'वेदतन्त्र पूजाक प्रकार' कहकर उस प्रसङ्ग को सीमित सा कर दिया है। जहाँ तक इस काण्ड में भक्ति-भावना एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, कवि 'अध्यात्मरामायण' से पूर्णरूपेण प्रभावित है। सुग्रीव राम से सीताहरण का उल्लेख करते हुए अपनी आँखों देखी घटना का वर्णन करते हैं और श्री विश्वमाता सीता के हरण पर पश्चाताप प्रकट करते हैं। कवि ने इस प्रसङ्ग को प्रभावोत्पादक ढङ्ग से प्रस्तुत किया है—

रे रे चोर कठोर छोड़ हमरा कानैत भीता छली।
हा आकाशक पन्थ राक्षसबली से दुष्ट-नीता छली।।

हा नै जानल गेल दुष्ट धरितौं श्रीविश्वमाता छली।
मन्त्री सङ्ग यथार्थ देखल रमा सौन्दर्य सीता छली।।
——मि० रा०, पृ० १६८

हनुमान, सुग्रीव, बालि, तारा, स्वयंप्रभा, जाम्बवन्त आदि सभी चरित्रों के द्वारा राम की अलौकिकता का उल्लेख हुआ है। बालि भी राम की भक्ति में विशेष बुद्धि से प्रवृत्त होता है—**'प्रेयसि धति संग्राम राम रण अर्पब प्राणे।'** राम के प्रति उसकी अहंमन्यता और पुनः भक्ति-भावना का चित्रण कवि ने 'अध्यात्मरामायण' के अनुरूप किया है। स्वयंप्रभा भी त्रेतायुग में पृथ्वी का भार हरण करनेवाले रामावतार के प्रति अपनी भक्तिभावना व्यक्त करती है। वानरों के प्रायोपवेशन के समय हनुमान अङ्गद से 'अध्यात्मरामायण' की भाँति ही यहाँ रामरूप में नारायण के मनुष्यावतार, सीता का माया का अवतार, लक्ष्मण का शेषावतार तथा वानरों का देवावतार रूप में उल्लेख करते हैं——

नारायण मानुष अवतार। छल बल-हरता अवनी-भार।।
सत्य कहैछी निश्चय मानि। सीता विष्णुक माया जानि।।
लक्ष्मण थिकथि शेष-अवतार। नर-लीला कर लोकाचार।।
हमरहु सबहि लेल अवतार। थिकहुँ देवता चरित उदार।।
——मि० रा०, पृ० १९२

सम्पाती के प्रति चन्द्रमा के उपदेश को कवि चन्द्र ने 'अध्यात्मरामायण' की ही तरह निरूपित किया है जिसमें जीव की देहजनित दुःखमूलकता, कर्म, शरीर-धारण-प्रक्रिया और उसके क्लेश, अज्ञान-जनित चेष्टाओं आदि का चित्रण किया है। इन सब प्रसङ्गों के साथ कवि ने स्थल-स्थल पर अपनी काव्यात्मक प्रतिभा से अद्‌भुत काव्य-प्रवाह उत्पन्न किया है। किष्किन्धाकाण्ड के अन्त में हनुमान की वीरता का बड़ा ही प्रभावशाली चित्रण कवि ने किया है। जाम्बवन्त द्वारा लङ्का-प्रयाण के लिए अनुप्रेरित हनुमान स्वतः कहते हैं:——

देखादेखी मध्य हम वारिनिधि फानि फेरि,
सदल सकुल दशवदन के मारिकें।।
समर समक्ष प्रतिपक्ष लक्ष कोन अछि,
पवन प्रतक्ष बल लङ्कापुर जारिकें।।
'चन्द्र' भन रामचन्द्र परसन हेतु आगाँ,
भूधर-सहित लङ्का धरबि उखारिकें।।
जाम्बवान युवराज कहु को करब काज,
आनि देब बिनु श्रम जनक-कुमारिकें।।
——मि० रा०, पृ० २००

इस काण्ड के अन्त में कवि ने भगवान शङ्कर की स्तुति की है। कवि शैव थे। इस तथ्य की पुष्टि उनकी 'महेशवाणी' की रचनाओं से भी होती है। अतः सर्गान्त में भगवान शङ्कर की

भक्तिभावपूर्ण स्तुति अत्यन्त स्वाभाविक है। मैथिल विद्वान शशिनाथ झा ने तो कवीश्वर चन्दा झा को शैव मानकर उसी के कारण 'अध्यात्मरामायण' का प्रभाव ग्रहण करना समुपयुक्त बतलाया है और लिखा है कि "कवीश्वर जी प्रधानतः शैव छलाह। अतएव श्रीशिवप्रोक्त अध्यात्मरामायणक मुख्य आधार मानि मैथिली रामायण के रचना कैलन्हि अछ।"[१०]

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के सुन्दरकाण्ड के प्रारम्भ में 'रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं' के रूप में राम की वन्दना की है। तदुपरान्त उन्होंने 'अतुलित बलधाम, हेमशैलाभदेह, दनुजवनकृशानु, ज्ञानिनामग्रगण्य, सकलगुण निधान, वानराणामधीश, रघुपतिप्रियभक्त, वातजात हनुमान' की स्तुति की है। कवि चन्द्र ने भी सुन्दरकाण्ड की रचना हनुमतवन्दना से ही प्रारम्भ की है। पुनः कवि ने 'अध्यात्मरामायण' के सुन्दरकाण्ड की पाँच सर्गों की सामग्री को संक्षिप्त रूप में चार अध्यायों में प्रस्तुत किया है। इस काण्ड की प्रमुख घटनाएँ हनुमान द्वारा समुद्रलङ्घन, लङ्काप्रवेश, रावण-वाटिका-प्रवेश, रावण द्वारा सीता का भयभीत किया जाना, जानकी-भेंट, वाटिका-विध्वंस, ब्रह्मपाशबन्धन, हनुमानरावण-सम्वाद, लङ्कादहन, सीता से विदा होना एवं रामचन्द्र को सन्देश देना आदि है। इस अंश में सर्वत्र हनुमान का ही चरित प्रधान रूप से चित्रित किया गया है। किन्तु कतिपय स्थलों पर कवि ने इस बात का सङ्केत किया है कि राम त्रेता में नारायण के अवतार हैं। इन प्रसङ्गों में कवि ने निश्चित रूप से 'अध्यात्मरामायण' से प्रभाव ग्रहण किया है। रावण के अनुचरों द्वारा हनुमान की पूँछ में आग लगाये जाने की स्थिति का प्रत्याख्यान करते हुए अध्यात्मरामायणकार ने लिखा है कि जिनका नाम-स्मरण मात्र संसार के ताप त्रय का विमोचन करता है उस राम के दूत का प्राकृत अग्नि भला क्या बिगाड़ सकता है। 'अध्यात्मरामायण' की इस अभिव्यक्ति का अनुसरण करते हुए कवि चन्द ने लिखा है—

जनिक नाम जपि छूट तिन ताप। भवकृत-दोष-लेश नहिं व्याप॥
तनि रघुवरक दूतवर जानि। प्राकृत अनल कयल नहिं हानि॥
—मि० रा०, पृ० २३४

'वाल्मीकीय रामायण' और तुलसीदास के 'रामचरितमानस' के सुन्दरकाण्ड का वैशिष्ठ्य उसके काव्यात्मक उत्कर्ष में माना जाता है। कवि चन्द का सुन्दरकाण्ड 'अध्यात्मरामयण' के सुन्दर काण्ड का ही अनुसरण करता है, फिर भी इस काण्ड का काव्यात्मक दृष्टि से अन्यतम महत्त्व है। कवि की प्रतिभा ने कतिपय भावनात्मक स्थलों को मार्मिकता के साथ उद्घाटित किया है। इस दृष्टि से रावण द्वारा अपहृत और प्रताड़ित अशोक वाटिका में स्थित सीता का मार्मिक चित्रण द्रष्टव्य है। सीता की मनस्थिति को कवि ने गीतों की कड़ी में गूँथने का प्रयास किया है। सीता की व्यथासिक्त विवशता में जिस मानवीयता का स्वर प्रस्फुटित हुआ है, मैथिली साहित्य की गीत परम्परा में कवि ने उसे अनुस्यूत किया है—

केहन विधि लिखल विपति-तति भाल।
कुल पवित्र कुल-कामिनि हमरहि, कठिन विपति जंजाल।
रघुनन्दन पति देवर लक्ष्मण, जनि डर काँपय काल॥

चोर दशानन त्रास देखाबय, अनुचित कह वाचाल।
दनुज - वधू कह मारब काटब, चाटब शोणित लाल॥
—मि० रा०, पृ० २१४

हनुमान द्वारा राम की अमोघता का बखान किये जाने पर क्रुद्ध रावण हनुमान को वाचाल कहता है और उनके सिर पर काल-नर्तन की सूचना देता है। इससे हनुमान के मन में रावण के प्रति जो आवेशमयी प्रतिक्रिया हो सकती है, उसका सहज स्वाभाविक रूप यहाँ प्रस्तुत हो सका है। हनुमान की फटकार बड़े ही श्लाध्य ढङ्ग से प्रस्तुत की गई है—

अपनहिं मन नृप बनल सनल छह,
कहतौ के गुरु तोरा, शुन स्त्री-चोरा, कुल-बोरा।
हित अनहित अनहित हित कयलह,
प्रभुक न कयल निहोरा, मति घोरा शुभ थोरा॥
—मि० रा०, पृ० २२९

सामान्य रूप से अधिकांश रामकाव्य के रचयिताओं ने वर्णन की दृष्टि से लङ्का काण्ड को विस्तार दिया है। कवि चन्द्र का लङ्काकाण्ड निश्चित रूप से 'अध्यात्मरामायण' के युद्ध काण्ड की पृष्ठभूमि में रचित है। परिवर्तन यह है कि कवि चन्द ने उस काण्ड का नाम युद्ध काण्ड न देकर लङ्का काण्ड दिया है। लङ्का काण्ड के प्रारम्भ में कवि ने तुलसी की भाँति राम और शङ्कर की स्तुति की है। अनुष्टुप छन्द में राम और शङ्कर की वन्दना के उपरान्त ही कवि लङ्का काण्ड के निर्माण में सन्निविष्ट हुआ है—

मुकुंदं माधवं वन्दे समुद्रे सेतुकर्त्तारम्।
शयानन्दर्भशय्यायां दशग्रीवस्य हन्तारम्॥
उमेशं सर्व्वदं वन्दे महाकालं गुणातीतम्।
गरैः काकोदरैः प्रेतैः पिशाचाद्यैश्च निर्भीतम्॥
—मि० रा०, पृ० २४३

इस काण्ड में राम और शङ्कर की समन्वित वन्दना का उद्देश्य कदाचित् अर्वाचीन कवियों द्वारा राम और शिव-भक्ति की एकान्विति प्रस्तुत करना रहा हो, क्योंकि इस काण्ड में राम द्वारा शिव की तथा शिव द्वारा राम की स्तुति कवि ने करायी है।

कवि चन्द्र ने लङ्का काण्ड की व्यापक सामग्री को बड़ी तन्मयता से वर्णित करने का प्रयास किया है। 'अध्यात्मरामायण' में युद्ध काण्ड की सामग्री १६ सर्गों में वर्णित है जिसमें वानर-सेना का प्रस्थान, रावण द्वारा विभीषण-तिरस्कार, विभीषण शरणागति, समुद्रत्रास, सेतु-बन्धन, समुद्र उत्तरण, लङ्का-निरीक्षण, रावण-शुक-संवाद, शुका का पूर्वचरित्र, माल्यवान का रावण को समझाना, वानर-राक्षस संग्राम, लक्ष्मण-मूर्च्छा, हनुमान द्वारा औषधि लाना, राम-रावण-संग्राम, रावण-कालनेमि-संवाद, कालनेमि-कपट, हनुमान द्वारा उसका वध, लक्ष्मण-चैतन्य, रावण द्वारा कुम्भकर्ण का जगाना, कुम्भकर्ण-वध, मेघनाद-वध, रावण-यज्ञ-विध्वंस, मन्दोदरी द्वारा रावण का

समझाया जाना, राम-रावण-संग्राम, रावण-वध, विभीषण-राज्याभिषेक, सीताअग्नि-परीक्षा, देवताओं द्वारा राम-स्तुति, सीतासहित अग्निदेव का प्राकट्य, अयोध्या-प्रस्थान, अयोध्या-यात्रा, भरद्वाज आतिथ्य, भरत-मिलाप, श्री रामराज्याभिषेक एवं वानरों की विदाई तथा ग्रन्थ की प्रशंसा आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रस्तुत कवि ने इन्ही घटनाओं का १६ अध्यायों में सविस्तार वर्णन किया है। उसका अध्यात्मिक एवं भक्तिपरक दृष्टिकोण निश्चित रूप से 'अध्यात्मरामायण' से उपोद्वलित है। वह राम की अनन्तता तथा सीता के लक्ष्मी का अवतार होने का समय-समय पर उसी प्रकार उल्लेख करता चलता है जिस प्रकार अध्यात्मरामायणकार ने किया है। कुम्भकर्ण रावण से इस स्थिति का बोध कराते हुए कहता है:—

रामचन्द्र अनन्त ईश्वर, काल-शासन वाण।
धनुष सौं छुटि जखन लागत, बचत अहँक कि प्राण।।
लेल अछि अवतार लक्ष्मी, राक्षसान्तक काज।
काल-काली राम-सीता, प्राप्त अहँक समाज।।

—मि० रा०, पृ० २४९

इसी प्रकार विभीषण भी बार-बार रावँण को समझाते हुए कहता है कि सीता हरि की माया, जगत माता हैं तथा "विश्वजननि वैदेही देवी रामचन्द्र भगवान", किन्तु रावण उससे प्रभावित नहीं होता और राम से युद्ध में प्रवृत्त होता है। विभीषण के हृदय में रामभक्ति का उद्रेक कवि ने बड़ी सजीवता से चित्रित किया है। राम द्वारा वर माँगने के लिए विवश किये जाने पर विभीषण राम से उनकी सहज-पावन भक्ति की याचना करते हुए भावविह्वल होकर कहता है—

कर्म्मक-बन्धविनाश हेतु हम, भक्ति ज्ञान काँ पाबी।
देल जाय परमार्थ ध्यान निज, अपनैंक दास कहाबी।।
विषय-सुखक वैराग्य बनल रह, अपनैक पद थिर भक्ती।
अपनैं सौं प्रभु किछु दुर्ल्लभ नहिं, परमेश्वर वरशक्ती।।
विमल विराग हमर जन योगी, शान्त हृदय में वासा।
सीतासहित हमर अछि निश्चय, करब ध्यान प्रत्याशा।।

—मि० रा०, पृ० २५४

'अध्यात्मरामायण' के युद्ध-काण्ड में शुक रावण को बहुविधि समझाने का प्रयास करते हैं कि राम के प्रति विरोध ठीक नहीं, क्योंकि 'वे साक्षात् आदि नारायण परमात्मा हैं और सीता जगत् की कारणरूपा साक्षात् जगद्रूपिणी चित्तशक्ति हैं।'[११] शुक रावण को सत्सङ्गति का उपदेश देते हैं तथा शरणागतवत्सल मरकतमणि कान्तिवाले, धनुर्वाणधारी श्री राघव का सीता सहित तथा सुग्रीव, लक्ष्मण, विभीषण द्वारा चरण सेवित रूप में उपासना करने की मन्त्रणा देते हैं। कवि चन्द्र ने भी 'अध्यात्मरामायण' की इस सारी सामग्री का समाहार शुक के प्रसङ्ग में कर दिया है। शुक नाना प्रकार से रावण को प्रबोधन प्रदान कराने का प्रयास करते हैं। अन्ततः

वे रामसीता की अमोघता का उल्लेखकर रावण को सीताहरण से विरत करना चाहते हैं तथा उसे राम की शरण में जाने के लिए प्रेरित करते हैं:—

विधाता सर्व्वलोकानामयं रामो धनुर्द्धारी।
मनोवाचामदृश्योऽसौ प्रभुस्सर्व्वत्र सञ्चारी।।
रघोर्व्वंशे समुत्पन्नस्समर्थो भाति संसारी।
घनानां घोरपापानां खलानां गर्व्वसंहारी।।
कृतं कार्य्यं त्वया नेष्टं छलान्नीतात्र वैदेही।
शरण्यस्सेव्यतां सम्यक भव त्वं तत्पदस्नेही।।
हृता भ्रान्त्या जगन्माता प्रशान्त्यातां प्रयच्छास्मै।
असून् संरक्ष तद्वाणैरनीती रोचते कस्मै।।

—मि० रा०, पृ० २६३

लङ्काकण्ड के अधिकांश प्रकरण 'अध्यात्मरामायण' के तुल्य हैं, किन्तु कहीं-कहीं पर कवि का वैशिष्ठ्य भी महत्वपूर्ण या विवेचनीय है। लङ्काकाण्ड के पाँचवें अध्याय में कवि ने तुलसीदास के रामचरितमानस की भाँति अङ्गद के दूतकर्म का विस्तृत एवं काव्यात्मक वर्णन किया है। राम के वाणों द्वारा रावण के छत्र, मुकुट एवं मन्दोदरी के श्रुतिताटङ्कों (कर्णफूल) का गिरना कवि ने चित्रित किया है। रामचरित मानस के लङ्काकण्ड में रावण अपने मुकुट गिरने को अपशकुन न मानकर अभिमान से कहता है—"**सिरउ गिरे सन्त सुभ जाहीं। मुकुट गिरे कस असगुन ताही।**" चन्द कवि का रावण इसी प्रकार की दम्भभरी वाणी में कहता है कि '**सिर कहलय बढ़इछ विभव**' अर्थात् शिर कटने से तो हमारे विभव में वृद्धि होती है। रामचरित मानस में मन्दोदरी इसे बड़ा असगुन मानती है और रावण से सजल-नयन हाथ जोड़कर रामविरोध परिहार के लिए विनय करती है। तुलसीदास ने मन्दोदरी के माध्यम से राम के परब्रह्मत्व का निरूपण करते हुए अपने वेदान्त ज्ञान को मुखरित किया है:—

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग विश्रामा।।
भृकुटि विलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन माला।।
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा।।
श्रवन दिशा दस वेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी।।

मन्दोदरी द्वारा राम के इस अमोघ रूप का वर्णन सुनकर रावण विहँस उसकी अवमानना करता है और नारि के स्मृतिपरक आठ अवगुणों की चर्चा कर बैठता है। कवि चन्द्र ने अपने को इस प्रकार के शास्त्रीय प्रसङ्ग से बचाकर सीधे-सीधे रूप में रावण के प्रति मन्दोदरी की अभ्यर्थना का वर्णन किया है। मन्दोदरी के इस कथ्य में व्यावहारिकता का सम्मिश्रण हुआ है। यथा—

अनुज न तनुज न अपन सुतनु नहि। सेना रक्षा करति कि हाय।।
लौकिक उपलक्षण भेल क्षण। टिटही टेकल पर्व्वत जाय।।

—मि० रा०, पृ० २६७

'अध्यात्मरामायण' के युद्धकाण्ड के पाँचवें सर्ग में अङ्गद का दूत-कर्म वर्णित नहीं है। 'हनुमान्नाटक' में रावण एवं अङ्गद के पारस्परिक संवादों को बड़े ही श्लाघ्य ढङ्ग से प्रस्तुत किया गया है। तुलसीदास ने भी अङ्गद के दूत-कर्म एवं अङ्गद-रावण-संवाद को बड़े ही नाटकीय ढङ्ग से आयोजित किया है। कवि चन्द्र ने भी इस प्रसङ्ग का रोचक ढङ्ग वे वर्णन किया है। रावण अपने पौरुष का बखान करते हुए अङ्गद से कहता है कि मेरे पैर यमराज दबाता है, रवि-किरणें मेरी यथोचित सेवा करती हैं, कम्पित लोक-पालगण हाथ जोड़े मेरी आज्ञा की प्रतीक्षा करते हैं, मेरी तलवार देखकर देवबधुओं एवं पत्नियों के गर्भ श्रवित हो जाते हैं; फिर कौन राम, कहाँ के लक्ष्मण ? अतः तुम सभा के उपयुक्त वाणी का उच्चारण करो :—

हमर पयर जाँतथि यमराजा, मन्द मन्द रवि किरण पसार।
आठो लोकपाल भय-कम्पित, बद्धाञ्जलि भय वचन उचार।।
देववधू पन्नगी आदि काँ, गर्भ स्रवित हो देखि तरुआरि।
केथिक राम कहाँ को लक्ष्मण, वचन रचन कर सभा विचार।।

—मि० रा०, पृ० २७३

कवि चन्द्र का प्रस्तुत वर्णन निश्चित रूप से 'हनुमान्नाटक' से प्रभावित है। रावण की दर्पभरी वाणी सुनकर अङ्गद आवेश में आकर उसका प्रत्युत्तर देते हैं कि हे रावण, तुम्हारी मति वन्ध्या हो गई है, आँखें अन्धी हो गई हैं, तुम्हें राजकाज का लेश भी ज्ञान नहीं है। श्रीराम के हाथों तुम्हारे सभी शिर कटने वाले हैं और गिद्ध एवं सियार के मनोविनोद के साधन बनने वाले हैं :—

शुन दशकन्ध बन्ध्य-मति लोचन, अन्ध लेश नहि भूपति ज्ञान।
रे हतप्राण त्राण के करतौ, मृग-विशेष व्यर्थहि जनु फान।।
श्री रघुवीर-कर-मुक्त विषम शर, खसत समर सभटा तोर भाल।
बाल वृद्ध मिलि गृद्ध काक-कुल, क्रीड़ाकुल सञ्चरत शृगाल।।

—मि० रा०, पृ० २७४

'रामचरितमानस' के लङ्काकाण्ड में रावण इस बात का उल्लेख करता है कि उससे बढ़कर कौन वीर है जो कई बार अपने शिरों को काटकर अग्नि को भेंट कर चुका हो और जिसके साक्षी साक्षात् गौरीपति शङ्कर हों। रावण ने अपने जलते हुए ललाट में नर द्वारा अपने बध की बात पढ़कर विधि की वाणी को असत्य मानकर उसका उपहास किया था। उससे वह भयभीत न होकर ब्रह्मा की जरठता को ही इसका कारण मानता है। ठीक इसी वस्तुस्थिति का चित्रण प्रस्तुत कवि ने बड़े ही मनोरम ढङ्ग से मौलिकता के साथ प्रस्तुत किया है :—

अपनहि हाथ माँथ दस काटल, होम कयल नहि किछु मन त्रास।
अति प्रसन्न गौरीश देल वर, नव नव सिर भेल मन भेल हास।।

बाँचल विधिक लेख निज भाल मे, मरण मनुष्य-हाथ सौं पाब।।
सकल-लोक-जित बिश भुज हमरा, विधि अति वृद्ध ज्ञान नहि आब।।
--मि० रा०, पृ० २७६

फिर आगे चलकर कवि ने अङ्गद के पैर रोपने की घटना एवं रावण के अनुचरों द्वारा उसे टाले जाने के प्रयास का भी मनोरम वर्णन किया है। 'रामचरित मानस' में रावण जब अङ्गद के पैरों को उठाने चलता है तो अङ्गद द्वारा यह कहे जाने पर कि मेरे पदों के गहे जाने से तुम्हारा उद्धार नहीं, तुम्हें तो राम के चरणों को ग्रहण करना चाहिये, लज्जित हो लौट जाता है। कवि चन्द्र का अङ्गद कहता है कि हे रावण, रघुनन्दन से बैर करने पर तुम्हें किस-किस का पैर नहीं पकड़ना पड़ेगा और उनकी यह वाणी सुन रावण लज्जित हो यथास्थान लौटकर बैठ जाता है:--

कयलह रघुनन्दन सौं बैर। ककर ककर नहि धरबह पैर।।
--मि० रा०, पृ० २८०

सुलोचना द्वारा की गई राम की स्तुति का सङ्गीत की दृष्टि से मैथिली-काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह राम के महेशचापखण्डनकर्त्ता, जनकनगरीअभिमण्डनकर्त्ता, सत्यसन्धमनोज सुन्दर, धनुर्द्धर, पन्नगासन सेतुकारक आदि रूपों के प्रति अपनी भक्ति-भावना अर्पित करती है जो निश्चित रूप से कवि की प्रगाढ़ रामभक्ति का परिचायक है। रावण की मृत्यु पर मन्दोदरी के करुण विलाप से तथा उसकी रामभक्ति भावना के प्रकाशन से भी कवि की रामभक्ति भावना प्रकट होती है। तिरहुत की सङ्गीतमय काव्य-रचना-पद्धति ने रामकाव्य के इस अंश को अधिक संवेदनशीलता प्रदान की है। यथा,

छल छथि पति दशमाथ, हे माधव, तनि विनु विकलि अनाथ।
ओ अरि-भाव बढ़ाय, हे माधव, प्रभु-तन गेलाह समाय।।
हम पापिनि सहि ताप, हे माधव, परिणत भेल फल पाप।
हम घननादक माय, हे माधव, जलनिधि-शोक समाय।।
प्रभुक चरण भरि नयन, हे माधव, देखल मुक्तिक अयन।
--मि० रा०, पृ० ३३८

यों तो कवि चन्द्र ने लङ्काकाण्ड में स्थान-स्थान पर युद्ध का बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन किया है, किन्तु राम और रावण के युद्ध का बड़ा ही ओजमय एवं प्रभावाभिव्यञ्जक वर्णन द्वित्व-वर्ग-प्रधान शैली में किया है। इस वर्णन से कवि की रससिद्धता एवं उसके काव्य-गुणों के प्रभूत ज्ञान का स्पष्ट रूप से पता चलता है:--

रामचन्द्र-हाथ सौं सायक छूट सन्न सन्न।
राक्षसेन्द्र-देह सौं शोणित बह फन्न फन्न।।
देवी नाच मगन नूपुर बाज झन्न झन्न।
देवताक वृन्द कहै रामचन्द्र धन्य धन्य।।
--मि० रा०, पृ० ३३१

रावण के निधन के उपरान्त सभी देवगण स्तुति करने के लिए राम के सम्मुख प्रस्तुत होते हैं। 'अध्यात्मरामायण' में ब्रह्मा देवों के समूह से निकलकर राम की स्तुति करते हैं जिससे राम की अनन्तता की पुष्टि होती है। कवि चन्द्र ने भी अपने ढङ्ग से राम के अद्वैतरूप का बड़ा ही मार्मिक एवं सशक्त चित्रण किया है। राम के अद्वैत रूप का निरूपण करते हुए कवि ने लिखा है:--

वाक अगोचर चित्त अगोचर, के कह केहन कान्ति कहाँ छी।
सूक्ष्म सौं सूक्ष्म विशाल विशाल सौं, ईश्वर छी विभु छी जे जहाँ छी।।
सृष्टिक हेतु अनादि अनामय, ध्यान सौं ध्येय-स्वरूप तहाँ छी।
विष्णु अहाँ छी विरञ्चि अहाँ छी, महेश अहाँ छी कहाँ नै अहाँ छी।।

--मि० रा०, पृ० ३४४

अग्नि सीता को गोद में लेकर प्रकट होते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानो क्षीराब्धि से निःशङ्क रमा प्रकट हो रही हों। अग्नि सीता को राम को सौंपते हैं। इन्द्र अपने को श्रीराम के चरणों का दास घोषित करते हैं और राम-जानकी की स्तुति करते हैं। इन्द्र की राम-सीता अभ्यर्थना से परमात्म और उनकी शक्ति की एकता सिद्ध होती है।

'अध्यात्मरामायण' के रचयिता ने राम-राज्याभिषेक की तैयारी का विस्तृत वर्णन किया है। राम के जटाजूट काट दिये जाते हैं तथा वे नाना प्रकार की रङ्ग-बिरङ्गी मालाओं, अङ्गरागों तथा आभूषणों से सुसज्जित किये जाते हैं। कौशल्या आदि राजमहिषियाँ इसी समय सीता तथा बानर-पत्नियों का प्रसाधन भी करती हैं। किन्तु 'अध्यात्मरामायण' के 'सीता-प्रसाधन वर्णन' एवं चन्द्र कवि के 'सीता प्रसाधन वर्णन में' कुछ अन्तर है। चन्दा झा के रामायण में चन्द्रमुखी सीता का शृङ्गार कौशल्या स्वतः अपने हाथों करती हैं और सीता का मुख देखकर लोकाचार स्वरूप 'शिवगौरीगीत' गाती हैं। 'शिवगौरीगीत' के प्रति यह उत्कट प्रेम निश्चित रूप से कवि के मानस से मिथिला की पृष्ठभूमि में व्यक्त हुआ है--

कौशल्या कुशल मति हरषि शृङ्गार कर, अपनहि कर सौं पतोहु विधु वदना।
वदन निहार ओ उचार शिवगौरीगीत, हृदय लगाब वार वार शोभासदना।।

--मि० रा०, पृ० ३५९

'अध्यात्मरामायण' में राम के राज्याभिषेक के पश्चात् महादेव, इन्द्र, देवगण, पितृगण, गन्धर्व आदि राम का गुणानुवाद और रावण के अत्याचारों का वर्णन करते हैं। इन सबकी स्तुतियों में भगवान शङ्कर द्वारा की गयी स्तुति अधिक विस्तृत है। शङ्कर राम को अद्वितीय परमात्म-स्वरूप बतला कर उन्हीं की माया द्वारा जगत की रचना, पालन एवं संहार सम्भव बतलाते हैं। वे माया से परे होकर भी माया के गुणों से आवृत्त हो अपने भक्तों के लिए लीला विस्तार करते हैं और नाना रूपों में अवतरित होते हैं। यहीं पर अध्यात्मरामायणकार ने राम के मत्स्यादि अवतार के श्रुति एवं पुराणसम्मत रूप का उल्लेख भी किया है।[१२] कवि चन्द ने भी इसी प्रकार भगवान राम को सर्वशक्तिमान निर्गुण तत्त्व मानकर विष्णु के मीन-कमठादि रूपों में अवतरित होने का

उल्लेख किया है। इस वर्णन में कवि की भक्ति-भावना प्रबल है जिसे पिष्ठपेषण मात्र नहीं समझा जा सकता। यथा,

नमो नमो रामाय सशक्तिकाय निर्गुणाय, नीलोत्पलसुप्रभातिकोमलाय विष्णवे।
मीनकमठादिरूपधारिणे धरित्रीधृजे, देव-महि-कण्टक-समस्त-खल-जिष्णवे॥
——मि० रा०, पृ० ३६३

अध्यात्मरामायणकार ने युद्धकाण्ड के समापन में ग्रन्थ के महत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा है कि जो इस ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न पुरातन 'अध्यात्मरामायण' का पठन एवं श्रवण करता है, उसे दूसरा जन्म धारण नहीं करना पड़ता। ठीक यही बात कवि चन्द ने भी अपने रामायण में कही है,। हाँ, अध्यात्मरामायणकार की भाँति प्रस्तुत कवि ने तारक मन्त्र 'राम' का उल्लेख नहीं किया है।

उत्तरकाण्ड का प्रारम्भ कवि चन्द ने 'अध्यात्मरामायण' के उत्तरकाण्ड के प्रथम श्लोक के रूपान्तर से किया है जिसमें कौशल्या के हृदय को आनन्दित करने वाले, दशवदन रावण का विनाश करने वाले, रघुवंशतिलक एवं पुण्डरीकाक्ष राम की जयकार की गई है:——

जय रघुवंश-तिलक कौशल्या-नन्दन दशरथ-बालक।
दशमुख-नाशक पङ्कज-लोचन, जय मुनिजन-प्रतिपालक॥
——मि० रा०, पृ० ३७१

इस काण्ड में कवि ने 'अध्यात्मरामायण' की नव सर्गों की सामग्री, जैसे भगवान राम के यहाँ अगस्त्यादि मुनिगणों का आगमन, रावणादि राक्षसों का पूर्व चरित्र-निरूपण, राक्षसों का राज्यस्थापन-विवरण, बालि-सुग्रीव का पूर्वचरित्र, रावण-सनत्कुमार-संवाद, राम-राज्य-वर्णन, सीता-वनवास, रामगीता, रावण-बध, राम-यज्ञ में कुश-लव सहित वाल्मीकि का पदार्पण, वाल्मीकि द्वारा कुश को परमार्थोपदेश, राम के यज्ञ में कुश-लव का गायन, सीता का पृथ्वी-प्रवेश, रामचन्द्र का कौशल्या को उपदेश, काल का आगमन, राम का लक्ष्मण-परित्याग और उनका स्वर्ग-गमन आदि प्रसङ्गों को आठ अध्यायों में संक्षिप्त ढङ्ग से प्रस्तुत किया है। 'अध्यात्मरामायण' की आध्यात्मिक उपलब्धि का चरमोत्कर्ष भी इसी काण्ड में प्रस्तुत है। 'अध्यात्मरामायण' में जहाँ अगस्त्य मुनि राक्षसों के प्रादुर्भाव एवं विनाश का वर्णन करते हैं, वहीं पर भगवान राम के विराट रूप का भी वर्णन करते हैं। उनकी नाभि से ब्रह्मा, मुख से वाणी सहित अग्नि, भुजाओं से लोकपालगण, नेत्रों से चन्द्र-सूर्य, कानों से दिशा-विदिशा, घ्राणेन्द्रिय से प्राण एवं देव-श्रेष्ठ अश्विनी कुमार, जङ्घा-जानु आदि से भुवर्लोक, कुक्षि से चार समुद्र, स्तनों से इन्द्र-वरुण, वीर्य से वालखिल्यादि मुनीश्वर, उपस्थेन्द्रिय से यम, गुदा से मृत्यु, क्रोध से त्रिनयन महादेव, अस्थियों से पर्वत-समूह, केशों से मेघ, रोमों से औषधियाँ एवं नखों से गधे आदि की उत्पत्ति हुई है। राम अपनी माया से युक्त आप ही विश्वरूप परमपुरुष हैं:——"त्वं विश्वरूपः पुरुषो माया शक्ति समन्वितः।" प्रस्तुत कवि ने इस सारी सामग्री का दोहन अपने काव्य में समुपस्थित किया है।

'अध्यात्मरामायण' के उत्तरकाण्ड के चतुर्थ सर्ग में राम-राज्य का संक्षिप्त वर्णन हुआ है और राम द्वारा ब्राह्मण के मृतक पुत्र को जीवन-दान देने की कथा कही गई है। इसी सर्ग में लोकापवाद के कारण राम द्वारा सीता के निर्वासन की कथा वर्णित की गयी है। इस लोकापवाद की सूचना विजय नामक दूत प्रदान करता है। कवि चन्द्र ने इन सारे प्रसङ्गों की उद्भावना 'अध्यात्म-रामायण' की ही भाँति की है, किन्तु सीता के निर्वासन पर वन में उनके विलाप की घटना को उसने अधिक जीवन्तता से वर्णित किया है। निर्वासन पर सीता राम के औचित्य पर शङ्का व्यक्त करती हैं और कहती हैं—

करुणागार उदार प्राणपति, वन देल दोष लगाय रे।
देवर-दोष विधिक हम की कहु, जनि धर धर्म्म न न्याय रे।।
हमरहि हेतु दशानन मारल, कपिगण सङ्ग लगाय रे।
तखन पतिव्रत हमर देखल सभ, अनल में गेलहुँ समाय रे।।
नैहर जौं मिथिला चलि जाइब, कहत बाप की माय रे।
पुरुष-परशमणि-कर हम सोपल, अयली कि नाम हँसाय रे।।
सिरिस सुमन बरु होय अशनि सन, अशनि तेहन भय जाय रे।
से बरु होय होथि नहि अकरुण, अहँ काँ बड़का भाय रे।।
कि कहब कहय योग नहि रहलहुँ, भलेहुँ सबहि काँ मार रे।
कतहु रहब जानकि जन कहते, श्री रघुनन्दन-दार रे।।

—मि० रा०, पृ० ३९४

उपर्युक्त गीत की मार्मिक अभिव्यञ्जना कवि के काव्य-सौष्ठव की परिचायिका है। कवि ने सीता के विलाप में मानवीयता लाकर संवेदना की सृष्टि की है। सीता के चरित में लोकजनित विक्षोभ एवं तिरस्कारजन्य भावावेश का सम्मिश्रण करके कवि ने उसको सशक्त वाणी दी है जिसमें मानवीय पक्ष प्रधान रूप से मुखरित हुआ है।

'अध्यात्मरामायण' में 'रामगीता' सर्वाधिक लोकप्रिय प्रसङ्ग है। यहाँ लक्ष्मण के प्रति अपने उपदेश में राम ने अध्यात्म की परम्परा का उपोद्वलन किया है। आध्यात्मिक दृष्टि से 'रामगीता' वेदान्त-दर्शन का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत करता है। अध्यात्मरामायणकार के अनुसार संसार का मूल कारण अज्ञान ही है—'अज्ञानमेवास्यहि मूलकारणं'। अस्तु, बुद्धिमान लोग ज्ञान के विचार में ही तत्पर रहते हैं—'तस्माद बुधो ज्ञानविचार वान्भवेत्'। श्रुति की पृष्ठभूमि में यहाँ कर्म का त्याग और मोक्ष का साधन ज्ञान का अपेक्षित तत्त्व बतलाया गया है—

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुतिर्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम्।।

—अ० रा०, उ० ५।२१

गीता के समान आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए यहाँ भी कहा गया है कि आत्मा

न कभी मरता है न जन्मता है; वह न तो क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। वह पुरातन समस्त विशेषणों से परे सुखस्वरूप, स्वयं प्रकाश, सर्वगत एवं अद्वितीय है––

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः।
निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः।।

––अ० रा०, उ० ५।३५

ज्ञानमय सुखस्वरूप आत्मतत्व में अज्ञान की प्रतीति अध्यात्म के कारण होती है। विद्वानों ने अन्य में अन्य की प्रतीति को अध्यास कहा है। अस्तु! जिस तरह असर्प रूपी रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है, उसी प्रकार ईश्वर में संसार की प्रतीति सम्भव है। अविद्या से उत्पन्न बुद्धि में प्रतिबिम्बित चेतन का प्रकाश ही जीव संज्ञा धारण करता है। आत्मज्ञान से आत्मसाक्षात्कार के उपरान्त ही परमतत्त्व की अनुभूति सम्भव है जो प्रकाशरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर दीप्तिमान, निर्मल, विशुद्ध, विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्दस्वरूप है:––

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयो ऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः।
विशुद्धविज्ञान घनो निरामयः सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः।।

––अ० रा०, उ० का० ५।४३

कवि चन्द्र ने भी संक्षेप में 'रामगीता' के उस प्रसङ्ग की उद्भावना की है और आत्मा-परमात्मा तथा जीव-ब्रह्म के सम्बन्धों को दार्शनिक परिवेश देकर उसी रूप में प्रस्तुत किया है। इस सन्दर्भ में कवि की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं:––

जनिकर जनम मरण कहि होइछ, निर्गुण ब्रह्म कहै छी।
छथि अपरोक्ष मनन करु निश्चय, जौ भवमोक्ष चहै छी।।
तिल में तेल दुग्ध में घृत सन, भूत भूत विज्ञाने।
मन सौं मथन करु सुख पायब, विदित उपाय न आने।।

मि० रा०, पृ० ३९८

अध्यात्मरामायणकार ने उत्तरकाण्ड में लक्ष्मण का स्वर्गगमन एवं महाप्रयाण जिस रूप में चित्रित किया है, लगभग उसी रूप में प्रस्तुत कवि ने भी किया है। ऊपर चन्द कवि के मूलतः शैव होने का उल्लेख हो चुका है। इससे उनकी रामभक्ति की अनन्यता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। किन्तु राम की साम्प्रदायिक उपासना के विकसित रूपों का समाहार न कर उन्होंने प्राचीन परम्परागत रूप को ही ग्रहण किया है। 'अध्यात्मरामायण' राम-काव्य एवं भक्ति का साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रेरक ग्रन्थ है। कवि चाहता तो इसकी पृष्ठभूमि में साम्प्रदायिक मान्यताओं को गम्भीरता से विकसित कर सकता था। किन्तु ऐसी सम्भावनाओं के स्थलों को भी उसने संक्षिप्त-सा कर दिया है। ऊपर इस पृष्ठभूमि में 'तारक मन्त्र' की चर्चा हो चुकी है जिसको विकसित करने में कवि का कोई आग्रह नहीं प्रतीत होता है। कवि के सम्मुख 'रामतापनीय उपनिषद' के राम का साम्प्रदायिक रूप और 'तारकमन्त्र' का वैशिष्ट्य भी रहा होगा। इसी प्रकार कई

अन्य साम्प्रदायिक विकसमान सामग्री की पृष्ठभूमि में भी यह बात उठाई जा सकती है। लक्ष्मण स्वर्गगमन के समय नवों इन्द्रियों को रोककर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करते हैं और अव्यय अविनाशी परमब्रह्मपद 'वासुदेव' में चित्त लीन करते हैं:—

नव द्वाराणि संयम्य मूर्ध्नि प्राणमधारयत्।
यदक्षरं परंब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्॥

भागवत धर्म में वासुदेव का पारम्परिक महत्व है। किन्तु कवि का ध्यान उतनी सूक्ष्मता से इसकी ओर नहीं आकृष्ट हो सका। 'अध्यात्मरामायण' में इसके महत्त्व की पुष्टि हुई है। श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्ध, तृतीय अध्याय के एक श्लोक से इस पद का महत्त्व-बोध कराया जाता है—

सत्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितं यदीर्यतो तत्र पुमान पावृत्तः।
सत्वे च तस्मिन भगवान वासुदेवो हयघोऽक्षजो में नमस्सविधीयते॥

आगे चलकर राम की साम्प्रदायिक उपासना में इन सन्दर्भों का विश्लेषण हुआ है।[१३]

'अध्यात्मरामायण' में राम अपने महाप्रयाण के समय चक्रायुध चतुर्भुज रूप धारण करते हैं तथा उनके साथ लक्ष्मण शेषशैय्या रूप, भरत चक्र रूप, शत्रुघ्न शङ्ख रूप एवं सीता लक्ष्मी रूप हो जाती हैं। उस समय अयोध्या निवासी सरयू में डूबकर मनुष्य देह त्यागकर दिव्य आभूषणों से अलङ्कृत हो विमान पर आरूढ़ हो सान्तनिक नामक लोक में गमन करते हैं। रामभक्ति में साकेत या अयोध्या के सन्दर्भ में सान्तनिक लोक का पारम्परिक महत्व है। अध्यात्मरामायणकार ने उसके विकसित होने वाले साम्प्रदायिक महत्त्व की प्रतीति की है। किन्तु प्रस्तुत कवि ने संक्षिप्तता के चक्कर में इस महत्त्वपूर्ण लोक का शाब्दिक उल्लेख भी विस्मृत कर दिया है। आगे चलकर राम साम्प्रदायिकों ने कतिपय प्राचीन आधारों पर इस लोक के भी महत्त्वाख्यापन पर विशेष बल दिया है। उन्होंने रामायण, महाभारत एवं साम्प्रदायिक संहिताओं से सान्तनिक लोक सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री का विश्लेषण भी किया है।[१४]

चन्द्र कवि ने अपने इस रामायण के समापन में राम के प्रति अपनी गहरी भक्ति-भावना का चित्रण किया है। भक्ति के अभाव में 'भकुआने' जैसे देशज, किन्तु प्रभावशाली शब्द का श्लाघ्य प्रयोग कर कवि से अपनी भक्ति-भावना को उत्कट रूप में व्यक्त किया है। उसने अपने हृदय की विबशता का भक्ति के परिवेश में बड़ा ही सच्चा रूप प्रस्तुत किया है—

त्राहि त्राहि मुकुन्द माधव दीनबन्धु दयाल।
भक्ति विनु भकुआय रहलहुँ कठिन ई कलिकाल॥
कतेक दिन धन कतेक दिन जन कतेक दिन तन जोर।
कतेक दिन सञ्चरब ई संसार कानन घोर॥

—मि० रा०, पृ० ४२४

अन्त में कवि ने राम, सीता एवं हनुमान से भक्तिभाव-विह्वलता हो कृपा की याचना की

है। ग्रन्थ का रचना काल कवि ने स्वतः शाके १८०८ बताया है और आश्रयदाता के रूप में मिथिलेश श्री लक्ष्मीश्वर सिंह को स्मरण किया है।

उपर्युक्त विवेचन से कवि के काव्य का साहित्यिक गौरव स्वतः सिद्ध है। कवि को मिथिला-भाषा का प्रगाढ़ ज्ञान प्राप्त है, वह संस्कृत का विद्वान है; अतः वह मिथिला-भाषा को संस्कृत शब्दों से समलङ्कृत कर सका है। मिथिला-भाषा के पाण्डित्यपूर्ण प्रयोग तथा उपयुक्त मुहावरों एवं लोकोक्तियों के साथ अलङ्कारों का प्रयोग करने में वह दक्ष है।[15] मैथिली परम्परा की राग-रागिनियों का विधान कर उसने अपेक्षित संवेदना की सृष्टि की है। सामान्यतया उसने परम्पराबद्ध संस्कृत शैली के छन्दों का प्रयोग किया है। दोहा-चौपाई में प्रबन्धात्मक-काव्य की रचना की प्रेरणा कदाचित कवि को तुलसी से प्राप्त हुई है। उसने संस्कृत के छन्दों––अनुष्टुप, भुजंग, सुन्दरी, उपजाति, शार्दूल विक्रीड़ित, मालिनी, शिखरिणी, मत्तगजेन्द्र, पृथ्वी, वसन्ततिलका, हंसगति, द्रुत विलम्बित आदि का प्रयोग किया है।

मिथिला की राग-रागिनियों को दृष्टिपथ में रखकर उसने तिरहुति, माधवीय वराड़ी, पर्वतीय वराड़ी, नेपाल वराड़ी, केदार केदारीयं, केदार मालवीयं, मिथिला गौड मालवं, देवराज विजय, योगिया मालव, प्रियतमा मालव, कामोदनार, भैरव, मलार, झझोटी, जयकरी, नराचिका, वियोगि मालव, ध्रुपद, अहीर तिरहुति आदि अनेक सङ्गीतात्मक छन्दों का भी प्रयोग किया है।

तथाकथित रामकथा के विश्वकोश के लेखक डॉ० फादर कामिल बुल्के ने 'रामकथा : उद्भव एवं विकास' के द्वितीय परिवर्द्धित-संवर्द्धित संस्करण में भी चन्द्र कवि कृत रामायण का उल्लेख एक वाक्यांश मात्र में किया है। इसका कारण इस ग्रन्थ की अर्वाचीनता या 'अध्यात्म-रामायण' की अनुकृति में निर्मित होना नहीं हो सकता, क्योंकि बुल्के ने रामकथा की इससे भी अर्वाचीन सामग्री तक की चर्चा की है और 'अध्यात्मरामायण' के कतिपय प्रादेशिक भाषाओं के हुए अनुवाद तक की सूचना दी है जैसे, हिन्दी में सदल मिश्र कृत, उड़िया में हलधरदास कृत, बङ्गला में द्विज भवानी नाथ एवं द्विज लक्ष्मण कृत तथा मलयालम् में एजुतच्छन कृत आदि। फिर अनुवाद रूप में ही सही, इस ग्रन्थ की भी चर्चा आवश्यक थी जबकि उपर्युक्त विवेचन से उसकी मौलिकता भी सिद्ध प्राय है। भाषागत राजनैतिक विचार भी शोध की दिशा में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर सकता था। ग्रन्थ की अत्यधिक लोकप्रियता मैथिली भूभाग में सिद्धप्राय है। डॉ० जयकान्त मिश्र ने इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का विवेचन करते हुए अपने 'मैथिली साहित्य का इतिहास' में लिखा है कि कहा जाता है कि इस ग्रन्थ के पाठ के पूर्णतः निर्धारण के पूर्व उसकी पंक्ति-पंक्ति पर श्री लक्ष्मीश्वर सिंह के सभापण्डितों के मध्य विचार विमर्श हुआ था। निश्चित रूप से यह कृति मैथिली की एक महान कृति है। कवि की इस रचना का अनुशीलन कर मेरा यह निष्कर्ष है कि मैथिली के इन उत्कृष्ट कवियों का अध्ययन हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत भी नितान्त अपेक्षित है और फिर शोध की दिशा में इनकी उपेक्षा करना अनुचित है। जब हम 'विद्यापति' का मूल्याङ्कन कर हिन्दी-काव्य-साहित्य का गौरव बढ़ा सकते हैं तो कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि चन्द्र जैसे महान कवि को हिन्दी साहित्य में स्थान न दिया जाय। मूलतः इसी भावना से अभिप्रेत हो प्रस्तुत निबन्ध में चन्द्रकवि की रामायण नामक रचना का अनुशीलन हिन्दी जगत

के सम्मुख प्रस्तुत किया है। मैथिली-भाषा में इस कवि का अनुशीलन होता रहा है। हिन्दी भाषा में भी उसकी काव्यात्मक प्रतिभा का समादर हो, यही सम्प्रति उद्दिष्ट है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) मिथिला भाषा रामायण : सम्पादक—बलदेव मिश्र (दरभंगा), प्रस्तावना (२) वही, पृ० १, (प्रस्तावना) (३) डॉ० जयकान्त मिश्र : हिस्टरी आफ़ मैथिली लिटलेचर, पृष्ठ ६५ (४) अध्यात्मरामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर (५) दि प्राब्लेम आफ शान्ता पैरेण्टेज, आवर हेरिटेज वाल्यूम २, भाग २, जुलाई-दिसम्बर १९५४, पृष्ठ ३५३-३७४ (६) डॉ० कामिल बुल्के : रामकथा उद्‌भव और विकास (द्वि० सं०) (७) अध्यात्मरामायण, बाल ११।३, ४, ५ (८) अध्यात्मरामायण, अरण्यकाण्ड, १।३९-४० (९) वही, ५।६१ (१०) मिथिला-भाषा रामायण, शशिनाथ झा संस्करण, भूमिका भाग (११) अ० रा०, युद्ध०, ४।४०।४२ (१२) अध्यात्मरामायण, युद्ध काण्ड, १५।५२-५३ (१३) श्री उपासनात्रय-सिद्धान्त पृ० ८३-८४ (अयोध्या) वैं० सं०, बम्बई (१४) वही (१५) डॉ० जयकान्त मिश्र : हिस्टरी आफ मैथिली लिटरेचर, पृ० ८३-८४ प्रयाग।

अपभ्रंश के कथाकाव्य और चरितकाव्य

• देवेन्द्रकुमार जैन

भारतीय साहित्य में कथाकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। काव्य के मूल में जीवन की लिपिबद्ध कथाएँ ही हैं जो श्रुति रूप में वर्षों तक प्रचलित रही हैं और देश-देशान्तरों में अपने मूल रूप में स्थानान्तरित होती रही हैं। अपभ्रंश में ऐसी ही कथाएँ महाकाव्यों की कड़ी में पद्यबद्ध कथाकाव्य के रूप में लक्षित होती हैं जिनमें मानवीय संवेदना कतिपय घटनाओं के विग्रह में सजीव एवं चारित्रिक बन्धनों में अनुस्यूत रहती हैं। कथाकाव्य में कथा ही मुख्य होती है जो किसी उद्देश्य से कही जाती है और वह उद्देश्य नायक के कार्य-व्यापारों से सम्बद्ध रहता है। ये कथाएँ प्रायः वक्ता-श्रोता शैली में कही जाती हैं। इनमें कहीं-कहीं सुनने वाला, कथा एवं घटना के सम्बन्ध में जिज्ञासा और उत्सुकता प्रकट करता चलता है और लेखक उसकी उत्सुकता की वृद्धि करता हुआ आगे की घटनाओं का सजीव वर्णन करता चलता है। चरितकाव्यों में नायक के जीवन का समूचा इतिवृत्त अलौकिक रूप में वर्णित रहता है। उनमें अभिप्राय-विशेष भी नायक के आदर्श एवं असाधारण गुणों तथा अलौकिक चमत्कारों से समन्वित होते हैं। जिन कथाकाव्यों में वस्तु सोद्देश्य नियोजित नहीं है, वे लोककथाएँ हैं जो साहित्यिक रूढ़ियों के साथ कालान्तर में काव्य के साँचे में प्रबन्ध-रूप में ढाल दी गई हैं। इसीलिए इन कथाओं में कई प्रकार के परिवर्तन तथा जोड़-मोड़ मिलते हैं। कुछ कथाएँ लोककथा या जनश्रुति के रूप में प्रचलित होने पर भी व्रत-माहात्म्य तथा अनुष्ठानों से सम्बद्ध हो कर काव्यबन्ध का अङ्ग ही नहीं, प्राण बन गई हैं। वीरकाव्य में कथा अल्प तथा सूक्ष्म रहती है, परन्तु कथाकाव्य में मुख्यरूप से कथा-संयोजन तथा महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन रहता है। 'भविष्यदत्तकथा' ऐसी ही कथा है जो पहले श्रुति के रूप में वर्षों तक जन-मानस में प्रचलित रही और फिर परम्परागत प्रबन्धकाव्य की शैली में लिखी गई। अपभ्रंश तथा भारतीय साहित्य में कथाकाव्य तथा चरितकाव्य की विधा अपने ढङ्ग की अलग-अलग ही प्रबन्ध-रचनाएँ हैं।

भारतीय साहित्य में कदाचित् प्राकृत और अपभ्रंश में इस साहित्यिक विधा का सूत्रपात हुआ जिसमें कथा और काव्य मिल कर लोक-जीवन के परिपार्श्व में यथार्थ रीति से गतिशील तथा मनुष्य जीवन में घटनाओं का रोमाञ्चक एवं वास्तविक प्रभाव दर्शाते हुए लक्षित होते हैं।

यद्यपि कहीं-कहीं पौराणिक प्रवृत्ति के अनुगमन से घटनाओं में अस्वाभाविकता-सी जान पड़ती है परन्तु प्रबन्ध-सङ्गठन और रचना-शिल्प में शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती। अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों की विशेष प्रवृत्ति है प्रेम की मधुर व्यञ्जना। अधिकतर नायक पवित्र प्रेम से प्रेरित एवं सञ्चालित दिखाई पड़ते हैं। कहीं-कहीं प्रेम की उदात्त व्यञ्जना धार्मिक वातावरण में हुई है और कहीं-कहीं शुद्ध लौकिक वातावरण में। इस रूप में हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्य वस्तु एवं रचना-शिल्प की दृष्टि से ही नहीं, शैली और प्रेम की मधुर व्यञ्जना की दृष्टि से भी अपभ्रंश के इन कथाकाव्यों से प्रभावित जान पड़ते हैं।

कथा पहले आख्यानात्मक और इतिवृत्तात्मक थी; परन्तु ज्यों-ज्यों काव्य-तत्त्वों से उसका ताल-मेल बैठता गया, त्यों-त्यों वह कहानी और उपन्यास का रूप ग्रहण करती गई। 'भविष्यदत्तकथा' को पद्य में लिखा हुआ एक प्रकार का उपन्यास ही समझना चाहिए। यद्यपि रचना-तत्त्वों में असमानता है पर हम उसे कथा ही कहते आये हैं। संस्कृत में लिखी गई कथाएँ गद्य में हैं। बाणभट्ट की 'कादम्बरी' तो उपन्यास ही जान पड़ती है, परन्तु वह कथा ही है। प्राकृत और अपभ्रंश में छोटी तथा बड़ी लगभग सभी प्रकार की कथाएँ छन्दोबद्ध हैं। 'कुवलयमाला कथा' अवश्य गद्य में लिखी मिलती है। इसी प्रकार कतिपय अन्य रचनाएँ भी गिनाई जा सकती हैं, परन्तु प्राकृत और अपभ्रंश में पद्यबद्ध कथाएँ लिखने की सामान्य प्रवृत्ति रही है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' से ले कर आज तक न जाने कितनी तरह की कथाएँ और कहानियाँ लिखी गईं, जो नीति-रीति, मानवीय स्थितियों की विविधता और यथार्थता से समन्वित हैं। भाषा की भाँति साहित्यिक विधाओं का भी यह परिवर्तन आज इतिहास की वस्तु बन कर रह गया है। उन परिवर्तनों का पूर्ण विवरण देना आज असम्भव सा है।

अपभ्रंश-साहित्य का ही नहीं, यदि हम दसवीं शताब्दी से ले कर पन्द्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय साहित्य का अनुशीलन करें, तो ज्ञात होगा कि मध्ययुगीन भारतीय काव्यों की मुख्य प्रवृत्ति उदात्त प्रेम की मधुर व्यञ्जना रही है। यद्यपि इस युग के काव्यों में वर्णित प्रेम अलौकिक भाव-भूमि में भी चित्रित हुआ है, परन्तु काव्य का सामान्य धरातल लौकिक प्रेम में ही अभिव्यक्त हुआ है। इसलिए अलौकिक प्रेम और आदर्शों को समझने के लिए हमें विशिष्ट प्रतीकों और रूपकों के रहस्यों को खोलना पड़ता है। परन्तु अपभ्रंश के कथाकाव्यों में प्रायः यह व्यञ्जना नहीं मिलती है। यद्यपि प्रेम-बीज से ले कर उसके विकास तक की सम्पूर्ण परिस्थितियों एवं अवस्थाओं का इनमें पूर्ण विकास लक्षित होता है, परन्तु व्यक्तिवादी वैचित्र्य एवं चमत्कार नहीं मिलता। वस्तुतः ये कथाकाव्य मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की देन हैं जो लोक-जीवन की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव हम इस युग को पुनर्जागरण काल कह सकते हैं जिसमें जनवादी प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थीं और साहित्य पौराणिकता से हट कर लोक-चेतनोन्मुखी हो रहा था। अतएव लोक-जीवन के विविध तत्त्व इन कथाकाव्यों में सहज ही लक्षित होते हैं। इस युग में कथाकाव्य का नायक आदर्श पुरुष ही नहीं, राजा, राजकुमार, बनिया, राजपूत या अन्य कोई साधारण से साधारण पुरुष भी हो सकता था और अपने पुरुषार्थ से असाधारण व्यक्तित्व तथा गुणों को प्रकट कर यशस्वी बन सकता था। सभी कथाकाव्यों में यह प्रवृत्ति पूर्णतया लक्षित होती है।

कथाकाव्य और चरितकाव्य

कथा में जीवन की कतिपय विशिष्ट घटनाओं का आकलन होता है और चरितकाव्य में किसी महापुरुष या नायक का सम्पूर्ण जीवन वर्णित रहता है। नायक के समग्र जीवन तथा जीवन की विभिन्न घटनाओं और सङ्घर्षों का मुख्य रूप से वर्णन होने के कारण आचार्य आनन्दवर्धन ने दूसरी विधा को 'सकलकथा' कहा है और आचार्य हेमचन्द्र 'सकलकथा' को ही 'चरितकाव्य' कहते हैं।[1] उदाहरण के लिए हरिभद्रसूरि विरचित 'णेमिणाहचरिउ' चरितकाव्य है, परन्तु उसके अन्तर्गत वर्णित 'सनत्कुमार की कथा' कथाकाव्य है जिसे खण्डकथा भी कहा जा सकता है।[2] कथाकाव्य वह प्रबन्ध रचना है जिसमें निजन्धरी कथा महाकाव्य की भाँति उदात्त शैली में तथा सन्धिबद्ध एवं पद्यबद्ध रूप में वर्णित रहती है। परन्तु चरितकाव्य में किसी एक महापुरुष का चरित प्रायः पौराणिक शैली में वर्णित होता है। अतएव किसी भी रचना के पीछे 'चरिउ', 'कहा', 'पुराणु' या 'कव्व' शब्द जुड़ा होने से वह चरित, कथा, पुराण या काव्य वाचक नहीं हो सकती। क्योंकि अपभ्रंश के कवि जिस रचना को कथा कहते हैं, उसी को चरित भी। वे रामकथा या रामचरित अथवा भविष्यदत्तकथा और भविष्यदत्तचरित में अन्तर मान कर नहीं चलते। परन्तु अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, नाटकीय सन्धियों, कार्यान्विति तथा कथा-तत्त्वों के संयोजन की दृष्टि से इन दोनों में अन्तर दिखाई पड़ता है। वास्तव में चरित लोक में देखा जाता है, काव्य में तो वस्तु ही प्रधान होती है। चरितकाव्य की मूल चेतना कथा न हो कर कार्य-व्यापार होता है जिसमें नायक का प्रभावशाली चरित्र चित्रित किया जाता है।

डॉ० शम्भूनाथसिंह ने अपभ्रंश काव्यों की दो शैलियाँ मानी हैं—पौराणिक और रोमाञ्चक। इन दोनों शैलियों में लिखे गये काव्यों को चरितकाव्य कहा गया है। संस्कृत के चरितकाव्य चारों शैलियों (शास्त्रीय, पौराणिक, रोमाञ्च, ऐतिहासिक) में तथा प्राकृत के तीन शैलियों में लिखे गये हैं।[3] परन्तु तथ्य यह है कि अपभ्रंश के चरितकाव्य अधिकतर पौराणिक शैली में लिखे गये हैं और कथाकाव्य रोमाञ्चक शैली में। 'विलासवईकहा' रोमाञ्चक शैली में लिखा हुआ उत्कृष्ट कथाकाव्य है। यद्यपि शैली ही भेदक-रेखा नहीं मानी जा सकती, परन्तु कहीं-कहीं शैलीगत यह अन्तर अवश्य मिलता है। अपभ्रंश के अधिकतर काव्य पौराणिक शैली में लिखे गये हैं। कथाकाव्यों से चरितकाव्यों की संख्या अधिक है। कथाकाव्य सामान्यतया उपन्यास की भाँति रोचक तथा कुतूहलवर्द्धक शैली में लिखे गये हैं तथा सभी पद्यबद्ध हैं। इनकी कथावस्तु लोककथाओं पर आधारित एवं कल्पित है और विस्मय, औत्सुक्य, कुतूहल तथा भावनातिरेक से अनुरञ्जित लक्षित होती है। कथाकाव्य के नायक लोक-जीवन के जाने-माने और पहिचाने हुए साधारण पुरुष होते हैं जो सुख-दुःख से अनुप्राणित तथा आशा-निराशा, धैर्य-अधैर्य, हर्ष-विषाद और भय एवं साहस के हिंडोलों में झूलते हुए दिखाई पड़ते हैं। जहाँ उनके जीवन में अन्धकार है, वहीं प्रकाश की उज्ज्वल किरणें मुस्कराती हुई लक्षित होती हैं और अनुराग से रञ्जित प्रकृति सहानुभूति प्रकट करती हुई जान पड़ती है। अधिकांश कथाकाव्यों में यथार्थ की प्रधानता है जबकि चरितकाव्यों में आदर्श की। यद्यपि दोनों में ही नायक या नायिका के असाधारण कार्यों का वर्णन रहता है, परन्तु एक में वह दैवी संयोग और धार्मिक विश्वासों से सम्बद्ध होता है जबकि दूसरे में (चरितकाव्य में) अलौकिक एवं असम्भव घटनाओं से अनुबिद्ध। यही कारण है कि

चरितकाव्यों में आदर्श चरित्रों की प्रधानता रहती है और उनके जीवन की सिद्धि तथा पूर्णता का वर्णन किया जाता है। निश्चय ही चरितकाव्य के नायक लौकिक जीवन की सीमाओं से ऊपर असाधारण गुण, शक्ति, ज्ञान आदि से समन्वित पूर्ण पुरुष के रूप में चित्रित किये जाते हैं। परन्तु कथाकाव्य में वे यथार्थ के अधिक निकट हैं। वस्तुतः चरितकाव्य पुराणों से विकसित हुए हैं, इसलिए आख्यान तथा इतिवृत्त के साथ ही पौराणिक पुरुष के रूप में उनका असम्भव तथा अकल्पित रूप भी वर्णित रहता है। कथाकाव्य में भले ही आदर्श पुरुष का जीवन विन्यस्त हुआ हो, परन्तु पूर्ण पुरुष के रूप में उसका चित्रण नहीं किया जाता। चरितकाव्य की वस्तु अधिकतर पुराणों से अधिगृहीत होती है, किन्तु कथाकाव्य की कथावस्तु लोक-जीवन तथा लोक-तत्त्वों से समन्वित होती है।

अपभ्रंश-कथाकाव्यों में जहाँ सामाजिक यथार्थता लक्षित होती है, वहीं धार्मिक वातावरण तथा इतिहास के परिप्रेक्ष्य में जातीयता और परम्परा का भी बोध होता है। उपन्यास की भांति इनमें भी तथ्य, कल्पना, यथार्थता और घटनाओं का सजीव वर्णन मिलता है, परन्तु परिस्थितिजन्य धार्मिक रूढ़िबद्धता और विवेकशीलता के अभिव्यक्तिकरण में कहीं-कहीं कथानक दब सा गया है। यह प्रवृत्ति अधिकतर कथा के उत्तरार्द्ध में लक्षित होती है। वस्तुतः घटनाएँ जीवन के सम्पूर्ण चित्र को प्रतिबिम्बित करने के लिए चित्रित की गई हैं और भावनाओं तथा विचारों के अनुसार नायक के जीवन-क्रम में उनका सङ्कोच और विस्तार हुआ है। अधिकतर पात्र वर्ग-विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, इसलिए वे स्थान-स्थान पर धार्मिक मान्यताओं एवं लोकविश्वासों को प्रकट करते हैं।

जिस प्रकार से वीर-काव्य के नायक युद्ध तथा सङ्कट काल में अदम्य साहसिक प्रवृत्तियों तथा कार्यों का परिचय देते दिखलाई पड़ते हैं, उसी प्रकार अपभ्रंश के कथाकाव्यों के नायक भी अदम्य साहस का परिचय देते हुए चित्रित किये गये हैं। इसलिए जहाँ उनमें शूरवीरता है वहीं दया, क्षमा, वात्सल्य, स्नेह आदि मानवीय गुणों की भी प्रतिष्ठा हुई है। उनका जीवन मानव से देवता बनने का एक अद्भुत उपक्रम है जिसमें वे अन्ततः सफलीभूत होते हैं। इस प्रकार नायक का जीवन सङ्घर्ष-विघर्षों का जीवन है जिसमें सचाई, ईमानदारी तथा उपकार की भावना उन्हें सामान्य जीवन से ऊपर उठाने में सहायक सिद्ध होती हैं। उनमें मानवीय परिस्थितियों के विभिन्न रूपों का आकलन होने के साथ ही स्थानीय रूप-रङ्ग, कार्य-व्यापार, नाटकीयता, रोमांस और कथानक-रूढ़ियाँ एवं कथाभिप्राय चरित्रगत उद्देश्यों के बीच लक्षित होते हैं।

विण्टरनित्स ने उपन्यास शैली में लिखे हुए पद्यबद्ध कथाकाव्य 'भविसयत्तकहा' को साहसिक तथा रोमाञ्चक दृश्यों का वर्णन होने के कारण रोमाण्टिक महाकाव्य कहा हैं। अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यों में साहस, रोमांस, समुद्र-यात्रा, सङ्कट आदि के रोमाञ्चकारी वर्णन मिलते हैं। परन्तु नायक के साहसिक कार्यों के कारण तथा रोमाञ्चक वर्णन होने से यह रोमाण्टिक काव्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि महाकाव्य के किसी न किसी रूप में प्रेम तथा रोमांस का वर्णन रहता ही है। अंग्रेजी काव्य-साहित्य में रोमाञ्चक महाकाव्य का उत्कृष्ट निदर्शन स्पेन्सर द्वारा लिखित 'फेयरी क्वीन' माना जाता है। इसमें नायक और नायिका के

प्रेम-व्यापारों के साथ नायिका की प्राप्ति का वर्णन है। काव्य का आरम्भ नाटकीय ढङ्ग से होता है जिसमें जीवन की विविधता और जटिलताओं का सटीक एवं सजीव वर्णन मिलता है। इस काव्य की यही विशेषता है कि इसमें रोमांस तथा प्रेम के अनेक रूपों—ईश्वर-प्रेम, देश-भक्ति, सत्य-निष्ठा, मानवीय प्रेम और विशेषकर रोमाण्टिक प्रेम का सजीव चित्रण किया गया है।[४] यद्यपि 'भविष्यदत्तकथा' में भी ईश्वर-भक्ति, मानवीय प्रेम तथा देश-प्रेम की अभिव्यञ्जना मिलती है तथापि इसमें वह व्यापकता तथा स्वच्छन्दता नहीं है जो रोमाण्टिक प्रेम तथा राष्ट्रीय चेतना में निहित रहती है। 'भविष्यदत्तकथा' का समूचा कथानक धार्मिक तथा सामाजिक परिवेश में चित्रित किया गया है; इसलिए उद्देश्य-प्रधान होने के कारण उन्मुक्त प्रेम का वास्तविक चित्रण इस काव्य में नहीं हो सका है। नायक-नायिका के कार्य-व्यापारों तथा प्रेम का यथार्थ चित्रण इस कथाकाव्य में किसी एक भी स्थान पर नहीं हुआ है। इसलिए साहसिक तथा रोमाञ्चकारी वर्णनों को पढ़ कर ही इसे रोमाण्टिक महाकाव्य मान लेना उचित नहीं जान पड़ता।

वस्तुतः अपभ्रंश के कथाकाव्यों में प्रेम तथा वीरता का अद्भुत संयोग मिलता है; अतः एक ओर वे जहाँ रोमाण्टिक काव्य के निकट हैं, वहीं दूसरी ओर वीर-काव्य से मिलते-जुलते हैं। प्रत्येक कथाकाव्य का आरम्भ प्रेम से, मध्य युद्ध से और अन्त निर्वेद से होता है। अधिकतर कथाएँ राजकुमारों की हैं जिनमें नायिका के प्रथम दर्शन में ही नायक-नायिका एक दूसरे के आकर्षण तथा प्रेमपाश में बँध जाते हैं। मित्रों की सहायता से नायक, नायिका का संयोग प्राप्त करता है। परन्तु कई प्रकार की विघ्न-बाधाओं के आ उपस्थित होने के कारण वे एक-दूसरे से बिछुड़ जाते हैं। नायक कई प्रकार की आपत्ति-विपत्तियों का सामना करता है। अन्त में दोनों का मिलन होता है और विवाह हो जाता है। इस दृष्टि से सिद्धसेन द्वारा लिखित 'विलासवईकहा' बहुत ही सुन्दर रचना है। यह 'विलासवती कथा' अपभ्रंश के कथाकाव्यों में उत्कृष्ट प्रेम कथाकाव्य है। परन्तु 'भविष्यदतकथा' में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती है।

अपभ्रंश के लगभग सभी कथाकाव्यों में चरित्र-चित्रण सोद्देश्य किया गया है। वीरकाव्य कथात्मक होने के साथ ही उद्देश्य प्रधान चरित्रों से समन्वित होते हैं।[५] यद्यपि कुछ कथाएँ ऐसी भी होती हैं जो केवल कहने के लिए ही कही जाती हैं, परन्तु अपभ्रंश में एक भी ऐसी कथा या कथाकाव्य नहीं है जिसका कुछ न कुछ सम्बन्ध जातीय तथा धार्मिक भावना से उद्देश्य रूप में न हो। सभी कथाएँ किसी न किसी जीवन-दर्शन या धार्मिक व्रत-माहात्म्य को अभिव्यञ्जित करती हैं। इन कथाकाव्यों में नायकों के चरित तथा कार्य भी किसी उद्देश्य से वर्णित रहते हैं। क्योंकि ये सभी कथाएँ काल्पनिक एवं लोक-प्रचलित लोककथाएँ हैं जिनमें धर्म तथा समाज की रीति-नीति का साभिप्राय वर्णन किया जाता है। संसार के अधिकांश साहित्य में पहले से ही यह मान्यता चली आ रही है कि शक्ति का केन्द्र मानव न हो कर अदृश्य शक्ति है जिसको वश में कर के वह उन असम्भव से असम्भव कार्यों को भी पूर्ण कर सकता है जिन्हें वह अपनी शारीरिक शक्ति द्वारा सम्पन्न करने में असमर्थ है।[६] अपभ्रंश के कथाकाव्यों में ईश्वर या अदृश्य शक्ति के स्थान पर कर्म (पूर्व जन्म के किये हुए कार्यों के फल) को महत्त्व दिया गया है। यद्यपि उनके द्वारा किये गये असाधारण कार्य किसी अतिमानवीय शक्ति से ही सम्पन्न होते हैं, पर वे निमित्त मात्र होती हैं

मुख्य तो नायक के पूर्व जन्म में सञ्चित कर्मों का फल है जिसके अनुसार मित्र, यक्ष, विद्याधर आदि उसकी सहायता करते हैं। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश के सभी कथाकाव्यों में लक्षित होती है। इसलिए वीरकाव्य की भाँति इसमें मानवीय कार्यों का वर्णन किया जाता है। नायक के असाधारण से असाधारण कार्य भी मानवीय कार्यों से परे नहीं होते हैं। काल्पनिक होने पर भी कथाकाव्यों में इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुराणकाव्यों में अवश्य अतिलौकिक तथा दिव्य चरित्रों का वर्णन किया जाता है जो ईश्वरीय या अन्य किसी शक्ति से प्रेरित तथा सञ्चालित होते हैं। इसलिए कभी-कभी उन पर ठीक से विश्वास करना भी कठिन हो जाता है।

चरितकाव्य का स्वरूप

शैली की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य मुख्य रूप से तीन प्रकार की काव्यात्मक विधाओं में लिखा हुआ मिलता है—पुराणकाव्य, कथाकाव्य और चरितकाव्य। अपभ्रंश कवियों ने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कोई स्थिर मत नहीं दिया है; इसीलिए वे जिस काव्य को 'कहाकव्व' या कथाकाव्य कहते हैं उसी को 'चरिउ' या चरितकाव्य भी कहते हैं। इसी प्रकार वस्तु की दृष्टि से जो 'पुराण' संज्ञक काव्य हैं, वे ही चरितमूलक भी हैं। ऐसी स्थिति में किसी काव्य का स्वरूप निर्धारण करना कठिन अवश्य हो जाता है, परन्तु काव्य की शैली के अनुसार उसका स्वरूप बहुत अंशों में निश्चित हो जाता है।

डॉ० भायाणी के अनुसार स्वरूप की दृष्टि से पौराणिक तथा चरितकाव्य में अधिक अन्तर नहीं है। पौराणिक काव्य में विषय का विस्तार होता है तथा सन्धियों की बहुलता। चरितकाव्य में विषय संक्षिप्त तथा मर्यादित रहता है।[७] संस्कृत साहित्य में पुराणों की एक लम्बी परम्परा दिखाई पड़ती है। पुराणों में केवल दन्तकथाएँ या प्रचलित लोककथाएँ ही नहीं हैं, वरन् वे भारतीय संस्कृति, समाज तथा इतिहास के पुरस्कर्त्ता हैं जो अनुश्रुतियों के रूप में युग-युग से ख्यात रहे हैं। पुराणों का मुख्य स्वरूप हैं—पञ्च लक्षणों का समाहार। सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर विकास तथा विनाश तक की कथा का उसमें वर्णन रहता है और वंशावली तथा राज्य-स्थिति एवं कालक्रम का विस्तृत वर्णन किया जाता है। आचार्य जिनसेन रचित 'आदिपुराण' इसी कोटि का काव्य है जिसमें कुलों का वर्णन, सृष्टि-रचना, समाज-व्यवस्था, कृषि, शिल्प वाणिज्य, व्यवसाय, शस्त्र-शास्त्र आदि ज्ञान-विज्ञान की उत्पत्ति तथा विकास और वंश-वंशान्तरों का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। कथा या वस्तु की दृष्टि से पुराण में कई कथाओं की संयोजना की जाती है। आख्यानों की विविधता की भरमार होने के कारण ही 'महाभारत' को काव्य के भीतर महाकाव्य कहा जाता है।

चरितकाव्य का विकास पुराणों से हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि पुराणों की भाँति अलौकिक घटनाओं की अतिरञ्जना कहीं-कहीं इनमें भी दिखाई पड़ती है। परन्तु कई बातों में ये पुराणों से भिन्न हैं। सामान्यतः निम्नलिखित बातों में भेद है—

(१) पुराण में कई आदर्श चरित्रों तथा कथाओं का अद्भुत सम्मिश्रण रहता है और शास्त्रीय महाकाव्य की अपेक्षा अतिरञ्जित कल्पनाओं तथा घटनाओं की भरमार रहती है। यथार्थ जीवन का भी अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन रहता है।

(२) अधिकतर पुराणों का उद्देश्य कथा के माध्यम से उपदेश देना है। धार्मिक उद्देश्य को ही लेकर प्रायः पुराण लिखे गये हैं जिसमें धार्मिक विश्वास, परम्परागत मान्यता तथा श्रद्धा से अनुरञ्जित भावों की प्रधानता रहती है।

(३) आकार में पुराण महाकाव्य से वृहत् होता है। दर्शन, धर्मशास्त्र, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों के समाहार के कारण अध्याय या सर्ग विस्तृत एवं वृहत् होते हैं। कहीं-कहीं तो वर्णनों की ही प्रमुखता दिखाई पड़ती है।

(४) पुराण में साहित्य के प्रायः सभी तत्त्वों का समावेश रहता है। नाटक की पञ्चसन्धियों, गीतितत्त्वों, अतिप्राकृतिक तथा अलौकिक घटनाओं, सर्ग-विभाजन, रस, छन्द तथा अलङ्कारों का समावेश रहता है।

(५) कथा चमत्कारपूर्ण तथा अतिलौकिक तत्त्वों से अनुरञ्जित रहती है तथा उसमें ऐसी असम्भव बातों का वर्णन मिलता है जिसका साधारण पाठक अनुमान भी नहीं कर सकता। कहीं-कहीं ऐसी कल्पनाओं का आश्रय लिया जाता है कि पढ़ने वालों को वस्तु कपोलकल्पित प्रतीत होने लगती है।

(६) कार्यान्वित की शिथिलता तथा घटनाओं के संगुम्फन की प्रवृत्ति पुराणों में विशेष होती है। इसलिए कथा में से कथा निकलती जाती है और कथा सूत्र इस ढङ्ग से आगे बढ़ता जाता है जिस प्रकार से मकड़ी के जाले का प्रसार होता जाता है। इसीलिए उसमें जटिलता अधिक होती है।

(७) पुराणों में सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित के साथ विभिन्न विषयों का समावेश रहता है। इतिहास तथा जीवन-क्रम का पूर्ण विवरण उसमें रहता है। अतएव कालान्तर में लिखे जानेवाले महाकाव्यों की कथा पुराणों से ली गई है।

उपर्युक्त विशेषताओं के अनुसार अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू द्वारा रचित 'पउमचरिउ' एक पौराणिक महाकाव्य है जिसमें विविध राजवंशों का कीर्तन करते हुए कवि ने ऐतिहासिक वंशावली का पूर्ण विवरण दिया है। इस महाकाव्य में नब्बे सन्धियाँ तथा पाँच काण्ड (विद्याधर, अयोध्या, सुन्दर, युद्ध और उत्तर काण्ड) हैं। महाकवि स्वयम्भू की इससे भी बृहत्रचना 'हरिवंश पुराण' है। इसमें एक सौ बारह सन्धियाँ हैं जो चार काण्डों में विभक्त हैं। इस विशालकाय ग्रन्थ में कवि ने श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर हरिवंश के अन्त तक का सम्पूर्ण विवरण दिया है। इससे भी बड़ा काव्य पुष्पदन्त का 'महापुराण' है जिसमें १०२ सन्धियाँ हैं, और लगभग बीस हजार श्लोक हैं। इसमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलदेव त्रेसठ शलाका पुरुषों का कथानक वर्णित है। 'रामायण' और 'महाभारत' दोनों की इसमें संक्षिप्त कथाएँ सङ्कलित हैं। इसके अतिरिक्त कई अवान्तर कथाएँ और पूर्व भवों के इतिवृत्त इस पौराणिक महाकाव्य में वर्णित हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई पौराणिक महाकाव्य मिलते हैं जिनमें से कुछ निम्न-लिखित हैं—

(१) हरिवंसपुराण (धवल)—११२ सन्धियाँ; कौरव-पाण्डव एवं श्रीकृष्ण आदि महापुरुषों का जीवन चरित्र।

(२) पाण्डवपुराण (यशःकीर्ति)—३४ सन्धियाँ; पाँच पाण्डवों की जीवन-गाथा।

(३) हरिवंशपुराण (पं० रइधू)——१४ सन्धियाँ; ऋषभचरित, हरिवंशोत्पत्ति, वसुदेव, बलभद्र, नेमिनाथ और पाण्डव आदि का वर्णन।

(४) हरिवंशपुराण (यशःकीर्ति)——१३ सन्धियाँ; हरिवंश उत्पत्ति आदि का वर्णन।

(५) हरिवंशपुराण (श्रुतकीर्ति)——४४ सन्धियाँ; कौरव-पाण्डव आदि का वर्णन।

(६) आदि पुराण (पं० रइधू)——अनुपलब्ध; आदि तीर्थंकर तथा वंशानुक्रम युक्त।

वस्तुतः सन्धियों की दृष्टि से पुराण और चरितकाव्य का अन्तर बिलकुल स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। क्योंकि ग्यारह या तेरह सन्धियों से ले कर लगभग सवा सौ सन्धियों तक के पुराणकाव्य उपलब्ध होते हैं। फिर भी, साधारणतया चरितकाव्य में चार सन्धियों से ले कर बीस-बाईस सन्धियों तक की ही रचनाएँ मिलती हैं। पुराणकाव्य आकार में निश्चय ही चरितकाव्य से बृहत् होते हैं।

अपभ्रंश के चरितकाव्य

अपभ्रंश चरितकाव्यों में पौराणिक महापुरुष या त्रेसठ शलाका पुरुषों का जीवन-चरित्र वर्णित है तथा जीवन के विभिन्न पक्षों का विस्तृत अङ्कन है। पूर्व भवों तथा अन्य अवान्तर कथाओं से जहाँ काव्य रोचक तथा सौन्दर्य-गरिमा से मण्डित हैं, वहाँ कथानक कहीं-कहीं जटिल तथा दुहरा भी हो गया है। कथाकाव्यों में यह बात नहीं है। अपभ्रंश के प्रमुख चरितकाव्य निम्नलिखित हैं:——

णेमिणाहचरिउ (अमरकीर्ति गणि), पज्जुण्णचरिउ (सिंह), पासणाहचरिउ (देवदत्त), णेमिणाहचरिउ (लक्ष्मण), बाहुबलिचरिउ (धनपाल), चन्दप्पहचरिउ (म० यशःकीर्ति) पासणाहचरिउ (श्रीधर), संभवणाहचरिउ (तेजपाल), सुकुमालचरिउ (मुनि पूर्णभद्र), सन्मतिजिनचरित्र (पं० रइधू), सनत्कुमारचरित्र (हरिभद्रसूरि), जम्बूस्वामीचरित्र (सागरदत्तसूरि), शान्तिनाथचरित्र (शुभकीर्ति), पासणाहचरिउ (पद्मकीर्ति), पांसणाहचरिउ (असवाल), पासणाहचरिउ (देवचंद), सांतिणाहचरिउ (महिन्दु), णेमिणाहचरिउ, चंदप्पहचरिउ (दामोदर), चंदप्पहचरिउ (श्रीचन्द) और पासणाहचरिउ तथा वड्ढमाणचरिउ (कवि श्रीधर) इत्यादि। इनके अतिरिक्त हरिसेणचरिउ (कवि वीर), सांतिणाहचरिउ (कवि शाहठाकुर) आदि रचनाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। कुछ अनुपलब्ध रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं:——अणंगचरिउ (दिनकरसेन), महावीरचरिउ (अमरकीर्ति), सांतिणाहचरिउ (कवि देवदत्त), चंदप्पहचरिउ (कवि श्रीधर), चंदप्पहचरिउ (मुनि विष्णुसेन) और सांतिणाहचरिउ (कवि श्रीधर) आदि।[८]

लगभग इन सभी चरितकाव्यों का प्रारम्भ पौराणिक शैली से हुआ है। कथा-नायक का जीवन बचपन से ही असाधारण वर्णित है। तीर्थंकरों का जीवन-चरित्र अतिलौकिक तथा धार्मिक बातों से अनुरञ्जित एवं अनुप्राणित हैं। पूर्व भवान्तरों की अवान्तर कथाओं से सभी चरितकाव्यों का कलेवर वृद्धिगत हुआ है। महत् तथा आदर्श चरित्रों से जहाँ काव्य में अतिलौकिता की व्यञ्जना हुई है, वहीं कल्पना की प्रचुरता से काव्यकला की छटा भी विकीर्ण हुई है। कुल मिला कर जन-जीवन से ऊँचे उठ कर एक असाधारण भूमिका पर इन चरितकाव्यों का निर्माण हुआ है, जिन पर कवि तथा लेखकों की श्रद्धा एवं आस्था की स्थान-स्थान पर छाप

लगी मिलती है। धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों और नियमों का भी विशेष रूप से प्रतिपादन हुआ है।

ऐतिहासिक दृष्टि से अपभ्रंश का यह काव्य-साहित्य मध्यकालीन उस धारा को प्रतिष्ठित एवं प्रवाहित करने वाला है जो हिन्दी-साहित्य में भक्तिकाल के नाम से विश्रुत है। क्योंकि इनमें लीला अथवा चरित का कीर्तन न हो कर जीवन की समस्त भाव-भूमियों का आकलन किया गया है और अध्यात्म के उस सोपान पर नायकों का जीवन चित्रित किया गया है जहाँ पहुँचकर मनुष्य मुक्त दशा को प्राप्त हो जाता है। अतएव लौकिक अभ्युदय के साथ उनका अलौकिक अभ्युदय विशेष रूप से इनमें वर्णित है।

छन्द योजना

अपभ्रंश के इन सभी कथाकाव्यों की रचना पद्धड़ियाबद्ध है। पद्धड़िया एक छन्द का नाम है जिसे संस्कृत में पज्झटिका कहते हैं। यद्यपि अपभ्रंश का औरस छन्द दोहा कहा जाता है, किन्तु अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में स्वतन्त्र रूप से इसके दर्शन नहीं होते। पद्धड़िया छन्द अवश्य प्रायः सभी कथाकाव्यों में बन्ध रूप में मिलता है। इसकी प्राचीनता का उल्लेख भी मिलता है। महाकवि स्वयम्भू ने कहा है कि उन्होंने पद्धड़िया छन्द चतुर्मुख से ग्रहण किया जो छड्डणिया, ध्रुवई और ध्रुवक से जड़ा हुआ है।[९] "स्वयम्भूछन्द" में इसका विस्तृत उल्लेख मिलता है। वस्तुतः पद्धड़िया और घत्ता प्रयोग-शैली के छन्द हैं जो बन्ध-रचना के अनुरूप प्राकृत और अपभ्रंश-काव्यों में प्रयुक्त हुए हैं। पद्धड़िया में चतुर्मात्रगण तथा चारों पद समान होते हैं। कुल चौंसठ मात्राएँ होती हैं। पूर्वार्द्ध में या उतरार्द्ध में यमक होता है।[१०] किन्तु 'प्राकृतपैंगलम्' में यमक का उल्लेख न होकर प्रत्येक चरण के अन्त में जगण की रचना आवश्यक कही गई है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है:—

किं करमि खीणविहवप्पहाइ, णउ लहमि सोह सज्जण सहाइ।
अह णिद्धणु जणि सोहइ ण कोई, धणु सयंय विणु पुण्णहिं ण होइ॥

यह पद्धड़िया छन्द है। इसमें चार चरण हैं। चारों में समान रूप से सोलह-सोलह मात्राएँ हैं। अन्त में जगण (मध्य गुरु) है।

आ० स्वयम्भू ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि प्रबन्ध-रचना की दृष्टि से कडवकों की बहुविध रचना होती है जिसमें पद्धड़िया, छड्डणि, घत्ता आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पद्धड़िया के प्रत्येक चरण में सोलह मात्राएँ होती हैं और वह दो यमकों से मिल कर बनता है और प्रत्येक कडवक में आठ यमक होते हैं।[११] इस प्रकार कडवकों की रचना पद्धड़िया छन्द से, छड्डणि से या अन्य किसी बड़े छन्द से होती है।

अपभ्रंश के कथाकाव्यों की रचना मुख्यतः पद्धड़ियाबद्ध कडवकों की शैली में हुई है। साधारणतः एक कडवक में सोलह पंक्तियाँ देखी जाती हैं। परन्तु यह नियम नहीं है। प्रत्येक कड़वक में घट-बढ़ पंक्तियाँ भी मिलती हैं। विषय के अनुरूप विभिन्न छन्दों से कडवक की संयोजना अपभ्रंश-काव्य की निजी विशेषता है। इस प्रकार कडवकबन्ध एक शैली मात्र है जो समान रूप से अपभ्रंश के पुराण, चरित, कथा तथा अन्य काव्यों में भी प्रयुक्त मिलता है।

अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में निम्नलिखित बातों में बहुत कुछ समानता मिलती है:—

(१) कथावस्तु एवं घटनाओं में कहीं-कहीं अद्‌भुत समानता मिलती है। प्रत्येक कुँवर या राजकुमार की समुद्र-यात्रा और सिंहलद्वीप में सुन्दरी का वरण करना, एक ऐसी सामान्य घटना है जो लगभग सभी प्रेमाख्यानक काव्यों में मिलती है। इसी प्रकार चित्र-दर्शन, रूप-दर्शन, प्रथम मिलन व दर्शन में ही प्रेम हो जाना आदि बातें समान रूप से मिलती हैं।

(२) सामन्तयुगीन वैभव, भोग-विलास तथा युद्ध के चित्रण भी इन काव्यों में मिलते हैं। किसी-किसी कथाकाव्य में सुन्दरी के लिए भी युद्ध किया जाता है, जैसे 'भविष्यदत्तकथा' में भविष्यदत्त सुमित्रा की रक्षा के लिए युद्ध करता है और अपनी शूर-वीरता प्रदर्शित करता है।

(३) कथानक-रूढ़ियों के साथ ही प्रबन्ध-रचना एवं सङ्घटना में भी साम्य लक्षित होता है। ईश-वन्दना, नम्रता-प्रदर्शन, कवि या काव्य-रचनाओं का उल्लेख, काव्य पढ़ने का अधिकारी, काव्य विषयक सङ्केत तथा मान्यता आदि बातों का उल्लेख परम्परागत रूढ़ियाँ हैं जिनका प्रचलन सम्भवतः प्राकृत-युग से हुआ है।

हिन्दी के सूफी काव्यों की रचना 'मसनवी' शैली में हुई है। मसनवी का अर्थ 'दो' है। इसमें प्रत्येक शेर के दो मिसरे होते हैं। इसका प्रत्येक शेर छन्द और भाव की दृष्टि से पूर्ण होता है। मुक्तक की भाँति इनमें भाव या चित्र पूर्ण होता है तथा वाक्य-रचना भी कसी हुई रहती है। मिसरा समतुकान्त होते हैं जिनका आगे की पंक्तियों से तुक की दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं होता। काव्य सर्गों या परिच्छेदों में विभक्त न होकर विषयानुरूप शीर्षकों में विभाजित रहता है। और फिर, इस शैली में लिखा गया किसी भी प्रकार का प्रबन्धकाव्य क्यों न हो, वह मसनवी माना जायगा।[१२] फ़िरदौसी का 'शाहनामा' और 'यूसुफ़-जुलेखा' मसनवी काव्य माने जाते हैं। किन्तु अपभ्रंश कथाकाव्य तथा चरितकाव्य की रचना सन्धिबद्ध होती है और सन्धि या परिच्छेद 'कड़वकबद्ध' होते हैं। 'कडवक' पद्धड़िया, अडिल्ला या उसी आकार के किसी छन्दों का समूह होता है जिसमें किसी एक दृश्य या भाव का वर्णन रहता है। अपभ्रंश में कडवकों तथा उनमें निहित छन्दों की संख्या नियत नहीं है। साधारणतः एक कडवक में आठ यमक या सोलह पंक्तियाँ रहती है। परन्तु कई काव्यों में एक कडवक में अठारह, बीस, बाईस, चौबीस, तीस, बत्तीस और छत्तीस तक पंक्तियाँ तथा छन्द मिलते हैं। कडवक द्विपदी या ध्रुवई अथवा दोहा या दोहा के आकार के किसी छन्द से जुड़े रहते हैं। कहीं-कहीं कडवक के आदि में और कहीं-कहीं अन्त-आदि दोनों में दोहा के आकार का कोई न कोई छन्द संयुक्त रहता है। अधिकतर यह अन्त में ही जुड़ा देखा जाता है। प्रबन्ध-रचना की यह शैली अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों में समान रूप से मिलती है। वस्तु, घटना, कथानक-रूढ़ि तथा चरित्र-चित्रण में ही नहीं, प्रबन्ध-रचना में भी सूफी-काव्य अपभ्रंश-काव्यों की परम्परा से प्रभावित जान पड़ते हैं। स्पष्ट रूप से हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना चौपाई-दोहा शैली में हुई है जो अपभ्रंश-काव्यों की देन है। यह अवश्य है कि अपभ्रंश के काव्यों की रचना सन्धि, परिच्छेद, विक्रम या भास आदि में की गई है और सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना शीर्षकबद्ध है। परन्तु प्राकृत की 'गउडवह', 'कुवलयमालाकहा' और अपभ्रंश में हरिभद्रसूरि रचित 'णेमिणाह-चरिउ'

सर्गहीन रचनाएँ हैं। सम्भव है कि इस प्रकार की रचनाएँ और भी लिखी गई हों, पर काल-प्रवाह में न बच पाई हों। इस सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी द्वारा निष्कर्ष रूप में अभिव्यक्त विचार ही उचित जान पड़ते हैं—"जिस समय हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों की रचना आरम्भ हुई, उस समय तक उनके रचयिताओं के लिए ऐसी अनेक बातें प्रस्तुत की जा चुकी थीं जिनका वे किसी न किसी रूप में बड़ी सरलता से उपयोग कर सकते थे। क्या कथा-वस्तु, क्या काव्य-रूप, क्या रचना-शैली और कथा-रूढ़ियों जैसी सामग्री, इनमें से कदाचित किसी के लिए भी उन्हें न तो कोई सर्वथा नवीन मार्ग निर्मित करने की आवश्यकता थी और न अधिक प्रयास ही करने की।"[१३] यह सर्वमान्य सत्य है कि सूफी प्रेमाख्यानकों में प्रयुक्त अधिकतर कथाएँ भारतीय हैं, और भारतीय लोक-जीवन से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिए अपभ्रंश की 'विलासवतीकथा' और दुखहरनदास कृत 'पुहुपावती' में अद्‌भुत साम्य है। इसी प्रकार 'पद्‌मावती' तथा 'मृगावती' की कथाएँ भी जैन कथाओं से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं।[१४] परम्परागत प्रचलित भारतीय लोककथाओं को ग्रहण कर सूफी कवियों ने प्रेम-अभिव्यञ्जना तथा अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए कहीं-कहीं उनमें परिवर्तन भी किया और अन्तर्कथाओं को जोड़ कर जन-मानस में अपने आदर्शों की प्रतिष्ठा करने का भी प्रयत्न किया। वस्तुतः वे इस रीति को छोड़ कर भारतीय जनता के बीच लोकप्रिय नहीं बन सकते थे। इसलिए कथा, चरित्र, शैली, भाषा और अभिव्यक्ति के अन्य उपादानों को भी उन्होंने ग्रहण कर आदर्शों का प्रचार किया। अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों से ये केवल एक बात में ही भिन्न जान पड़ते हैं और वह है चलते हुए कथानक में अलौकिक प्रेम की व्यञ्जना। परन्तु यह विशेषता जायसी के 'पद्‌मावत' में ही मिलती है। अपभ्रंश की अभी तक ऐसी कोई रचना नहीं मिल सकी है।

अपभ्रंश में प्राकृत की भाँति धार्मिक वातावरण में ही नहीं, लोक-जीवन की उन्मुक्त दशाओं में भी स्वतन्त्र भाव-भूमि पर लोकगाथाओं को प्रेम एवं रसमयी वाणी प्रदान की गई है। उनमें लोक-चेतना का सहज प्रवाह लक्षित होता है तथा सामन्तकालीन आभिजात्य वर्ग के सामाजिक रूप का स्पष्ट दर्शन होता है। अपभ्रंश के कथाकाव्यों में प्रयुक्त अधिकतर कथाएँ प्रेमगाथाएँ हैं जो विभिन्न उद्देश्यों से कई उपकथाओं के साथ जुड़ी हुई हैं और उद्देश्य प्रधान होने के कारण कई स्थलों पर धार्मिक वातावरण में अभिव्यक्त की गई हैं। चरितकाव्यों की कथाओं में मोड़ तथा परिवर्तन कम है। क्योंकि उनमें आरम्भ से ही नायक को असाधारण एवं अतिलौकिक रूप में चित्रित किया गया है। किन्तु कथाकाव्य में दुःख-सुख के झूलों में झूलते हुए, सङ्घर्ष-विघर्षों से टकराते हुए, आशा-निराशा में डूबते-उतराते हुए नायक अपने जीवन का स्वयं निर्माण करते हैं और साधारण से साधारण पुरुष की भाँति दुःख तथा वेदनाओं को झेलते हैं।

यद्यपि चरितकाव्यों में भी नायक के साहस तथा शूर-वीरता के कार्य-व्यापारों का वर्णन रहता है, पर वह अतिलौकिक शक्तियों से प्रेरित तथा अनुप्राणित होता है। इसलिए उसमें सहज ही दैवी भाव लक्षित होता है। पुराणों की भाँति चरितकाव्यों में प्रायः एक से अधिक कथाएँ एक साथ वर्णित देखी जाती हैं। कथा में से कथा फूट कर जन्म-जन्मान्तरों की घटनाओं तथा इतिवृत्तों से इस प्रकार संयुक्त हो जाती है, मानो कथा का ही मुख्य अङ्ग हों। चरितकाव्यों की अपेक्षा कथाकाव्यों में इस प्रकार की चिप्पियाँ कम लगी मिलती हैं और कम से कम पूर्वार्द्ध कथाओं तथा

घटनाओं में ऐसा व्यवस्थित क्रम मिलता है कि क्रियान्विति का सूत्र कहीं से भी विच्छिन्न नहीं जान पड़ता। परन्तु चरितकाव्यों में क्रियान्विति का निर्वाह नहीं देखा जाता है। चरितों के माध्यम से अपभ्रंश कवियों ने किसी-किसी चरितकाव्य में धार्मिक उद्देश्य भी प्रकट किया है। महाकवि पुष्पदन्त ने 'जसहरचरिउ' की रचना 'अहिंसा परम धर्म है' इस मान्यता को प्रभावशाली ढङ्ग से प्रकट करने के लिए की है और इस उद्देश्य के साथ ही ग्रन्थ की भी समाप्ति हो जाती है। हिन्दी के प्रेमाख्यानकों में भी यही प्रवृत्ति मिलती है।

इस प्रकार मध्ययुगीन साहित्य में विकसनशील पौराणिक तथा लोकाख्यानों से एक नवीन ही काव्यधारा का प्रचलन हुआ, जो आगे चल कर सूफी प्रेमाख्यान तथा हिन्दी के प्रेमाख्यानकों में पल्लवित तथा पुष्पित हुई। वस्तुतः अपभ्रंश-कथाकाव्य की यह धारा चिर प्रचलित प्राकृत लोकाख्यानों की परम्परा से विकसित हुई है जो मूलतः नायकों के चरित तथा धार्मिक प्रभाव को प्रकाशित एवं प्रसारित करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है। यही कारण है कि अपभ्रंश के प्रत्येक कथा तथा चरितकाव्य में किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा हुई है। भारतीय मान्य सिद्धान्तों की भाँति इनका मूल स्वर आदर्श का है, यथार्थ का नहीं। यद्यपि व्यक्तिवादी आदर्शों तथा मान्यताओं की अवहेलना नहीं की गई है और कहीं-कहीं उनका प्रभाव भी दर्शाया गया है, किन्तु अन्त धार्मिक वातावरण तथा आदर्श सिद्धान्तों के पालन और पूर्णता के साथ हुआ है। स्पष्ट ही अपभ्रंश के कथा तथा चरितकाव्यों का प्रारम्भ और अन्त शान्त रस में पर्यवसित हुआ है। इसलिए इन काव्यों के अध्ययन से कभी-कभी यह प्रतीत होने लगता है कि जीवन के मूल्यों की उपेक्षा की गई है। परन्तु दूसरे ही क्षण शान्ति और वैराग्य की झलक बहिर्मुखी लोक से अन्तरलोक की ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहती है। और यही इनकी सामान्य विशेषता है।

सन्दर्भ-सङ्केत :—

(१) "सकलकथेति चरितमित्यर्थः।" —काव्यानुशासन, ८, ८ की वृत्ति।

(२) ग्रन्थान्तरप्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधैः।
मध्यादुपान्ततो वा सा खण्डकथा यथेन्दुमती॥ वही

(३) डॉ० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० १७४ (४) ए हिस्टरी आफ़ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द २, पृ० ५३२ (५) सी० एम० बावरा : हिरोइक पोयट्री, पृ० ४ (६) वही, पृ० ५ (७) 'पउमसिरिचरिउ' की प्रासङ्गिक भूमिका, पृ० १५ (८) जैन-ग्रन्थ-प्रशस्ति-संग्रह, द्वितीय भाग (पं० परमानन्द जैन, शास्त्री), पृ० १४४ (९) छड्डुणिय दुवइ धुवइहि जडिय, चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय—हरिवंश पुराण १, २।

(१०) सोलहमत्तं पाआउलअं, छचछंसविरइअं सकुंलअं।
तं चेअ चतारचउक्कलअं, तं जाणसु पद्धडिआधुवअं॥ (स्वयम्भूछन्द, ६, १२९)

(११) पद्धडिआ पुणु जे इ करेंति, ते सोडह मत्तउ पउ धरेंति।
बिहिं पअहिं जमउ ते णिम्मअंति, कडवअ अट्ठहिं जमअहिं रअन्ति॥ वही, ८, १५

(१२) डॉ० शम्भूनाथ सिंह : हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृ० ४१६ (१३) 'लोकगाथा और सूफी प्रेमाख्यान' शीर्षक लेख, हिन्दुस्तानी, भाग २३, अङ्क २, पृ० ३८ (१४) डॉ० शिवगोपाल मिश्र द्वारा सम्पादित कुतुबन कृत 'मृगावती'

'शुक्रनीतिसार' द्वारा विदित ग्रामशासन-व्यवस्था

• विजय गोविन्द

सभ्यता तथा संस्कृति के आरम्भ से ही समाज अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुछ नियमों का निर्माण और प्रयोग करता रहा है।[1] भारतीय ग्रन्थों के अनुसार अति प्राचीन काल में समाज प्राकृतिक नियमों पर आधारित था जिसमें किसी भी प्रकार की राजनैतिक सत्ता का हस्तक्षेप नहीं था।[2] 'शान्तिपर्व महाभारत' के अनुसार जब समृद्धशाली समाज में अराजकता और निरङ्कुशता का आविर्भाव हुआ, तो उसके उन्मूलन के हेतु शासन-व्यवस्था और एक निश्चित राजसत्ता की आवश्यकता पड़ी।[3] परिणामस्वरूप शासन-व्यवस्था और राजसत्ता की उत्पत्ति हुई,[4] जिसका मुख्य ध्येय सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना था।

शासन की विभिन्न इकाइयों में ग्रामीण शासन-व्यवस्था भी अति प्राचीन काल से एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जातकों के अनुसार वही राज्य महान् एवं गौरवशाली कहलाने योग्य है जिसमें अधिकाधिक ग्राम सम्मिलित रहते हैं।[5] यद्यपि सभ्यता और संस्कृति का विकास नगर-सभ्यता के क्षेत्र में अधिक हुआ, फिर भी प्राचीन ग्रामीण शासन-व्यवस्था आधुनिक नगर-व्यवस्था की तुलना में अधिक सरल, साधारण एवं सुचारु रूप से क्रियाशील थी।[6]

'शुक्रनीतिसार' ग्रन्थ प्राचीन ग्राम्य-शासन के विभिन्न पक्षों पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालता है। इस ग्रन्थ की रचना-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। गुस्टेव ओपर्ट के अनुसार इसकी रचना चौथी शताब्दी में हुई।[7] डॉ० वी० के० सरकार भी इसी मत को मानते हैं (दे०, पाजिटिव बैकग्राउण्ड ऑफ़ हिन्दू सोशियोलाजी, भाग २, पृ० ६३-७१)। के० पी० जायसवाल ने 'हिन्दू पालिटी' में इस ग्रन्थ को ८वीं शती का बताया है। अल्तेकर के अनुसार यह ग्रन्थ ११-१२वीं शती के लगभग प्रारम्भ होकर १४वीं शती में पूरा हुआ (स्टेट ऐण्ड गवर्नमेण्ट, इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० २०)। डॉ० लल्लनजी गोपाल के अनुसार यह ग्रन्थ १९वीं शताब्दी का एक भ्रामक ग्रन्थ है (बुलिटिन आफ़ द ओरियण्टल एण्ड अफ़्रिकन स्टडीज़, लन्दन, भाग ३, वाल्यू० २५, अक्टूबर १९६२, पृ० ५२६-५५६)। परन्तु साधारणतया इस ग्रन्थ की तिथि ८वीं शती मानी गई है। अंग्रेजों ने १९वीं तथा २०वीं शताब्दी में भी अपने शासन का मूल केन्द्र ग्रामों को ही समझा और ग्राम पञ्चायतों को जो कि शासन की केन्द्र थीं, अपनी राजसत्ता से यथासाध्य

स्वच्छन्द रक्खा।[८] आर० सी० दत्ता ने सत्य ही कहा है कि **"The Institution of village administration was developed earliest and preserved longest among all the countries of the earth."**[९] निस्सन्देह, प्राचीन काल में ग्राम-व्यवस्था, राज-व्यवस्था की मूलाधार थी।

'शुक्रनीतिसार' में ग्राम-शासन-व्यवस्था का वर्णन अत्यन्त रोचकतापूर्वक किया गया है। डॉ० ए० एस० अल्तेकर के अनुसार 'शुक्रनीतिसार' प्राचीन शासन-व्यवस्था की ओर सङ्केत करनेवाले अन्य सभी ग्रन्थों की भाँति आदर्श एवं तार्किक नियमों से पूर्ण शासन-व्यवस्था का वर्णन न कर पूर्वकालीन वास्तविक एवं व्यावहारिक शासन-व्यवस्था का वर्णन करता है जो कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' पर अधिक अंश तक आधारित है।[१०]

'शुक्रनीतिसार' में आये सन्दर्भों द्वारा यह विदित होता है कि शासन की सुविधा के हेतु समस्त राज्य, शासन की विभिन्न इकाइयों में विभाजित था, जिसका कार्य विभिन्न वर्ग के पदाधिकारियों द्वारा कार्यान्वित होता था।[११] राजा यह भलीभाँति जानता था कि एक पहिये के आधार पर शासन का कार्य नहीं चल सकता है।[१२] इसी कारण विभिन्न प्रकार के पदाधिकारियों की नियुक्ति होती थी।[१३] राजा का यह कर्तव्य था कि वह स्वयं ग्राम-शासन-व्यवस्था पर पूर्ण नियन्त्रण रक्खे और प्रजा के सुख और शान्ति का ध्यान रखते हुए राजकर्मचारियों पर भी ध्यान रक्खे कि कहीं वे प्रजा को पीड़ित तो नहीं कर रहे हैं।[१४]

ग्राम, राज्य की न्यूनतम इकाई था।[१५] कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' के अनुसार एक ग्राम में १०० से ५०० तक परिवार निवास करते थे।[१६] 'शुक्रनीतिसार' में भी विभिन्न प्रकार के गृहों तथा गृहस्थानों का वर्णन है जो कि गृह के सदस्यों तथा मनुष्यों के सामाजिक स्तर पर आधारित था।[१७] ग्रामों की सीमा के आधार पर ही ग्रामों के अलग-अलग नाम हुआ करते थे, यथा--कुम्भ,[१८] पल्लि,[१९] ग्राम।[२०] पल्लि, ग्राम के आधे क्षेत्र के बराबर होता था और इसी प्रकार कुम्भ, पल्लि के आधे क्षेत्र के चौथाई भाग के बराबर होता था।[२१] इस प्रकार ग्राम एक निश्चित सीमा-क्षेत्र से सीमित रहते थे। ग्रामों की सीमा एक क्रोस तक सीमित होती थी।[२२] 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार प्रत्येक ग्राम को एक हज़ार कर्ष (कार्षापन) राजकर के रूप में देना पड़ता था।[२३]

शुक्र ने ग्रामों की निर्धारित व्यवस्था पर अधिक प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ के अनुसार ग्रामों की व्यवस्था एक निश्चित क्रम के अनुसार होनी चाहिये, अर्थात् विभिन्न प्रकार के मार्गों की व्यवस्था, सड़कों एवं गलियों आदि की व्यवस्था समुचित ढङ्ग से होनी चाहिये।[२४] 'शुक्रनीतिसार' में पथ, वीथि, मार्ग और राजमार्ग का वर्णन किया गया है।[२५] शुक्रानुसार इन सबों की चौड़ाई क्रमशः ३, ५, १० और १५ क्यूबिट के मध्य हुआ करती थी[२६] और ग्रामीण परम्परागत राज्य-क्षेत्र का निर्धारण ग्रामों की संख्यानुसार होता था। साथ ही, ग्राम विभिन्न वर्गों में भी विभाजित थे जिसमें १० ग्राम, १०० ग्राम, १००० ग्राम और १० हजार ग्रामों तक के वर्ग सम्मिलित हुआ करते थे। यदि 'शुक्रनीतिसार' का यह वर्णन सत्य है तो यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि प्राचीन ग्रामों की सीमा आधुनिक शहरों और आधुनिक ज़िलों से भी कहीं अधिक विस्तृत होती थी। इस प्रकार से हम देखते हैं कि प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार के ग्रामों के सङ्गठन हुआ करते थे।

'शुक्रनीतिसार' के अनुसार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पूर्वकालीन भारतीय ग्राम-शासन में स्वास्थ्य के नियमों और ग्रामवासियों की अन्य सुविधाओं का विशेष ध्यान रक्खा जाता था। प्राचीन ग्रामीण शासन-व्यवस्था का यह एक महत्त्वपूर्ण पक्ष था। 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार ग्रामीण शासन-व्यवस्था के क्षेत्र में ग्रामों की सुरक्षा, कृषि-व्यवस्था, स्वास्थ्य-व्यवस्था, व्यायाम आदि की व्यवस्था सुचारु रूप से होनी चाहिए। ग्रामों की सुरक्षा के लिये, शुक्र के अनुसार ग्रामों के मकानों का निर्माण एक पंक्ति में ग्राम-पथ के दोनों ओर होना चाहिये। ग्राम-पथ की चौड़ाई १० हाथ (१५ फ़ीट) के लगभग होनी चाहिये तथा वह कछुये की पीठ की तरह बीच में कुछ ऊँची हो, जिससे वर्षा का एकत्रित जल सुविधापूर्वक नालियों के मार्ग से बह जाये।[२७]

'शुक्रनीतिसार' के अनुसार ग्रामों की सुरक्षा के हेतु सीमा के चारों ओर पक्की दीवालें होती थी तथा उनमें पूर्व और उत्तर की ओर अन्दर जाने के लिये मुख्य द्वार हुआ करते थे। ये दीवालें काफी ऊँची हुआ करती थीं, ताकि चोर और डाकू ग्रामों के भीतर न आ सकें। जितनी दीवाल की ऊँचाई हो, उससे आधी या एक तिहाई दीवाल की नींव होनी चाहिये तथा उसकी गहराई उसकी ऊँचाई की आधी होनी चाहिये।[२८] शुक्रनीति के अनुसार दीवालों के बाहर की ओर खाई हुआ करती थी, जिसकी चौड़ाई, गहराई की दूनी होती थी।[२९] दीवालों के मुख्य ग्राम-द्वारों पर ग्राम का चौकीदार जो कि यामिक कहलाता था, रक्खा जाता था।[३०] उसका कर्त्तव्य हर आधे घण्टे में ग्राम का चक्कर लगाना था और सतर्कता से ग्रामों को चोर और डाकुओं आदि से रक्षा करना होता था। इन यामिकों का वेतन ग्रामवासियों के चन्दे द्वारा दिया जाता था।[३१]

शुक्रनीति के अनुसार पथिकों की सुरक्षा का ग्राम-शासन-व्यवस्था में विशेष स्थान रहता था। ग्राम-मार्ग के अतिरिक्त अन्य अनेक पद-मार्ग मुख्य मार्ग से सम्बन्धित रहते थे।[३२] इन पद-मार्गों पर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पन्थशालाएँ (विश्रामशालाएँ) हुआ करती थीं; साथ ही बाजारों और बगीचों का भी प्रबन्ध भलीभाँति हुआ करता था।[३३] दो घरों के मध्य में एक पन्थशाला होती थी। एक विशेष राजकर्मचारी जिसे 'ग्रामप' कहते थे, नियुक्त किया जाता था जो इन पन्थशालाओं, बाजारों और बगीचों के प्रबन्धों का निरीक्षण करता था। पन्थशालाओं के प्रबन्धकर्त्ता को 'पन्थशालाधिपति' कहते थे।[३४] यह पदाधिकारी आधुनिक युग की मैनेजर की भाँति होता था। यह 'ग्रामप' का सहायक होता था। इसका मुख्य कार्य यात्रियों के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना होता था, यद्यपि इसका उत्तरदायित्व 'ग्रामप' पर होता था। यात्रीगण स्वच्छन्द तथा निर्भयतापूर्वक विचरण करते थे। एक अन्य कर्मचारी जिसे 'ग्राम्यजन' कहते थे, आधुनिक चौकीदारों की भाँति राजमार्ग और सड़कों का निरीक्षण करता था।[३५] इन सब पदाधिकारियों के वेतन का प्रबन्ध विशेष करों (टैक्सों) द्वारा होता था।

ग्राम-शासन-व्यवस्था को चलाने के लिये, 'शुक्रनीतिसार' में कई राजकर्मचारियों का वर्णन किया गया है, जिनके कार्य तथा अधिकार भलीभाँति निर्धारित थे। ये पदाधिकारी मुख्यतः संख्या में छः थे[३६] :--(१) सहसाधिपति (आधुनिक मैजिस्ट्रेट या जज) (२) ग्राम नेता ('ग्रामप' सम्भवतः ग्राम का मुखिया होता था) (३) भागहार (कर अधिकारी) (४) लेखक (५) शुल्क ग्राहक (६) प्रतिहार।

डॉ० ए० एस० अल्तेकर के अनुसार इन पदाधिकारियों का वर्णन स्मृतियों और अभिलेखों में प्रचुर मात्रा में मिलता है।[३७] ऐसा प्रतीत होता है कि इन पदाधिकारियों की नियुक्ति अधिक विस्तृत क्षेत्र के ग्रामों में हुआ करती थी। जहाँ तक इन ग्रामीण पदाधिकारियों के अधिकार और कर्त्तव्य का प्रश्न है, 'शुक्रनीतिसार' ग्रन्थ में इनके कर्त्तव्यों का पर अधिक प्रकाश डाला गया है।

सहसाधिपति––इस पदाधिकारी का कार्य ग्रामों में न्याय की व्यवस्था करना होता था। यह ग्राम के सभी प्रकार के झगड़ों को स्वयं सुनता था और न्याय करता था। इसको दण्ड देने का अधिकार था जो कि आधुनिक युग के कलक्टर के समकक्ष प्रतीत होता है। दण्ड देने का अधिकारी होने के कारण उसे 'शुक्रनीतिसार' में 'दण्ड विधायक' कहा गया है।[३८] उसको आदेश था कि वह प्रजा को इस प्रकार का दण्ड न दे जिसके परिणामस्वरूप प्रजा का विनाश अथवा ह्रास हो। दण्ड उचित हो, न अति कठोर हो और न अधिक सूक्ष्म हो।

ग्रामनेता अथवा ग्रामप––ऐसा प्रतीत होता है कि 'ग्रामप' और 'ग्राम नेता' एक ही पदाधिकारी के दो विभिन्न नाम थे। 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार उसके कार्य दो प्रकार के थे। प्रथम, वह ग्रामों की रक्षा चोर और डाकुओं से करता था और जिस प्रकार माता-पिता पुत्रों की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार 'ग्रामनेता' अथवा 'ग्रामप' भी प्रजा की रक्षा करता था।[३९] द्वितीय, उसका कार्य ग्रामों में भूमिकर वसूल करना होता था जिसको एकत्रित करके वह किसी सम्पन्न तथा उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति के यहाँ जमा कर देता था।[४०] 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार 'ग्रामनेता' अथवा 'ग्रामप' इस प्रकार कर वसूल करता था, जैसे कि एक माली बाग के फूलों को सावधानी से चुनता है।[४१] फूल चुनते समय माली जिस प्रकार वृक्षों पर विशेष ध्यान रखता है कि उसे किसी प्रकार की क्षति न पहुँचे, उसी प्रकार ये अधिकारीगण भी प्रजावर्ग से कर लेते समय प्रजा के हितों की रक्षा का सदा ध्यान रखते थे। 'ग्रामनेता' की योग्यता के लिए 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार उसे ब्राह्मण होना अनिवार्य था।[४२] आभिलेखिक साक्ष्यों के अनुसार 'ग्रामनेता' का पद वंशानुगत होता था।[४३] अन्य ग्रन्थों में 'ग्रामनेता' को 'ग्रामिणी' के नाम से सम्बोधित किया गया है।[४४] आभिलेखिक साक्ष्यों से यह विदित होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी में ग्राम का प्रधान अधिकारी 'ग्रामनेता' होता था जो कि विभिन्न नामों अर्थात् ग्रामिक, ग्रामियक, मुनुण्ड, ग्रामकूट, पट्टकिल, गावुण्ड, महत्तक या महन्तक से विख्यात था।[४५] ऐसा प्रतीत होता है कि 'ग्रामनेता' अथवा 'ग्रामप' का मुख्य कर्त्तव्य ग्राम को बाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति से सुरक्षित रखना था। इसके लिये अन्य ग्रन्थों के अनुसार वह स्वयं एक अपनी सुदृढ़ सेना का भी प्रबन्ध करता था।[४६] परन्तु 'शुक्रनीतिसार' में 'ग्रामप' अथवा 'ग्रामनेता' के सैन्य-प्रबन्ध के सम्बन्ध में कोई वर्णन नहीं मिलता है। 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार 'ग्रामप' को अधिकार था कि वह लाभ का बत्तीसवाँ भाग राजकर के रूप में गृहस्थों, कृषकों, दूकानदारों, यात्रियों आदि से ले।[४७]

राज्य की आय के अन्य साधनों में भूमिकर, वनकर[४८] एवं आयातकर[४९] भी सम्मिलित थे। इन सभी करों को एकत्रित करके 'ग्रामप' सुरक्षित रूप से किसी योग्य ग्रामवासी के पास धरोहर के रूप में जमा कर देते थे।[५०]

'शुक्रनीतिसार' के अनुसार ग्रामीण शासन के विभिन्न पदाधिकारी भिन्न-भिन्न मात्राओं में राज्य के भूमिकरों को एकत्रित किया करते थे। ये कर आय के १।१६, १।१२, एवं १।८ भाग तक सीमित रहते थे। ग्रामप राज्य-कर के रूप में भूमि की आय का १।६ भाग प्रत्येक माह तथा प्रत्येक ऋतु में लेता था।[५१]

राज्य की आय का वितरण अत्यन्त सन्तुलित ढङ्ग से हुआ करता था। यह पक्ष प्राचीन भारतीय ग्रामीण शासन-पद्धति की सुव्यवस्था का द्योतक है। कृषक को जो कि अपना धन कृषि-उत्पादन में लगाता था और जो राज्य-कर भी देता था, उसके सम्पूर्ण लागत का दूना राज्यकी ओर से दिया जाता था।

भागहार--'भागहार' ग्राम-शासन-व्यवस्था के सञ्चालन में एक मुख्य पदाधिकारी था। उसका मुख्य कार्य भूमिकर वसूल करना होता था। जिस प्रकार माली अपने बगीचे की देखभाल भलीभाँति करता है, उसी प्रकार वह भी प्रजा की सुविधा तथा उन्नति का ध्यान रखते हुए करों की वसूली करता था।[५२]

शुल्क ग्राहक--'शुल्क ग्राहक' अथवा 'शाल्किक' भी कर-पदाधिकारी होता था, परन्तु इस अधिकारी का कार्य केवल व्यापारी वर्ग से कर वसूल करना होता था।[५३] उसका यह कर्त्तव्य था कि वह कर वसूल करते समय इस बात का ध्यान रक्खे कि व्यापारियों की मूल पूँजी को कोई भी हानि न पहुँचे।

लेखक-- 'शुक्रनीतिसार' द्वारा यह विदित होता है कि ग्राम के शासन का पूर्ण ब्यौरा रखने के लिये एक 'लेखक' नाम के पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी।[५४] इस पदाधिकारी का कार्य आधुनिक युग के क्लर्क की भाँति था। यह ग्राम-शासन से सम्बन्धित समस्त ब्यौरों को लेखनीबद्ध करता था। इनकी योग्यताओं के विषय में 'शुक्रनीतिसार' में कहा गया है कि इनको गणित में योग्य होना आवश्यक है। साथ ही इनको विभिन्न देशों की भाषाओं में भी पारङ्गत होना चाहिये जिससे कि ये पदाधिकारीगण सब राज्यों से पत्र-व्यवहार द्वारा सम्बन्ध स्थापित कर सकें और राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति भली भाँति कर सकें। 'शुक्रनीतिसार' द्वारा विदित होता है कि इन पदाधिकारियों की लेखन-शैली अत्यन्त ही सुन्दर, सरल एवं स्पष्ट होनी चाहिये, अन्यथा ये पद के योग्य नहीं समझे जाते थे।[५५]

प्रतिहार--यह पदाधिकारी आधुनिक युग के इन्फार्मेशन आफ़िसर की भाँति होता था। 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार इनका शरीर हृष्ट-पुष्ट होना चाहिए तथा इनको अस्त्र-शस्त्र में कुशल भी होना चाहिये।[५६] इस पदाधिकारी का मुख्य कार्य अपने बड़े पदाधिकारियों को ग्राम-शासन के सम्बन्ध में सूचना देना होता था। साथ ही अधिकारियों को जब किसी अन्य पदाधिकारी की आवश्यकता होती थी, तब वह इसी अधिकारी को आदेश देकर बुलवाया करते थे। दूसरे शब्दों में 'प्रतिहार' को सूचना-वाहक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

ग्रामीण शासन के सञ्चालन से सम्बन्धित इन सभी अधिकारीगणों के पर्यवेक्षण से यह विदित होता है कि ये सब अधिकारीगण किसी न किसी रूप में भूमिकर वसूल करने के उत्तरदायी थे। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रामीण कृषि-व्यवस्था अत्यन्त ही समृद्धशाली थी।

राज्य की आय के स्रोतों में भूमिकर तथा आयकर मुख्य थे। फावेट के मतानुसार राज्य के व्यय को पूरा करने के लिये राजकर लगाना अत्यन्त आवश्यक होता है।[५७] मिल के कथनानुसार "भूमि सम्बन्धित कर प्रतिष्ठित राज्य के मूल तत्व हैं।"[५८] कौटिल्य ने भी वर्षों पूर्व इसी प्रकार का कथन व्यक्त किया था कि "राज्य के समस्त कार्यों में अर्थ आधार रूप होता है।"[५९]

जातकों के अनुसार राज्य में राज्य-कोष तथा राज्य की आय से प्राप्त अन्य वस्तुओं को एकत्रित करने के हेतु खज़ानों एवं बड़े-बड़े गृहों का निर्माण किया जाता था।[६०] इन गृहों की सुरक्षा राज्य की ओर से भली-भाँति की जाती थी। यही कारण है कि 'शुक्रनीतिसार' में कर वसूल करने की व्यवस्था का विस्तृत वर्णन और विभिन्न कर्मचारियों का उल्लेख किया गया है।

निरीक्षक समिति—'शुक्रनीतिसार' से इस बात का भी बोध होता है कि ग्राम-शासन को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिये एक 'निरीक्षक समिति' होती थी। उस समिति का मुख्य कार्य ग्राम-शासन से सम्बन्धित पदाधिकारियों का भली-भाँति निरीक्षण करना होता था। 'निरीक्षकसमिति' की आवश्यकता का मूल कारण सम्भवतः ग्रामों का वृहत् समूह भी था। दस ग्राम, सौ ग्राम तथा सहस्र ग्राम के समूह होते थे। इन ग्राम-समूहों के अधिकारी क्रमशः 'नायक', 'सामन्त' तथा 'आशापाल' के नामों से सम्बोधित किये जाते थे।[६१] एक सहस्र ग्रामों का स्वामी दो घोड़ों की सवारी पर चढ़ता था तथा दस हजार ग्रामों का स्वामी चार घोड़ों की सवारी पर चढ़ता था।[६२] श्री जवाहरलाल नेहरू के विचारानुसार यह निरीक्षक समिति आधुनिक ग्राम पञ्चायतों के समान थी, जिसको न्याय-सम्बन्धी तथा शासन-सम्बन्धी अन्य प्रकार के अधिकार प्राप्त थे।[६३]

'शुक्रनीतिसार' द्वारा यह विदित होता है कि केवल बाह्य आक्रमण की दशा को छोड़कर राजा ग्रामशासन के किसी भी क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता था। सैनिकों को ग्रामों में जाने की आज्ञा नहीं थी और न ग्रामवासी ही उनसे किसी भी प्रकार का व्यावहारिक सम्पर्क स्थापित कर सकते थे।[६४] इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रामीण शासन-व्यवस्था में ग्रामीणों को स्थानीय स्वतन्त्रता पूर्णरूप से प्राप्त थी।[६५]

जहाँ तक स्थानीय न्यायालयों का प्रश्न है, पूर्व लेखकों की भाँति ही शुक्र ने भी तीन प्रकार के न्यायालयों का वर्णन किया है यथा, कुल, श्रेणी तथा गण।[६६] इन न्यायालयों के अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र थे। व्यापारिक तथा अन्य ग्रामीण झगड़ों के निर्णय के लिये उनके अलग न्यायालय थे। इसी प्रकार बन-क्षेत्र के अलग तथा सैनिकों के अलग न्यायालय थे।[६७] इस प्रकार की न्याय-व्यवस्था इङ्गलैण्ड में मध्ययुग में प्रचलित थी जबकि एक पादरी का न्याय 'पीयरों की समिति' ही कर सकती थी।[६८]

इस प्रकार की व्यवस्था से लाभ यह था कि न्याय-समिति उस वर्ग की समस्याओं से भली-भाँति परिचित होने के कारण अपना निर्णय भली-प्रकार दिया करती थी।[६९] अपराध सम्बन्धी और व्यवहार सम्बन्धी निर्णय सभी दशाओं में जनता के सम्मुख हुआ करते थे।[७०] इससे प्रजा पर इसका विशेष प्रभाव पड़ता था।

न्यायाधीश को न्यायकार्य में सहायता देने के लिये 'सभासद्' होते थे। 'नारद स्मृति' में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। 'शुक्रनीतिसार' में भी सभासदों का उल्लेख आया है।[७१] न्याय-निर्धारण में प्रत्यक्षियों से शपथ ली जाती थी और गलत सूचना देने पर उनको दण्ड स्वरूप दैवी परीक्षा देनी पड़ती थी।[७२] किसी विवाद पर भली प्रकार से विचार करने के पश्चात् ही दण्ड का निर्णय किया जाता था। 'शुक्रनीतिसार' के अनुसार सभासद् में योग्य तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति होते थे तथा उनका चुनाव विवाद-निर्णय के पहले होता था। इससे यह स्पष्ट है कि पूर्वकालीन भारत में इनका निर्वाचन स्थायी रूप से नहीं होता था।[७३]

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'शुक्रनीतिसार' में ग्रामों की सुरक्षा का प्रबन्ध, स्वास्थ्य-व्यवस्था, कृषि-व्यवस्था, व्यापार-व्यवस्था एवं कर-व्यवस्था आदि का वर्णन अत्यन्त स्पष्टता से किया गया है। शासन-प्रबन्ध केवल ग्राम-पदाधिकारियों द्वारा ही सञ्चालित नहीं होता, अपितु उसके ऊपर भी निरीक्षक समिति अपना नियन्त्रण रखती थी। हिन्दू-शासन-व्यवस्था तथा न्याय-सिद्धान्त हमारे लिए गौरव की वस्तु है। श्री वी० आर० दीक्षितार ने यह उचित ही कहा है कि "यद्यपि सभी देशों में राज-व्यवस्था का जन्म एवं विकास हुआ, परन्तु कहीं भी इतना श्रेष्ठ तथा समुचित विकास नहीं हुआ, जैसा कि हिन्दू-शासन-व्यवस्था में था। यही कारण है कि उसका ह्रास नहीं हुआ तथा समय का प्रभाव उसे नष्ट न कर सका।"[७४]

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) हर्बट स्पेंसर: प्रिन्सिपल्स ऑफ़ सोशियोलाजी, भाग १, विभाग २२४-२३३, (२) आर० के० मुकर्जी: लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, पृ० ३-४ (३) शान्तिपर्व, महाभारत, अध्याय ५९ एवं ६७; मनुस्मृति, ८।३११, ३१८ (४) डॉ० के० पी० जायसवाल: हिन्दू पॉलिटी, भाग २, पृ० ३-१३ (५) जातक, भाग ३, पृ० ३६५-३६७, ग ७६ तथा भाग ५, पृ० २५८, ग ४१ (६) आर० के० मुकर्जी: लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंशिएण्ट इण्डिया, भाग २, पृ० १४-२०; डॉ० अल्तेकर: स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० २२५. (७) ओपर्ट: शुक्रनीतिसार, मद्रास १८८२, पृ० ८, (८) जॉन मथाई: विलेज गवर्नमेण्ट इन ब्रिटिश इण्डिया; एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ४, पृ० १५, १६, १३८ (९) आर० सी० दत्ता: दि इकोनामिक हिस्टरी आफ् इण्डिया (१०) डॉ० अल्तेकर: स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐन्शिएण्ट इण्डिया, पृ० १८ (११) शुक्रनीतिसार, २।११,१७ (सरकार द्वारा सम्पादित) (१२) वही २।७१ (१३) वही (१४) वही १।३७३; नारद स्मृति १८।२।३३; गौतम संहिता, अध्याय ९ (१५) शुक्रनीतिसार १।३८५-८६, पृ० २५ (सरकार) (१६) कौटिल्य: अर्थशास्त्र, पुस्तक २, विभाग १ (१७) शुक्रनीतिसार ५।८७-८९ (१८) वही, १।१९३ (१९) वही, १।१९२-३ (२०) वही, १।१९३ (२१) वही१।१९२ (२२) कोस = २ मील (२३) शुक्रनीतिसार १।९२ (२४) वही १।२५१ (२५) वही १।२५१ (२६) वही १।१९२ (२७) वही, १।२६४, २६५, २६७ (२८) वही १।४७४, ४७६ (२९) वही १।५, २४० (३०)

वही, १।९१-९२ (३१) वही, १।२८९, ४०५ (३२) वही १।२१२, १५ (३३) वही, १।२५७-९ (३४) वही, १।२६८-६९ (३५) वही, ४।२४० (३६) वही, २।१२० (३७) डॉ० ए० एस० अल्तेकर : स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० २२८ (३८) शुक्रनीतिसार, २।१६९-७० (३९) वही, २।१७०-७१ तथा ३४३; (४०) वही, ४।२३५ (४१) वही, २।१७२ (४२)वही, २।१२१-२ (४३) मथुरा अभिलेख नं० ११, एपि० इण्डिका, भाग १, पृ० ३८; तमिल देश में 'ग्रामनेता' का चुनाव ग्रामसभा के द्वारा होता था, देखिए नं० ८९, साउथ इण्डियन एपिग्राफिकल रिव्यू, १९३२ (४४) मनुस्मृति, ८।११६; बाल्मीकि रामायण, युद्ध खण्ड, १७।११६; एपि० इण्डिका, भाग १०, ल्यूडर्स लिस्ट नम्बर १३३३, ४८, ६९ (४५) १—'ग्रामिक' या 'ग्रामयिक' का वर्णन उत्तरी भारत के अभिलेखों में मिलता है। देखिए, एपि० इण्डिका, भाग १, पृ० ३८७; २—'मनुण्ड' का वर्णन दक्षिणी भारत के अभिलेखों में मिलता है। देखिए एपि० इण्डिका भाग ९, पृ० ५८; ३—'ग्रामकूट' या 'पट्टकिल' का वर्णन महाराष्ट्र के अभि० में मिलता है। ४—'गावुण्ड' का उल्लेख कर्नाटक अभि० में मिलता है। देखिये अल्तेकर—राष्ट्रकूट, पृ० १८९; ५—'महत्तक' या 'महन्तक' का उल्लेख उत्तर प्रदेश के अभि० में मिलता है (६००–१२०० ई० तक) देखिये। इण्डियन ऐण्टिक्वारी, भाग २८, पृ० १५-१७ (४६) सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० ५४ (झा द्वारा सम्पा०) (४७) शुक्रनीतिसार ४।२४५; २।२५८ (सरकार का अनुवाद) (४८) वही, ४।१२९ (४९) वही, २।२०९-१४ (५०) वही, ४।२३५ (५१) वही, ४।२३६-३७ (५२) वही, २।१७१-७२ (५३) वही, २।१७४-७५ (५४) वही, २।१२० एवं २।२९३-४ (सरकार द्वारा सम्पादित)।

(५५) गणनाकुशलोयस्तुदेश भाषाप्रभेदवित्।
असंदिग्धम् गूढार्थं विलिखेत् स च लेखकः'—शुक्रनीतिसार २।१७२-७३।

(५६) शस्त्रास्त्र कुशलोयस्तु दृढांगश्च निरालसः।
यथा योग्यं समाहूयात्प्रनमः प्रतिपारकः॥—वही, २।१७३-७४

(५७) फावेट : पोलिटिकल इकनॉमिक्स, पृ० १९६ (५८) मिल : प्रिन्सपल्स ऑफ़ पोलिटिकल इकनॉमिक्स, पृ० ४८३ (५९) 'कोषापूराह सर्वारमभाह'-अर्थशास्त्र २।८ (६०) दीक्षितार : एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन, पृ० १६६; गंगोली : आई० एच० क्यू०, भाग १, पृ० ६९७ (६१) शुक्रनीतिसार १।१९०-९१ (६२) वही, ५।८१-८४ (६३) जवाहरलाल नेहरू : डिसकवरी ऑफ इण्डिया, पृ० २८८ (६४) शुक्रनीतिसार ५।९०-९१ (६५) आर० के० मुकर्जी : लोकल गवर्नमेण्ट इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० ३-४ (६६) बृहस्पति०, १।२८-३०; शुक्रनीतिसार ४।५-२४ (६७) वही (६८) शुक्रनीतिसार, भूमिका (हिन्दी अनुवाद–बी० के० सरकार, प्रयाग, १९२५) (६९) बृहस्पति० १।२५-२७; मनु० ८।६२; याज्ञ० २।१५० (७०) शुक्रनीतिसार ४।५-६ (७१) वही, ४।६९९ (७२) वही, २।९७-९९ (७३) दीक्षितार : हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० २४६ (७४) वही, पृ० ३८२।

सामाजिक एकता का दार्शनिक विवेचन

• दयालशरण वर्मा

समाज-दर्शन के दो मुख्य कार्य हैं—प्रथम, सामाजिक जीवन के समष्टि रूप की दार्शनिक व्याख्या तथा दूसरा, अनेक प्रकार के उन सामाजिक सम्बन्धों का मूल्याङ्कन जो आदर्श सामाजिक समष्टि की स्थापना में साधन बनते हैं। समाज-दर्शन के ये दोनों ही कार्य अपने निजी रूप में बड़े गत्यात्मक हैं। क्योंकि हमारी सामाजिक समष्टि की कल्पना न केवल हिगल के अमूर्त, निरपेक्ष राज्य से भिन्न है, वरन् दुरखीम के सामाजिक मन से भी भिन्न है जिसे वह व्यष्टि-मन से अलग मानता है। हमारी कल्पना में सामाजिक समष्टि, सामाजिक एकता का एक ऐसा व्यावहारिक आदर्श है जो समाज के सामाजिक अनुभवों में तथा व्यक्ति की सामाजिक महत्वाकांक्षाओं में प्रतिफलित होता है तथा जिसकी उन्हीं अनुभवों के आधार पर उत्तरोत्तर व्याख्या होती है और उस आदर्श को इन व्याख्याओं के आधार पर नये-नये रूपों में प्राप्त किया जा सकता है। इस निबन्ध में सामाजिक एकता की इसी धारणा पर हम विचार करेंगे। इसके अतिरिक्त समाज-दर्शन के जिस दूसरे कार्य का उल्लेख हमने ऊपर किया है, उसके विषय में भी यहाँ यह कहना आवश्यक है कि मूल्याङ्कन-सम्बन्धी चिन्तन न केवल किसी विशेष सामाजिक बन्धन का मूल्याङ्कन कर उसके आदर्श रूप को स्पष्ट करता है, वरन् उन मापदण्डों की भी पुनः-पुनः जाँच करता है जिनके आधार पर यह मूल्याङ्कन किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि मूल्याङ्कन प्रक्रिया न केवल निरन्तर परिवर्तित होने वाले सामाजिक सम्बन्धों के आदर्श रूप का ही मूल्याङ्कन करती चलती है, वरन् अपने इस मूल्याङ्कन के मापदण्डों में भी परिवर्तन करती चलती है। इन तमाम परिवर्तनों का आधार विवेक होता है, दार्शनिक चिन्तन और मनन होता है जिसके अभाव में या तो सामाजिक रूढ़ियाँ उत्पन्न होती हैं या अवसरवादियों की स्वेच्छाचारिता बढ़ती है तथा सभी मूल्यों को हीन दृष्टि से देखा जाता है।

सामाजिक समष्टि अथवा समष्टि के रूप में समाज की धारणा का क्या अर्थ है, यह प्रश्न विचारणीय है। क्या इसका अर्थ यह है कि समाज की वस्तुगत रूप से अपने में कोई ऐसी सत्ता है जिसे विशेष सामाजिक सम्बन्धों से स्वतन्त्र हम देख सकते हैं और जिसकी व्याख्या सामाजिक सम्बन्धों की समाजशास्त्रीय व्याख्या के द्वारा नहीं हो सकती? इन प्रश्नों का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है। पहला उत्तर यह होगा कि यदि हम दार्शनिक व्याख्या को वैज्ञानिक

व्याख्या से भिन्न कोटि का मानते हैं तो यह अवश्य ही समष्टि-रूप में समाज की समाज-शास्त्रीय व्याख्या से भिन्न है। समाजशास्त्रीय व्याख्या विभिन्न सामाजिक तथ्यों को परस्परावलम्बी दिखा कर या उन्हें किसी एक सर्वव्यापी नियम के अन्तर्गत लाकर सामाजिक समष्टि के स्वरूप का विवेचन करती है।[१] परन्तु उसका आरम्भ तथ्यों के निर्मूल्यीकृत रूप से होता है। दार्शनिक व्याख्या का स्वरूप समाजशास्त्र की यथार्थवादी वैज्ञानिक व्याख्या से निश्चय ही मौलिक रूप में भिन्न होगा। दार्शनिक व्याख्या विशेष तथ्यों का विश्लेषण या वर्णन न होकर उन धारणाओं का विश्लेषण होती है जिन्हें हम सार्वभौम कहेंगे। कोई धारणा उस अवस्था में सामान्य होती है, जब वह विशेष वस्तुओं के सामान्य लक्षण को ही केवल प्रकट करती है। परन्तु जब कोई धारणा विशेष वस्तुओं के सामान्य लक्षणों के साथ उनके आदर्श लक्षणों को भी व्यक्त करती है तो वह सार्वभौम बनती है। एक सामान्य धारणा तथ्यों तक सीमित होती है, परन्तु एक सार्वभौम धारणा तथ्य तथा आदर्श का मिश्रण होती है। वह उस पदार्थ के प्रति हमारा समस्त अनुभव होता है जिसका वह सामान्य रूप से उल्लेख करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब हम समष्टि के रूप में समाज की व्याख्या करते हैं तो हम अपनी उस अनुभूति का विश्लेषण करते हैं जो समाज की वास्तविकता तथा उसके आदर्श-रूप से हमें मिलती है और जिसके प्रति हमारे मन में निरन्तर प्रतिक्रिया होती रहती है।

उपर्युक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर यह हो सकता है कि सामाजिक समष्टि की निरपेक्ष सत्ता नहीं है। परन्तु हम जिस अर्थ में इसका अध्ययन करना चाहते हैं, उस अर्थ में केवल उसका अस्तित्व ही नहीं है, वरन् वह सभी सामाजिक तथ्यों की पूर्वमान्यता भी है। वह सामाजिक समष्टि, सामाजिक एकता में निहित है। सामाजिक एकता का अर्थ है––और वह इसी अर्थ पर आधारित भी है––कि व्यक्ति उन आदर्शों के प्रति सजग एवं सचेष्ट है जिनका वह अनुकरण करता है; वह सक्रिय रूप से यह अनुभव करता है कि उन आदर्शों की उपलब्धि उसे समाज के माध्यम से ही प्राप्त हो सकता है और उसके इन आदर्शों से दूसरों की आदर्शोन्मुखता में कोई बाधा नहीं पहुँचती। समाज के राजनैतिक तथा आर्थिक अनुकूलन इसी एकता पर आधारित हैं, इसके कारण नहीं हैं। सामाजिक तथा सांस्कृतिक समरूपता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। सामाजिक एकता का यह रूप प्रत्येक ऐच्छिक मानवीय व्यवहार का तार्किक मूलाधार है, अतः इसकी सत्ता सार्वभौम अनुभव की प्रागनुभविक है, अनुभविक नहीं।

ऊपर सामाजिक एकता की जो परिभाषा दी गई है, उसका विस्तारपूर्वक अध्ययन आवश्यक है। क्योंकि इससे न केवल सामाजिक चिन्तन के कुछ दूषित तत्त्वों को हम समझेंगे, वरन् यह भी देखेंगे कि समाज की उत्पत्ति के सभी सिद्धान्त इस प्रकार की समाजिक एकता को चुपचाप मान लेते हैं। कुछ विचारक सामाजिक एकता को ऐसी सामाजिक व्यवस्था का परिणाम मानते हैं जो किसी शक्तिशाली व्यक्ति की दण्ड-शक्ति के द्वारा स्थापित की गयी या बाह्य परिस्थितियों से बाध्य होकर मनुष्यों ने स्वयं ही स्वीकार ली। दूसरे, सामाजिकता को मनुष्यों या सामाजिक अवयवों का स्वभाव मान कर उन्हें या तो रूढ़िबद्ध कर देते हैं या प्राकृतिक नियमों के द्वारा नियन्त्रित मानकर प्राकृतिक तथ्य बना देते हैं। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो इस एकता

को मूलतः सामाजिक सङ्घर्ष का परिणाम मानते हैं। इन सभी पर क्रम से विचार करना आवश्यक है।

'समाज' निस्सन्देह किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था का द्योतक है, अतः जब कोई सिद्धान्त, सामाजिक व्यवस्था की उत्पत्ति की व्याख्या करता है, तब वह समाज की उत्पत्ति की ही व्याख्या करता है। समाज की उत्पत्ति-सम्बन्धी दैव या दैवांश सिद्धान्त को भी बौद्धिक समर्थन मिला है। इससे आज के विचारक को बड़ा आश्चर्य होता है। परन्तु यह भी सत्य है कि यह समर्थन सभी सामाजिक-सांस्कृतिक इकाइयों में मिला है। 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' के अनुसार ईश्वर राजा को चुनता है, पदच्युत करता है और उसकी हत्या भी करता है। ईसाइयत में भी राजा जो मुख्यतः लौकिक जीवन का सञ्चालक था, धीरे-धीरे धार्मिक जीवन का भी सञ्चालक बन जाता है और अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता है। हिन्दू ग्रन्थों में भी 'मनुस्मृति', 'तैत्तरीय उपनिषद्' तथा 'महाभारत' जैसे मुख्य ग्रन्थों में राजा का स्थान देवों में माना गया है। यूरोप में सुधारवादी आन्दोलन के बाद इस सिद्धान्त का मुख्य रूप से बोलबाला था। पोप का केन्द्रीय धार्मिक राज्य समाप्त होने के बाद यूरोपीय राष्ट्रों में फैली अराजकता के निवारण के लिये वहाँ के विचारकों के सामाजिक चिन्तन की प्रवृत्ति राष्ट्रों की आन्तरिक एकता बनाये रखना था। अतः इन लोगों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि शासक को अपने जिन अधिकारों का समर्थन पोप से प्राप्त होता था, उसे ईश्वर से मिला है। शासक ईश्वर से अपने अधिकारों का समर्थन प्राप्त करता है, शैतान से नहीं, इससे कुछ निश्चित निष्कर्ष हम निकाल सकते हैं। व्यक्ति केवल व्यवस्था ही नहीं चाहता, न्यायोचित व्यवस्था चाहता है। व्यक्ति केवल व्यवस्था चाहता ही नहीं है, वह उसके लिये कुछ त्याग करने के लिये भी तैयार है; अन्यथा शासक निरंकुश रूप से अपना समर्थन न करता और ईश्वर को बीच में लाकर आदर्श के लिये व्यक्ति की स्वेच्छा से त्याग की प्रवृत्ति का शोषण न करता। व्यक्ति में सामाजिक एकता की भावना तथा उसके लिये त्याग करने की प्रवृत्ति पहले से ही है, इस बात को दैव-सिद्धान्त परोक्ष रूप से केवल स्वीकार ही नहीं करता है, वरन् उसी के आधार पर अपने तर्कों को बताता है। हाँ, यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि उसके प्रतिपादकों ने कभी इस जन-भावना को सीधे महत्त्व नहीं दिया और उसके समीक्षकों ने भी इस तथ्य की उपेक्षा कर दी।

सामाजिक संविदा के सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत सामाजिक एकता की धारणा को हम सामाजिक एकता की जनवादी धारणा के नाम से पुकार सकते हैं। व्यक्तियों में स्वेच्छा से एक या अनेक समझौते हुए, जिनमें अधिकारों का बँटवारा हुआ। सामाजिक व्यवस्था सौदेबाजी पर आधारित है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वार्थ की भावना से प्रेरित होकर शामिल होता है। सामाजिक संविदा की कल्पना का उद्गम हमें यूनानी विचारक एपीक्यूरस (३४२-२७० ई० पू०) के विचारों में मिलता है। उसने अरस्तू की इस मान्यता कि 'सामाजिकता मनुष्य का स्वभावगत लक्षण है' के विरोध में यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि मनुष्य स्वभाव के कारण नहीं, वरन् अपनी कमज़ोरियों के कारण, अपनी अकेलेपन की सामर्थ्यहीनता के कारण दूसरों का सहारा ढूँढ़ता है। समाज स्वार्थी व्यक्ति की निस्सहायता का परिणाम है और प्रत्येक परार्थवादी क्रिया व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति का साधन है। आधुनिक युग के संविदावादी विचारकों में

हाब्स, लॉक तथा रूसो के नाम प्रसिद्ध हैं। सामाजिक संविदा का क्या रूप था, संविदा के पहले क्या दशा थी, यह ऐतिहासिक सत्य है या परिकल्पना, इन प्रश्नों पर सभी विचारकों में मतभेद है। परन्तु यदि संविदा हुई, तो यही इसका प्रमाण है कि व्यक्तियों में संविदा करने की क्षमता थी, सामाजिक एकता की प्रवृत्ति थी और उसके लिये वे विवेकपूर्ण ढङ्ग से त्याग करने के लिये तैयार थे। विवेकशील सामूहिकता किसी भी प्रकार की सामाजिक संविदा का आधार है, अतः यह कहना कि विवेकशील सामूहिकता सामाजिक संविदा से उत्पन्न होती है, दूषित तर्क है। संविदा किसी विशेष प्रकार की व्यवस्था को स्थायित्व दे सकती है, आनेवाली नई व्यवस्थाओं के प्रति बाधक बन सकती है, परन्तु वह किसी भी ऐसी व्यवस्था को जन्म नहीं दे सकती जिसके लिये व्यक्ति की भावनाएँ पहले से बन नहीं गई हैं। व्यवस्था का कारण व्यक्ति की भावनाएँ होती हैं, संविदा उनको कार्यरूप में परिवर्तित करने का एक साधन है।

सामाजिक संविदा की कल्पना द्वारा प्रस्तुत सामाजिक एकता की व्यक्तिवादी धारणा में एक और गम्भीर तर्कदोष है जिसका उल्लेख यहाँ आवश्यक है। यदि हम हाब्स को लें तो वह यह मानता था कि गरीबी, गन्दगी, बहशियत तथा कम उम्र की जिन्दगी से ऊब कर व्यक्ति संविदा के लिये बाध्य हुए। उसके अनुसार राजनैतिक जीवन व्यक्ति को परिस्थितिवश स्वीकार करना पड़ा और यह जीवन-सुरक्षा आदि की प्राप्ति के लिये आर्थिक तथा राजनैतिक अनुकूलन या सौदेबाजी है। यह ध्यान रखने की बात है कि हाब्स जड़वादी है तथा व्यक्ति को मूल रूप में ठेठ व्यक्तिवादी तथा स्वार्थी मानता है। श्रेष्ठ जीवन की नैतिक महत्त्वाकांक्षा को वह स्वीकार नहीं करता और यदि करता भी है तो उसे उस सांस्कृतिक जीवन का परिणाम मानता है जो संविदा के बाद विकसित हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि सुरक्षा-सम्बन्धी प्रश्न न उठते तो संविदा न हुआ होता, सांस्कृतिक जीवन का विकास न हुआ होता और न नैतिक भावनाओं का ही उदय हुआ होता। मानव-व्यक्तित्व की यह धारणा जिसका हमने अन्यत्र विश्लेषण किया है, वस्तुसङ्गत नहीं है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि यह सिद्ध करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है कि श्रेष्ठ जीवन को प्राप्त करने की भावना किसी समय मनुष्य में नहीं रही होगी और बाद में वह आर्थिक-राजनैतिक अनुकूलन से विकसित हुई। अनुकूलन का सिद्धान्त अनिवार्य रूप से किसी आदर्श का समर्थन करता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। अनुकूलन न्यायोचित हो भी सकता है और नहीं भी। मनुष्यों में भी शेर और लोमड़ी के आर्थिक अनुकूलन का रूप मिल सकता है जिसमें लोमड़ी शेर के बचे-खुचे भोजन से सन्तुष्ट हो जाय। परन्तु इसमें आदर्श का स्थान कहाँ है? हाब्स के 'अनुबन्ध की कल्पना' पर टिप्पणी करते हुए जी० एच० सेबाइन ने लिखा कि "संविदा की इस क्रिया का उद्गम आत्म-सुरक्षा की भावना रही है, वह प्रबुद्ध भावना जो परिणामों का पूर्वाभास है। यही पूर्वभास उस परिस्थिति को उत्पन्न करता है जिसके कारण व्यक्ति सहयोग करते हैं तथा एक बनते हैं।"[१] परन्तु आत्म-सुरक्षा की भावना न तो उन परिस्थितियों को उत्पन्न कर सकती है जिनसे एकता एवं सहयोग हो सके और न स्वयं वह एकता एवं सहयोग को ही उत्पन्न कर सकती है। एकता और सहयोग स्वयं अपने में ही आदर्श है और उसको प्राप्त करने की सबसे बड़ी प्रेरणा श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति तथा भविष्य-निर्माण की कल्पना से उत्पन्न होती है, केवल आत्म-सुरक्षा के लिये आर्थिक-राजनैतिक अनुकूलन से नहीं।

आत्मा-सुरक्षा तथा आत्म-त्याग दोनों ही अपनी-अपनी स्थिति में समान-रूप से आदर्श-प्राप्ति के लिये साधन बन सकते हैं; अतः स्वयं आत्म-सुरक्षा का आदर्शों के साथ कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। आत्म-सुरक्षा सम्बन्धी कार्य अपने में नीति-निरपेक्ष कार्य हैं, उन्हें नैतिक या अनैतिक आदर्शों के अनुकूल या प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता।

हाब्स की संविदा एक और अन्तिम है, परन्तु लॉक अनेक संविदाओं की कल्पना करता है, संविदा को सामाजिक रूप प्रदान करता है एवं जनवाद, व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार तथा बहुमत-निर्णय की आवश्यकता को स्वीकार करता है। परन्तु सामाजिक एकता के सन्दर्भ में रूसो का जो तीसरा प्रमुख संविदावादी विचारक है, एक महत्वपूर्ण योगदान उसकी 'सामान्य इच्छा' की धारणा है। व्यक्तियों की 'सामान्य इच्छा' व्यक्तियों की 'सबकी इच्छा' से भिन्न है। सब विद्यार्थियों की इच्छा छुट्टी लेकर घर बैठना है, परन्तु उनकी 'सामान्य इच्छा' यह है कि कॉलेज में परिश्रम से अध्ययन किया जाय। 'सामान्य इच्छा' किसी समाज की सावयव एकता को प्रदर्शित करती है। यही 'सामान्य इच्छा' राज्य के नैतिक व्यक्तित्व को भी निर्मित करती है। निःसन्देह यह हाब्स के औपचारिक अनुबन्ध से ऊपर उठने का यत्न है। परन्तु इस 'सामान्य इच्छा' के स्वरूप का निर्णय कैसे हो? इसका उत्तर रूसो के रोमाण्टिसिज्म तथा अविवेकवाद में उलझ जाता है और उसका अनेक प्रकार से अर्थ लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिये यदि प्रो० मैकेन्जी की व्याख्या के अनुसार 'सामान्य इच्छा' बहुमत से निश्चित होती है तो बोजाँके की व्याख्या के अनुसार तर्क-वितर्क से। एक मतदान को महत्त्व देता है तो दूसरा बहस को।[३] सच बात तो यह है कि व्यक्तियों की 'सामान्य इच्छा' औपचारिक बहस या मतदान द्वारा ही जानी जा सकती है। इस रूप में सामाजिक एकता उपयोगितावादियों की इस सूक्ति का आधार है कि सर्वाधिक व्यक्तियों के लिये सर्वाधिक सुख ही सामाजिक आदर्श है। यह धारणा सामूहिक यत्नों की प्राप्ति के लिये की गई तपस्याओं एवं त्यागों को अस्वीकार ही नहीं कर देती, वरन् उस समाज की कल्पना का भी इसमें स्थान नहीं है जिसका आभास रस्किन के 'अन टू दि लास्ट' में तथा गाँधी के 'सर्वोदय' में हमें मिलता है। सत्य यह है कि हाब्स के चिन्तन की तरह यहाँ भी मूल दोष इसी में है कि व्यक्ति को एक शुद्ध स्वार्थी प्राणी से आगे बढ़ कर कुछ और सोचा ही नहीं गया और सारे सामूहिक यत्नों को व्यक्तिगत स्वार्थ पर आधारित करने की चेष्टा की गई है। सारा संविदावादी तथा उपयोगितावादी आन्दोलन, यहाँ तक कि मतदान वाला जनवादी आन्दोलन व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों की उस औपचारिकता पर आश्रित करता है जिसमें दो और दो बिना एक दूसरे को जाने अनिवार्य-रूप में चार हो जाते हैं।

अब हम सावयववाद को लेंगे। समाज का सावयव व्यक्तित्व होता है, यह कल्पना आज नई नहीं है। परन्तु प्राचीन सावयववाद में तथा आधुनिक सावयववाद में एक भेद है। आज का सावयववाद व्यक्तिवादी है और उसके विचारकों में स्पेन्सर का नाम अग्रगण्य है। प्राचीन सावयववादी विचारकों में मनु तथा प्लेटो उल्लेखनीय हैं जिन्होंने वर्गवादी सावयववाद की कल्पना प्रस्तुत की। मानव व्यक्तित्व से समाज की तुलना का कुछ महत्व है, क्योंकि वह अनेक सामाजिक तथ्यों को परस्परावलम्बी मान कर उन्हें एक सूत्र में पिरोने की चेष्टा करती है। परन्तु यदि तुलना आलङ्कारिक हो तो वह अनेक भ्रम उत्पन्न करती है। सादृश्यात्मक अनुमान से निष्कर्षों

के महत्त्व उसी अवस्था में मूल्यवान हो सकते हैं जब सादृश्य आलङ्कारिक न होकर वास्तविक हो। किसी अन्य नक्षत्र पर पृथ्वी के सदृश्य जलवायु होने का ज्ञान होने पर वहाँ हम मनुष्य के होने का अनुमान कर सकते हैं, परन्तु सिंह तथा राजा के आलङ्कारिक सादृश्य के आधार पर हम सिंह को शासन-भार तो नहीं सौंप सकते। सावयववाद समाज को एक सावयव इकाई देखने के लालच में व्यक्ति को खो देता है जो उन तमाम भावनाओं तथा आकांक्षाओं का अधिष्ठान है जिनसे एकता स्थापित होती है। तत्सम्बन्धी विचारक समाज को पहले अवयवों में बाँटते हैं और फिर उनमें सम्बन्ध खोजते हैं। परिणाम यह होता है कि वर्गवादी या वर्णवादी सावयववाद वर्गों या वर्णों की श्रेणीबद्धता के लिये प्रमाण न देकर झूठ अथवा आप्त-वचन का सहारा लेता है। प्लेटो स्पष्ट घोषित करता है कि समाज में श्रेणी-परक वर्ग हैं और इसको व्यक्तियों के मन में जमाने के लिये आरम्भ से ही बालकों को यह शिक्षा देना आवश्यक है कि समाज के भिन्न- भिन्न वर्ग भिन्न-भिन्न धातुओं से बने हैं। वह अपने इस सिद्धान्त को औषधीय असत्य के नाम से पुकारता है। इसी प्रकार मनु श्रेणीपरक वर्णों के समर्थन के लिये वेदों का आश्रय खोजता है।

समाज की आधुनिक सावयववादी कल्पना व्यक्तिवादी न होकर सही माने में अणुवादी है। क्योंकि व्यक्ति समाज में किसी मानवीय तत्त्व के कारण नहीं, वरन् उन प्राकृतिक नियमों के कारण एक दूसरे से बँधे हैं, जिनसे प्रकृति का विकास आज के रूप में हुआ। समाज का विकास प्रकृति के विकास का ही अङ्ग है, उसका मार्ग पूर्वनिर्धारित तथा निश्चित है। यही कारण है कि स्पेंसर जैसे सामाजिक विचारक में सावयववाद, विकासवाद, प्रकृतिवाद तथा व्यक्तिवाद जैसी विचारधाराओं का मिश्रण हुआ। समाज-रचना तथा सामाजिक विकास प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित होते हैं, इस विचारधारा में मनुष्य की सर्जन-शक्ति का कोई स्थान नहीं। स्वाभाविक था कि समाज की ऐसी कल्पना विज्ञानवादी समाजशास्त्र को जन्म देती। सभी दृष्टिकोणों से स्पेंसर आधुनिक समाजशास्त्र का जन्मदाता था। परन्तु मनुष्य न तो अणु ही है और न उनमें प्रकृति-प्रदत्त सामाजिक वर्ग ही है। मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों एवं संस्थाओं में पैदा होता है और साथ ही वह उन सम्बन्धों को बनाता भी है। अतः प्राकृतिक नियमों की दृष्टि से सामाजिक व्यवहार को देखना गलत है। उसे विज्ञानवादी कारण-कार्यवाद के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता और न उसके विषय में पूर्व व्याख्या ही की जा सकती है। और सबसे बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि कोई भी सामाजिक विकासवादी इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए तैयार नहीं है कि विकास की प्रक्रिया में नियमों का भी विकास क्यों नहीं होता और वे भी बदल क्यों नहीं जाते। जो भी हो, इस बहस के विस्तार में जाने की आवश्यकता यहाँ नहीं प्रतीत होती। समाज के सावयव रूप की धारणा न तो दार्शनिक ही है न वैज्ञानिक ही; वह एक पुराणकथा है जो कल्पना को तो प्रतिमाएँ प्रदान करती है, परन्तु व्यवहार में धोखा देती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामाजिक क्रियाएँ परस्परावलम्बित हैं, पर वे किस रूप में हैं और कहाँ तक है, यही काम वास्तव में समाज- शास्त्र के अध्ययन का है। परस्परावलम्बन किसी भी रूप में हो, एक बात बिल्कुल स्पष्ट होनी चाहिये कि सामाजिक घटनाओं के परस्परावलम्बन का उद्गम मनुष्यों के व्यक्तित्व हैं जिनमें शारीरिक तथा नैतिक प्रेरक-तत्व साथ-साथ कार्य करते हैं। अतः

परस्परावलम्बन का अस्तित्व व्यक्तियों से स्वतन्त्र नहीं है, वरन् उनकी मूल्य-भावनाओं से घुला-मिला है।

चिन्तन के क्षेत्र में विकासवाद तथा विज्ञानवाद (जिसका अर्थ यह है कि समाज के नियम भी प्रकृति के नियमों के समान होते हैं) के दो निश्चित परिणाम हुए: (१) मानव-संस्कृति के विकास का अध्ययन उन नियमों की खोज के लिये हुआ, जिनके अन्तर्गत यह माना गया कि इतिहास का निर्माण हुआ; (२) यह मानकर कि मानव-संस्कृति का भविष्य भी इन्हीं नियमों द्वारा निर्धारित होगा, उन्हें मूल्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया। उदाहरण के लिये मार्क्सवादियों ने माना कि वर्ग - सङ्घर्ष सामाजिक विकास का मूलभूत नियम है तथा वर्ग-सङ्घर्ष को बनाये रखना आदर्श भी है। उन्नीसवीं शताब्दी का सामाजिक चिन्तन इसी प्रकार की विचारधारा में बहा। हिगेल, मार्क्स तथा ऐंगिल्स 'अनिवार्यता' तथा 'नैतिकता' को समरूप समझनेवाले विचारकों में प्रमुख हैं। कार्ल पॉपर के शब्दों में इनको हम 'इतिहासवादी' भी कह सकते हैं। मार्क्स तथा ऐंगिल्स का चिन्तन सामाजिक वस्तु-स्थिति के अधिक निकट है, अतः उन्हीं पर संक्षेप में विचार करेंगे। मार्क्स के चिन्तन का मूल यह है कि व्यक्ति के चिन्तन का स्वरूप सामाजिक परिस्थितियों से बनता है या सामाजिक परिस्थितियाँ इस चिन्तन के स्वरूप से निर्मित होती हैं।[४] वह निस्सन्देह सामाजिक परिस्थितियों को प्राथमिकता प्रदान करता है, परन्तु क्या सामाजिक परिस्थितियाँ जड़ हैं? मार्क्स उन्हें जड़ नहीं मानता। मन की सृजन-शक्ति की क्षमता को भी वह स्वीकार करता है, हालाँकि उसके अनुसार उसका कोई गम्भीर प्रभाव सामाजिक परिवर्तन पर नहीं पड़ता। मार्क्स न तो नैतिक अर्थ में और न तात्विक अर्थ में ही जड़वादी है। कहीं भी उसने वर्ग-सङ्घर्ष को सार्वभौम नियम की संज्ञा नहीं दी। व्यक्तिगत सम्पत्ति के साथ उसका (वर्ग-सङ्घर्ष) जन्म होता है तथा उसी के साथ वह समाप्त हो जायेगा। इस छोटे से अर्से में भी उसकी सर्वत्र एक ही अनिवार्यता रहेगी, ऐसा भी वह नहीं मानता। वास्तविकता यह है कि द्वन्द्वात्मकता तथा अनिवार्यता की पटरी साथ-साथ ठीक बैठती नहीं है; फिर भी यत्र-तत्र अनिवार्यता एवं लौह-नियमों का उल्लेख मार्क्स अपनी रचनाओं में करता है। इससे स्पष्ट है कि वह अपनी शास्त्रीय रचनाओं में चिन्तक के साथ-साथ क्रान्तिकारियों का व्यावहारिक नेता भी है जो मूल्यों को ऐतिहासिक अनिवार्यता प्रदान कर अपने दृष्टिकोण को व्यावहारिक शक्ति प्रदान करना चाहता है। इससे यदि मार्क्स पर अवसरवादिता का आरोप लगता हो, तो हम यह कह सकते हैं कि मार्क्स का यह इतिहासवादी विज्ञानवाद कि मानव-इतिहास का तटस्थ अन्वेषण करके हम मानव-विकास की भविष्यगत धारा निश्चित कर सकते हैं, वैज्ञानिक नहीं। मार्क्स दुनिया के मजदूरों को एक होने के लिये कहता है और उसके लिए यह शास्त्रीय युक्ति प्रस्तुत करता है कि एकता ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अनिवार्यता है। इस विवेचन के सन्दर्भ में इस प्रकार की विचार-सारिणी के दो निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं: पहला तो यह कि सामाजिक एकता लौह-नियमों की देन है और दूसरा यह कि बिना व्यक्तिगत सम्पत्ति का निवारण हुए सामाजिक एकता प्राप्त नहीं हो सकती।

मार्क्स ने औद्योगीकरण से उत्पन्न सामाजिक सम्बन्धों का पहली बार जितना विस्तृत समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया, शायद किसी विशेष सामाजिक स्थिति का उतना विस्तृत

अध्ययन किसी अन्य विचारक ने नहीं किया। मार्क्स के सारे अध्ययन में औद्योगिक-सामाजिक संरचना के समक्ष व्यक्ति की व्यक्तिगत असहायता के प्रति रोष है, परन्तु वस्तु-स्थिति के रूप में वह इस असहायता को स्वीकार कर लेता है और एक ऐसे सुख-राज्य की कल्पना प्रस्तुत करता है, जहाँ यह असहायता न होगी, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति का विकास ही सब व्यक्तियों के विकास की उपाधि होगा। परन्तु यह सुख-राज्य वर्ग-सङ्घर्ष द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त किये बिना नहीं प्राप्त हो सकेगा। तात्पर्य यह हुआ कि सामाजिक एकता का प्रश्न उस समय तक स्थगित रहेगा जब तक एकाधिकार समाप्त नहीं हो जाता। इसका एक अर्थ यह भी हुआ कि इस प्रकार का एकाधिकार सामाजिक समर्थन के बिना ही विकसित हुआ और जीवित रहा, क्योंकि वर्ग-सङ्घर्ष की स्थिति में इस अधिकार को सामान्य सामाजिक समर्थन मिल ही नहीं सकता था। वर्ग सङ्घर्ष और सामान्य सामाजिक समर्थन साथ-साथ नहीं चल सकते। परन्तु क्या यह ठीक है? व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की सामान्य नींव सामाजिक समर्थन पर है, विशेष परिस्थितियों में अवश्य इसे शक्ति से मनवाया गया। संसार की सभी प्राचीन संस्कृतियों ने अस्तेय (चोरी न करना) को नैतिक आदर्श माना है, साथ ही व्यक्तिगत सम्पत्ति पर नैतिक नियन्त्रण के लिये अपरिग्रह जैसे आदर्शों का प्रतिपादन भी किया गया है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था के विकास के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा नैतिक कारण क्या हैं, इसका विस्तृत अध्ययन यहाँ पर नहीं किया जा सकता। परन्तु यह कहना आवश्यक है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति वर्ग-सङ्घर्ष का कारण है तथा तत्सम्बन्धी अधिकार शक्ति से प्राप्त किये गये, ये दोनों ही निष्कर्ष एक बड़े जटिल विषय को बड़े सरल रूप में रखने के तर्क-दोष से युक्त हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था के विरोध में प्रायः यह कहा जाता है कि इसमें सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये दुरुपयोग होता है। परन्तु सर्वहारा के जिस अधिनायकवाद के माध्यम से व्यक्तिगत सम्पत्ति का निवारण मार्क्स करना चाहता है, वह सिद्धान्त-रूप में ही सम्भव नहीं है, व्यवहार का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। एक वर्ग के अधिनायकत्व का तात्पर्य है वर्ग के कुछ चुने हुए नेताओं का अधिनायकवाद जो सामाजिक सम्पत्ति की व्यवस्था एक बड़ी नौकरशाही के माध्यम से करेंगे। इस व्यवस्था में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह नौकरशाही जिसे सामाजिक सम्पत्ति का ट्रस्टी होने की कोई ट्रेनिंग नहीं मिली, जिस पर अधिनायकशाही के कारण जन-मत का कोई नियन्त्रण नहीं है, कुछ विशेष नेताओं के आधीनस्थ रह कर उस सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये दुरुपयोग नहीं करेगी। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति के निवारण की यह योजना गलत है। इसके निवारण का एकमात्र उपाय यही है कि समाज, जिसने इस अधिकार को समर्थन दिया है, उस समर्थन को वापस ले और एक ऐसे वर्ग को उत्पन्न करे या व्यक्तियों में वह निष्ठा उत्पन्न करे कि वे सम्पत्ति का उपभोग एक ट्रस्टी के रूप में करें। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था के विरोध में जनमत तैयार करना तथा सम्पत्ति के उपभोग के विषय में ट्रस्टी की भावना उत्पन्न करना ही व्यक्तिगत सम्पत्ति के निवारण का ठीक मार्ग हो सकता है। इस सन्दर्भ में गाँधी-चिन्तन, लोक-शक्ति, सत्याग्रह तथा ट्रस्टीशिप अपने आदर्शों के कारण हमारी अधिक सहायता कर सकते हैं। परन्तु इन सभी आदर्शों के प्राप्त करने के यत्न, चाहे उन्हें मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखा जाय या गाँधीवादी दृष्टिकोण से, तभी सफल हो सकते हैं जब समाज के सदस्यों में यह विवेक

हो और वे सक्रिय-रूप से सोचें कि ये आदर्श समाज में रह कर सामाजिक व्यवस्था के माध्यम से ही प्राप्त हो सकते हैं। अतः इस दृष्टिकोण से भी सामाजिक एकता इस प्रकार के सामाजिक लक्ष्यों का आधार है, परिणाम नहीं। मार्क्स का चिन्तन सामाजिक वैमनस्य तथा अव्यवस्था को आदर्श व्यवस्था को प्राप्त करने के लिए 'प्रकृति-प्रदत्त अनिवार्य साधन' के रूप में स्वीकार करता है। केवल इतना ही नहीं, वह 'प्रकृति-प्रदत्त अनिवार्य साधन' को आदर्श के रूप में स्वीकार कर तथ्यों को मूल्यों के समनुरूप समझता है। यह ग़लत है।

ऊपर के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक एकता के आदर्श तथा उसकी वास्तविकता का सम्बन्ध मनुष्य की आदर्शोन्मुखता से है। न तो उसका सम्बन्ध आर्थिक तथा राजनैतिक अनुकूलन से है और न प्राकृतिक नियमों की जटिल अनिवार्यता से। एकता होने से आर्थिक परस्परावलम्बन हो सकता है। किन्तु आर्थिक परस्परावलम्बन से एकता होगी, यह नहीं कहा जा सकता; एकता होने से राजनैतिक अनुकूलन हो सकता है, राजनैतिक अनुकूलन से एकता होगी यह नहीं कहा जा सकता। और इसी प्रकार एकता होने से सांस्कृतिक समरूपताएँ दिखाई देंगी, किन्तु सांस्कृतिक समरूपताओं की खोज से एकता होगी, यह नहीं कहा जा सकता। एकता के अभाव में आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक एकरूपताएँ लादी हुई एकरूपताएँ होंगी जिनको बनाये रखने के लिये नकली प्रचार एवं दण्ड-शक्ति की आवश्यकता होगी और इस प्रकार समाज की वास्तविक एकता को विकास का अवसर नहीं मिलेगा।

इस विवेचन के सन्दर्भ में दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं। प्रथम तो यह कि सामाजिक एकता के अधिष्ठान किस प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध हैं? दूसरा यह कि समाज-विरोधी तत्त्वों की उपस्थिति में हम आदर्श एकता की कल्पना कैसे कर सकते हैं?

पहले प्रश्न के उत्तर के लिए हम सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप को देखेंगे। यह आवश्यक नहीं कि सामाजिक सम्बन्ध सामाजिक सान्निध्य से बने; परिचय तथा भौतिक निकटता इन सम्बन्धों के अनिवार्य लक्षण नहीं हैं। हम किसी भी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के साथ बिना उसके सम्पर्क में आये और बिना उसको ठीक से जाने सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी की मृत्यु के समाचार से अनेकों भारतीयों को उतना ही गहरा सदमा पहुँचा था, जितना कैनेडी के अपने निजी परिचितों को। इसका कारण यह था कि वे कुछ अस्पष्ट परन्तु निश्चित रूप में कैनेडी को अपनी अनेक भावनाओं का प्रतीक मानते थे। अतः सामाजिक सम्बन्ध मुख्यतः विचारों एवं भावनाओं पर आधारित होते हैं और सहभावुकता ऐसे सम्बन्धों में दृढ़ता उत्पन्न करने में बड़ी सहायक बनती है। परन्तु यही सहभावुकता, जिसमें सांस्कृतिक पक्षपात, आर्थिक तथा राजनैतिक स्वार्थ आदि भी छिपे रहते हैं, सामाजिक वर्गीकरण भी उत्पन्न करती है। दो व्यक्तियों की लड़ाई में भावनाओं के आधार पर उनके परिचितों के भी दल बन जायेंगे; न्याय का पक्ष कहाँ है इसकी अपेक्षा नहीं की जायगी। पर कुछ लोग ऐसे होंगे जिनकी उन व्यक्तियों से कोई व्यक्तिगत सहानुभूति न होगी, फिर भी वे उनमें से एक या दूसरे पक्ष का इसलिये समर्थन करेंगे कि वह पक्ष उनको अपने आदर्शों के अनुकूल प्रतीत होता है। एकता का अधिष्ठान, मनुष्य के आदर्शों के साथ अपने को समरूप बनाने की यही प्रवृत्ति है। और चूँकि सामाजिक दृष्टिकोण से ये आदर्श व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ संलग्न रहते हैं तथा व्यक्तियों की अपनी क्षमताओं के अनुसार भिन्न-

भिन्न प्रबलताओं से उनमें प्रकट होते हैं; अतः व्यक्ति न केवल दूसरे के साथ सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं, वरन् अपने से शक्तिशाली व्यक्तित्वों का अनुकरण भी करते हैं। सृजनात्मक नेतृत्व के मूल में यही मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया कार्य करती है। इसके अभाव में हम ऐसी ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या नहीं कर सकते, जैसी सिकन्दर के सेनापतित्व में अथवा गाँधी के नेतृत्व में घटी। इस प्रकार की आदर्शोन्मुखता का अत्यधिक व्यावहारिक रूप किसी भी शिक्षा-संस्था में, धार्मिक संस्थान में या एक अच्छे परिवार में देखा जा सकता है, जहाँ प्रतिभाशाली व्यक्तित्व केवल अपनी प्रतिभा के सहारे (संस्था-तन्त्र के माध्यम से नहीं) व्यक्तियों को अपने साथ ले चलते हैं तथा इस प्रकार के अनुगमन में व्यक्ति भी अपने जीवन को सार्थक समझते हैं। समाज में इस प्रकार के अनेक सरल तथा जटिल पिरामिड हैं, जहाँ व्यक्तित्व की प्रतिभा उस समाज को प्रबलता प्रदान करती है।

अब दूसरे प्रश्न को लें। इस प्रश्न के सन्दर्भ में यह प्रश्न भी उठता है कि समाज-विरोधी तत्व किसे कहेंगे? और जिन्हें हम समाज-विरोधी तत्त्व कहते हैं क्या वे वास्तव में समाज-विरोधी होते भी हैं? इन प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है। समाज-विरोधी तत्व व्यक्ति के वे कार्य हैं जो व्यक्ति के अपने स्वभाव के कारण अथवा मानसिक कुण्ठाओं के कारण या अज्ञान के कारण उनके द्वारा किये जाते हैं। व्यक्ति के स्वभाव में केवल दूसरों को सुख देने की, उनके साथ सहकार करने की ही प्रवृत्तियाँ नहीं हैं, वरन् कभी आत्म-प्रभुत्व की स्थापना के लिये और कभी-कभी उन प्रवृत्तियों के कारण जिन्हें एमिलज़ोला ने 'द बीस्ट इन मैन' नामक उपन्यास में भलीभाँति व्यक्त किया है, वह क्रूरता तथा विघटन में भी आनन्द लेता है। दार्शनिकों में कम से कम नीत्शे ने क्रूरता के इस आनन्द को बड़ा महत्व दिया है और अनेक अर्थों में इसकी मनोविश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है। और यदि मनोविश्लेषणवादियों (फ़्रायड, एडलर तथा युंग) की व्याख्याएँ सत्य हैं तो इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमारी सभ्यता एवं संस्कृति के कुछ बड़े महत्त्वपूर्ण अङ्ग जैसे सङ्गीत, कला, साहित्य आदि मूलतः इसी प्रकार की मानवीय प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। समाज-विरोधी कार्यों के दूसरे कारण आर्थिक-राजनैतिक स्वार्थ माने जा सकते हैं, हालाँकि फिज़ियोक्रेट्स तथा आशावादी क्लासिकल अर्थशास्त्री यह कहेंगे कि व्यक्ति के आर्थिक स्वार्थ, यदि उन्हें पूरी छूट मिले, तो पृथ्वी पर स्वर्ग ही उतार कर छोड़ेंगे। फिर भी यह सत्य है कि समाज की आर्थिक या राजनैतिक संरचनाओं में जब व्यक्ति एक वर्ग के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो उसके समर्थन में दूसरों का विरोध करने के लिये वह सैद्धान्तिक औचित्य प्रस्तुत करता है। वर्ग-सङ्घर्ष का इतिहास इसी अर्थ में आर्थिक स्वार्थ की कहानी कहा जा सकता है। समाज-विरोधी तत्वों का तीसरा कारण वे सामाजिक संस्थाएँ कही जा सकती हैं जो शक्ति या सम्पत्ति के माध्यम से अपने प्रभाव को बनाये रखती हैं, जैसे राज्य। सभी समाज-विरोधी क्रियाएँ, चाहे वे साधारण मनमुटाव हों या बड़े-बड़े युद्ध हों, लगभग इन्हीं कारणों के परिणाम होते हैं और कोई भी विचारक समाज की कोई ऐसी विवेकपूर्ण धारणा प्रस्तुत नहीं कर सकता, जिसमें ये तत्व बिल्कुल नहीं रहेंगे।

कोई भी विचारक समाज विरोधी तत्त्वों से विमुख नहीं हो सकता और न यही स्वीकार करने के लिये तैयार होगा कि इनको अपने इसी रूप में छोड़ दिया जाय। अन्ततोगत्वा इसका

उपाय उसी प्रकार के समाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक संस्थाओं द्वारा होगा जहाँ ये तत्व नहीं हैं या जहाँ इनकी अधिकता नहीं है। किन्तु यदि व्यक्ति अधिक अहंवादी है या उसका विकास उन परिस्थितियों में होता है जिनमें जटिल समाज-विरोधी मानसिक ग्रन्थियाँ बनती हैं, तो प्रश्न यह उठता है कि वह कैसे परमार्थवादी हो और कैसे उसका समुचित विकास हो। मनुष्य के 'परमार्थीकरण' के लिये जैसा कि सोरोकिन का मत है, हमें व्यक्तित्व की संरचना का, उसकी क्षमताओं का एवं उसके विकास की प्रक्रियाओं का गहरा अध्ययन करना होगा।[५] ये अध्ययन उन्हीं क्षेत्रों से उपलब्ध होंगे जहाँ समाजिक एकता एवं सहकार पहले से है।

समाज-विरोधी तत्त्व एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। मनुष्य व्यक्तिगत रूप में अपने स्वार्थों को लेकर समाज विरोधी होने की क्षमता नहीं रखता और न शायद वह विरोधी होना ही चाहता है। सामाजिक संस्थाओं, व्यक्तिगत सम्पत्ति, कानून, राज्य, आदि को साधन बना कर या उनके साथ सहयोग स्थापित करके ही वह अपने स्वार्थों को पूरा कर सकता है। अतः स्वार्थों की पूर्ति के लिये तो मूलभूत एकता अनिवार्य है। परन्तु समस्या यह है कि संस्थाएँ जो सामाजिक सम्बन्धों को स्थायीरूप देने की प्रक्रिया है, एक दूसरे के विरोध में आ जाती है और इस प्रकार से सामाजिक विघटन उत्पन्न करती है। साथ ही, ये संस्थाएँ आर्थिक तथा राजनैतिक समर्थन मिलने के कारण बड़ी बलवती भी होती हैं। समाज विरोधी तत्वों के उन्मूलन के लिए यह आवश्यक है कि हमारी आदर्शोन्मुखी संस्थाएँ इतनी प्रबल हों कि वे इन विघटनकारी संस्थाओं के स्वरूप-परिवर्तन की क्षमता रखें। आदर्शोन्मुखी संस्थाओं को हम अत्यधिक व्यापक अर्थ में शिक्षण संस्थाएँ कह सकते हैं। कुटुम्ब, धार्मिक संस्थान, शिक्षा-संस्थाएँ, गाँधीआश्रम, शान्तिसेना आदि ऐसी संस्थाएँ हैं जो आर्थिक स्वार्थों से प्रभावित तो होती हैं पर उनके आधार पर बनती नहीं हैं और जिन आधारों पर वे बनती हैं, सामाजिक एकता स्वयं उनमें प्रमुख है।

सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सबसे बड़ा विवाद वहाँ उठता है, जहाँ यह प्रतीत होता है कि हमारे आदर्शों में, हमारे चिन्तन के आधारभूत वाक्यों में मतभेद है और इस मतभेद को सापेक्षवाद का समर्थन मिलता है। जनवाद तथा साम्यवाद विरोधी है तो ठीक है, क्योंकि दोनों का जन्म भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में हुआ है, ऐसा सापेक्षवाद कहेगा। भिन्न-भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में विरोधी आदर्श उत्पन्न हो सकते हैं, यह आदर्शों की उत्पत्ति की सामाजिक-वैज्ञानिक तथ्यवादी व्याख्या हुई। परन्तु यही उनका औचित्य भी है, यह कहना उसी तर्कदोष से युक्त है जिसे हम पहले तथ्यों को मूल्यों के रूप में रखने का तर्कदोष कह चुके हैं। उनका औचित्य क्या है या क्या नहीं है, इसका उनके उद्‌गम की खोज से निर्णय नहीं हो सकता, वरन् उन मापदण्डों और मूल्यों की खोज से होगा जिनको हम सर्वाधिक महत्व देते हैं या देना चाहते हैं। तो मुख्य प्रश्न यह है कि क्या सर्वाधिक महत्व के मूल्यों पर एकमत हुआ जा सकता है। मेरा उत्तर है और लगभग सभी नीतिशास्त्रियों का यह उत्तर होगा कि इस प्रकार के विरोधी मूल्यों को कम से कम सैद्धान्तिक एकता में तो बाँधा ही जा सकता है। नीतिशास्त्री ही नहीं, ऐसे प्रयत्नों की सफलता की सम्भावना गिन्सबर्ग जैसे समाजशास्त्री भी करते हैं।[६] और यदि एल० टी० हॉबहाउस का सामाजिक विकास का यह सिद्धान्त ठीक है कि विकास की प्रक्रिया में मानव के चेतन-प्रयासों का अवदान बढ़ता जा रहा है तो निःसन्देह सैद्धान्तिक एकता के प्रयत्न व्यावहारिक एकता में भी प्रतिफलित होंगे।

यदि यह मान भी लिया जाय कि सैद्धान्तिक एकता नहीं आ सकती, तो भी समाज की आदर्शोन्मुखीन संस्थाएँ एक ऐसी आचरण-पद्धति का समर्थन तो कर ही सकती है जिससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे सके कि यदि वह सामाजिक एकता को प्रोत्साहित नहीं करती तो कम से कम उसका निषेध भी नहीं करती।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) रीजन एण्ड अनरीजन इन सोसाइटी (लन्दन १९६०), पृ० ३६ (२) ए हिस्ट्री आफ पॉलिटिक थियरी (लन्दन, १९५६), पृ० ३९५ (३) आउट लाइन्स आफ सोशल फिलासफी (लन्दन १९२१), पृ० ५२ (४) द जर्मन आइडियोलाजी (लन्दन, १९४२), पृ० १४ (५) मानवता की नव-रचना', हिन्दी अनुवाद (बम्बई), १९५८ (६) रीजन एण्ड अनरीजन इन सोसाइटी (लन्दन १९६०) अध्याय १५

भारतीय विचार के अनुसार मोक्षप्राप्ति तथा चित्तशुद्धि के साधन

• सुरेन्द्र मीतल

भारतीय धर्मशास्त्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय विचार में मनुष्य के जीवन का लक्ष्य मोक्ष ही है। इस मोक्ष को आधार मानकर ही सम्पूर्ण भारतीय जीवन-व्यवस्था की रचना की गयी है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए चार प्रमुख मार्ग बताए गये हैं––ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग। सभी धर्मग्रन्थों में थोड़े-बहुत रूप में इन चारों मार्गों का वर्णन किया गया हैं। 'ज्ञान' शब्द का अर्थ है आध्यात्मिक अनुभूति अर्थात् इस बात की अनुभूति कि यह संसार अन्ततः मिथ्या है और व्यक्ति का अर्थात् उसकी आत्मा का, इस दृश्य जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः निर्लिप्त और इस कारण निःस्वार्थ भाव से जीवन व्यतीत करने की वृत्ति और परब्रह्म से अर्थात् सम्पूर्ण विश्व से एकता की अनुभूति 'ज्ञान' है। 'कर्म' शब्द को यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। 'निरुक्त' में 'यज्ञ' शब्द का अर्थ है 'देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान'[1] अर्थात् ऐसे सब धर्म-कर्म जो लोकसंग्राहक हों। सम्पूर्ण धर्मकृत्य जो त्याग, समर्पण (दान), समाज के सभी अङ्गों के समन्वय और सङ्घटन (सङ्गतिकरण) तथा परब्रह्म की विविध रूपों में उपासना (पूजा) पर आधारित हैं, 'कर्म' के अन्तर्गत आते हैं। भारतीय जीवन-रचना में विविध सामाजिक और व्यक्तिगत कर्तव्यों का निर्धारण और पालन 'कर्ममार्ग' है। 'भक्ति' शब्द श्रद्धा का समानार्थक है। 'नारदपुराण' में दोनों शब्दों को पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त करते हुए कहा गया है कि "श्रद्धा से सभी कुछ होता है तथा श्रद्धा से ही हरि सन्तुष्ट होते हैं। भक्ति भी भक्तिपूर्वक (श्रद्धापूर्वक) करनी चाहिए तथा कर्म भी भक्तिपूर्वक करने चाहिए। हे मुनिश्रेष्ठ ! भक्तिहीन (श्रद्धाविहीन) दान, तप अथवा बहुत दक्षिणावाले यज्ञों के द्वारा भी भगवान हरि सन्तुष्ट नहीं होते।"[2] इस प्रकार भक्ति का अर्थ श्रद्धापूर्वक भगवान को सब कुछ समर्पित करने की भावना है। भक्ति का यह भाव कई प्रकार से प्रकट होता है, जैसे माधुर्यभाव, दासभाव, सख्यभाव, और वात्सल्य-भाव। यशोदा की भक्ति वात्सल्यभाव से परिपूर्ण थी; अर्जुन की भक्ति सखाभाव प्रधान थी, राधा की भक्ति में माधुर्यभाव तथा हनुमान की भक्ति में दासभाव था। इस प्रकार भारत में पारिवारिक और सामाजिक जीवन के सभी सम्बन्धों को भगवद्भक्ति के रूप में ग्रहण किया गया है। सबसे अन्तिम मार्ग 'योग' है। योग का अर्थ है 'इन्द्रियसंयम'[3]। योगसूत्र में भी कहा गया है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। योग के आठ अङ्ग हैं––यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान और समाधि[४]। यह सब साधन व्यक्ति में विविध प्रकार के संयम का निर्माण कर उसे ब्रह्मप्राप्ति की ओर बढ़ाते हैं।

यह सभी मार्ग मोक्ष की ओर समान रूप से ले जानेवाले हैं। इन चारों मार्गों का समन्वयात्मक विश्लेषण गीता में किया गया है। पहले 'कर्म' और 'ज्ञान' का समन्वय किया है। अर्जुन प्रश्न पूछता है–"कृष्ण! आप कर्मों से सन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं। इसलिए इन दोनों में से एक जो निश्चित कल्याणकारक हो, उसको मुझसे कहिए।" श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं––"कर्मसन्यास (ज्ञान) और कर्मयोग (कर्म) दोनों ही परम कल्याण करनेवाले हैं, परन्तु इन दोनों में भी कर्मसन्यास से कर्मयोग (साधन में सुगम होने से) श्रेष्ठ है। अर्जुन! जो पुरुष न किसी से द्वेष करता है और न किसी से आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा सन्यासी ही समझे जाने योग्य है; क्योंकि रागद्वेषादि से रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है। उपर्युक्त सन्यास और कर्मयोग को मूर्ख लोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाला कहते हैं, न कि पण्डितजन। दोनों में से एक में भी स्थित व्यक्ति दोनों का फल प्राप्त करता है। सांख्ययोग द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, उसी स्थान पर कर्मयोग द्वारा भी पहुँचा जा सकता है। सांख्य और कर्मयोग एक ही हैं, यह जो समझ लेता है वही वास्तव में ठीक समझता है।"[५] एक अन्य स्थल पर भी श्रीकृष्ण ने योग और भक्ति का समन्वय करते हुए कहा है––"उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में देखते हैं (योग), अन्य कितने ही सांख्ययोग (ज्ञान) के द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं। परन्तु इनमें दूसरे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरों से सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं (भक्ति) और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागर से निस्सन्देह तर जाते हैं।"[६] नारदपुराण में भी इन चारों मार्गों की एकता वर्णित है।[७] ऐसा कहना ठीक होगा कि यह चार मार्ग चार आश्रमों के प्रतीक हैं। 'सन्यास' तो ज्ञान का प्रतीक है ही, 'वानप्रस्थ' तप और योग का प्रतीक है, 'गृहस्थ' कर्ममार्ग का आश्रयस्थान है और ब्रह्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति का उदय 'ब्रह्मचर्याश्रम' द्वारा होता है। जिस प्रकार सन्यास उन चारों आश्रमों का अन्तिम साध्य है, उसी प्रकार अन्य तीनों मार्गों के द्वारा ही अन्त में 'ज्ञान' की उपलब्धि होती है और ज्ञान की अनुभूति होने के पश्चात् व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता। मनु का कहना है कि "इन सब मोक्षसाधन कर्मों में आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है। यह सब विद्याओं में प्रधान है और इससे ही मोक्ष मिलता है।"[८] गीता ने भी सर्वसाधारण व्यक्ति के लिए सुगम होने के कारण 'कर्मयोग' को श्रेष्ठ बताया है, परन्तु 'ज्ञान' को उससे भी श्रेष्ठ स्थान दिया है। कृष्ण अर्जुन से कहते हैं––"हे परन्तप! द्रव्यमय यज्ञ (कर्म) की अपेक्षा ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ! सभी कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है। इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र और कुछ नहीं है। . . . श्रद्धावान् (भक्तिप्रवण), नित्यसिद्ध (कर्मयोगी) तथा इन्द्रियसंयम करनेवाला (योगी) व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर लेता है और ज्ञान प्राप्त कर शीघ्र ही परम शान्ति भी प्राप्त कर लेता है।"[९]

इस प्रकार भारतीय विचारधारा में मनुष्य का लक्ष्य 'मोक्ष' रखा गया है। तब यह स्वाभाविक ही है कि यदि मनुष्य इस लक्ष्य की ओर बढ़ता है तो यह उसकी उन्नति है और यदि इससे विपरीत दिशा में जाता है तो यह उसकी अवनति है। भारतीय विचारधारा में यह

उन्नति त्रिगुण-सिद्धान्त के रूप में वर्णित है और तमोगुण से रजोगुण, सतोगुण होते हुए गुणातीत (मुक्त) अवस्था की प्राप्ति ही उन्नति की विविध अवस्थाएँ हैं। व्यक्ति की यह उन्नति चित्तशुद्धि पर अवलम्बित है। जिस मात्रा में व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध होती जायगी अर्थात् सांसारिक जीवन का प्रभाव कम होता जायगा, उसी मात्रा में व्यक्ति की बुद्धि स्वार्थरहित और निष्कलुष होती जायगी तथा व्यक्ति गुणोत्कर्ष करता हुआ अपने लक्ष्य--मोक्ष--की ओर बढ़ता जायगा। चित्तशुद्धि के साधन हैं--जप, सन्ध्या, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, देवपूजा, तीर्थयात्रा, दान, व्रत, उपवास, यज्ञ और तप।[१०]

जप और सन्ध्या ऐसे साधन हैं जिनसे व्यक्ति की बुद्धि, सांसारिक जीवन अर्थात् स्वार्थपूर्ण जीवन से हटकर धीरे-धीरे परमार्थ में लगती हैं और उसमें लोककल्याण की भावना उत्पन्न होती है। इससे दूसरों से सङ्घर्ष भी कम होता है और निःस्वार्थता उत्पन्न होने के कारण संसार को भी ठीक मार्ग पर ले जाने की वृत्ति और पात्रता उत्पन्न होती है। मनुष्य का ध्यान उत्तरोत्तर ब्रह्म की ओर आकृष्ट होता है, इसलिए इसकी महत्ता भी अधिक बतायी गयी है। शङ्खस्मृति में कहा गया है--"जप से ही ब्राह्मण सिद्धि को प्राप्त होता है, इसमें संशय नहीं। वह ब्राह्मण चाहे इतर कर्म करे अथवा न करे, तो भी उसको मैत्र कहते हैं। उपांशु जप सौ गुना और मानस जप सहस्र गुना कहा गया है। ज्ञानवान् पुरुष ऊँचे स्वर से जप न करें और गायत्री का जप तो ऊँचे स्वर से विशेष न करे। सावित्री के जप में तत्पर मनुष्य स्वर्ग प्राप्त करता है। गायत्री के जप में निरत व्यक्ति मोक्ष के उपाय को भी जान जाता है। इसलिए सब प्रयत्न करके और स्नान के पश्चात् मन को रोक कर भक्ति से सब पापों का नाश करनेवाली गायत्री को जपे"।[११] मनु, याज्ञवल्क्य[१२] आदि ने ऐसे बहुत से मन्त्रों का जप बताया है जो विविध प्रकार के पापों को दूर करनेवाले हैं, किन्तु सभी मन्त्रों में गायत्री का जप सबसे श्रेष्ठ माना गया है।[१३] गायत्री की श्रेष्ठता का कारण 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में बताया है। गायत्री का अर्थ है 'गय' अर्थात् प्राणों का त्राण (रक्षा) करनेवाली। गायत्री मनुष्य को ब्रह्मप्राप्ति की ओर ले जाती है।[१४] मनुस्मृति, विष्णुधर्मसूत्र, शङ्खस्मृति, व्यासस्मृति तथा हारीतस्मृति ने गायत्री-पाठ का नियम ब्रह्मचारी तथा गृहस्थों को बताया है।[१५] सन्ध्या का उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक, आश्वलायनगृह्यसूत्र, आपस्तम्बधर्मसूत्र, गौतमधर्मसूत्र, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, हारीतस्मृति, संवर्तस्मृति तथा दक्षस्मृति में हैं।[१६] सन्ध्योपासना का कारण दक्षस्मृति में इस प्रकार वर्णित है--"सन्ध्याहीन मनुष्य नित्य अशुद्ध है और सब कर्मों के अयोग्य है तथा वह जो कुछ अन्य कर्म भी करता है, उसके फल का भी भागी नहीं होता"।[१७] याज्ञवल्क्य का कहना है कि रात व दिन में जो उपपातक अज्ञान से होता है वह तीनों काल की सन्ध्या करने से दूर हो जाता है।"[१८] मनु ने कहा है--"जो मनुष्य न तो प्रातः सन्ध्या करता है और न सायं सन्ध्या करता है, वह शूद्र के समान सम्पूर्ण द्विजकर्मों से निकालने योग्य है।"[१९] इस प्रकार स्मृतियों में सन्ध्या को चित्त-शुद्धि के लिये आवश्यक बताया गया है।

व्यक्ति के अन्तर में शुद्धता और पवित्रता निर्माण करने के दो साधन हैं--**स्वाध्याय और सत्सङ्गति**। एक में सद्ग्रन्थों का अध्ययन बताया है तथा दूसरे में सत्पुरुषों का सम्पर्क सत्शास्त्रों के पढ़ने पर बहुत जोर दिया गया है और असत् शास्त्रों का पठन एक उपपातक है।[२०] द्विजों के

दैनिक कृत्य में स्वाध्याय का महत्व है। शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय पर बहुत बल दिया गया है तथा बार-बार कहा गया है कि "स्वाध्याय करना चाहिए।" आपस्तम्बधर्मसूत्र[२२] में तैत्तिरीय आरण्यक का उद्धरण दिया गया है कि "स्वाध्याय ही तप है।"[२३] शान्तिपर्व में कहा गया है कि "स्वाध्याय से ही द्विज अपने कर्मों को पूर्ण कर सकता है।"[२४] द्विजों के दैनिक कृत्य में स्वाध्याय का महत्व है। दक्षस्मृति में दिन के आठ भाग में से तीन भाग स्वाध्याय के लिए बताये गये हैं[२५]। मनुस्मृति, अत्रिस्मृति, दक्षस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में स्वाध्याय पर बहुत बल दिया गया है।[२६] स्वाध्याय के अन्तर्गत धर्मशास्त्रों का अध्ययन बताया गया है इसलिए कि धर्म के नित्य अध्ययन से धर्म के प्रति श्रद्धा और अधर्म के प्रति अश्रद्धा स्वाभाविक रूप से जाग्रत हो सकती है।[२७] जिस प्रकार स्वाध्याय में सद्ग्रन्थों का संसर्ग रहता है, उसी प्रकार सत्सङ्ग में सत्पुरुषों का साथ होता है जिनकी सङ्गति से बुद्धि निर्मल हो जाती है। गरुड़पुराण में कहा गया है कि "महापुरुषों की सङ्गति करनी चाहिए; क्योंकि सन्त विषयासक्ति की औषधि रूप हैं। सत्सङ्ग और विवेक ये दो निर्मल नयन हैं। जिस मनुष्य के ये (दो नयन) नहीं हैं, वह अन्धा है ओर वह कुमार्गगामी कैसे नहीं होगा।"[२८] नारदपुराण के अनुसार "भक्ति भगवद्भक्त के साथ रहने से उत्पन्न होती है और भगवद्भक्त का सङ्ग पूर्व सञ्चित सुकर्मों के द्वारा प्राप्त होता है। रवि, किरणों के जाल से बाहर के अन्धकार को नष्ट कर देता है तथा सन्त शुभ उक्तिरूपी किरणों से सर्वदा अन्तर के अन्धकार को नष्ट करते हैं।"[२९]

भक्ति उत्पन्न करने के साधन हैं **देवपूजा तथा तीर्थयात्रा**। भक्ति उत्पन्न करने के कारण यह भी मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध करनेवाले हैं। देवपूजा से देवता का सान्निध्य प्राप्त करने की इच्छा होती है, देवताओं के गुणों पर विचार होता है तथा फिर धीरे-धीरे उन्हीं गुणों को जीवन में लाने की वृत्ति उत्पन्न होती है। पुराणों ने इसी कारण विष्णु, शिव, शक्ति तथा अन्य देवताओं के मन्त्रों के जाप का आग्रह किया है।[३०] साथ-साथ इसमें अधर्म-वृत्ति कम होती है और समर्पण-वृत्ति जाग्रत होकर क्रमशः ब्रह्मार्पण करने का भाव उत्पन्न होता है। नारदपुराण के सैंतीसवें अध्याय में गुलक नामक एक बहेलिए की कथा है जो मन्दिर में चोरी करने के निमित्त गया और वहाँ के पुजारी को बाधास्वरूप समझकर उसे मारने का प्रयत्न किया। उस समय हरि के सान्निध्य मात्र से उस बहेलिए के सब पाप नष्ट हो गये। देवपूजा का एक बृहत् स्वरूप तीर्थयात्रा है। तीर्थयात्रा में सभी स्थानों के देवताओं की व्यक्ति पूजा करता है जिसके कारण सम्पूर्ण समाज की एकात्मकता का ज्ञान होता है और यह अनुभव होता है कि सभी में एक ही परमात्मा विद्यमान है। इस दृष्टि से तीर्थयात्रा, देवपूजा के आगे की एक सीढ़ी है। देवपूजा जहाँ एक देवता-विशेष की उपासना है वहाँ तीर्थयात्रा के द्वारा इन सभी देवताओं के अन्तर्गत रहनेवाले परमात्मा का ज्ञान होता है। दूसरी दृष्टि से भी तीर्थयात्रा देवपूजा से आगे का पग प्रतीत होता है। देवपूजा में व्यक्ति सीमित रहता है, तीर्थयात्रा में वह बृहत् जीवन का परिचय प्राप्त करता हुआ स्वार्थ से परमार्थ की ओर अधिक सरलता से बढ़ सकता है। साधु-सन्तों के समागम के कारण भी तीर्थयात्रा व्यक्ति की उन्नति का एक साधन हैं। पवित्र स्थानों से सम्बन्धित होने के कारण, यात्रियों के अनुशासित जीवन के कारण, महात्माओं और दार्शनिकों के सहवास के कारण तथा तीर्थों के सम्पूर्ण वातावरण के

कारण यात्रियों लिए यह सरल हो जाता है कि वे एक ऊँचा आध्यात्मिक स्तर प्राप्त कर ले। इन सब बातों के कारण यात्रियों के लिए उच्च आध्यात्मिकता का पोषण सरल हो जाता है और उनके तीर्थयात्रा से लौट आने के बहुत पश्चात् तक जीवित रहता है। तीर्थयात्रा के द्वारा सर्वसाधारण व्यक्तियों को स्वार्थपूर्ण जीवन से हटने तथा उच्चतर और अधिक स्थायी नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के विषय में सोचने का उत्साह पैदा होता है।[३१] तीर्थों का उल्लेख पवित्र स्थान के रूप में ऋग्वेद में आया है।[३२] गौतम तथा वशिष्ठ का कहना है कि नदी, ऋषियों के स्थान तथा देवताओं के मन्दिर, पवित्र तथा पापनाशक हैं।[३३] वामनपुराण का कहना है कि तीर्थों का स्मरण पुण्यकारी है तथा दर्शन पाप का नाश करनेवाला है।[३४] वनपर्व में कहा गया है कि यज्ञ में विविध प्रकार के साधनों की आवश्यकता होती है, अतः वह सबके द्वारा सम्भव नहीं। परन्तु तीर्थयात्रा सबके द्वारा सम्भव है, अतः यह पुण्य में यज्ञों से भी अधिक श्रेष्ठ है।[३५] तीर्थों में पर्वत, नदी, समुद्र आदि अर्थात् विशेष रूप से प्राकृतिक शोभा के स्थान पवित्र माने गये हैं और वह इसलिए कि इन निष्कलुष स्थानों पर जाकर व्यक्ति का मन भी पवित्रता प्राप्त करता है।[३६] तीर्थयात्रा विचारपूर्वक करनी चाहिए, तभी उसका मन पर भी प्रभाव पड़ सकता है और भक्ति जाग्रत हो सकती है। अकस्मात् तीर्थ में जाकर जो स्नान करे, वह स्नान का फल प्राप्त करेगा, तीर्थयात्रा का नहीं।[३७] भारतीय पद्धति की यह विशेषता है कि जिस देवता का अथवा जिस व्रत का अथवा जिस तीर्थ का जिस समय वर्णन किया जाता है, उस समय उसी को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। यह अतिशयोक्ति इसीलिए है कि व्यक्ति को चाहे किसी देवता में भक्ति हो, चाहे वह किसी तीर्थ का सेवन करे अथवा किसी व्रत का साधन करे, सभी एक ही मार्ग पर ले जाने वाले हैं। इसलिए सभी को श्रेष्ठ समझकर यदि व्यक्ति आग्रह के साथ अपने मार्ग में श्रद्धापूर्वक लगा रहता है और उसके द्वारा उन्नति करता है तो वही श्रेयस्कर है। उदाहरण के लिए महाभारत के वनपर्व में ही विभिन्न तीर्थों——कुरुक्षेत्र, पृथूदक, पुष्कर आदि की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा है।[३८] मत्स्य, कूर्म, स्कन्द और पद्म पुराणों में प्रयाग की भी महिमा गायी गयी है तथा काशी और अन्य बहुत से तीर्थों की भी। भारतीय संस्कृति में तीर्थयात्रा पर बहुत बल दिया गया है और तीर्थों का ऐसा गुण गाया गया है मानो उन तीर्थों के स्मरण और दर्शन मात्र से घोरतम पापी भी पापों से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त कर लेगा। मत्स्यपुराण में प्रयाग का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि इस तीर्थ के दर्शन से, नामसङ्कीर्तन से तथा मिट्टी के स्पर्श से नर पापों से छूट जाता है।"[३९] लिङ्गपुराण का कहना है कि "चाहे चित्त विषय में आसक्त हो, चाहे व्यक्ति का धर्म के प्रति प्रेम नष्ट हो गया हो, परन्तु इस क्षेत्र (काशी) में मरने पर संसार में पुनर्जन्म नहीं होता।"[४०] परन्तु जहाँ तीर्थयात्रा पर बहुत जोर दिया गया है, वहाँ भारतीय संस्कृति के सिद्धान्तों के अनुरूप धर्म-व्यवस्थापकों ने साथ ही साथ यह भी ध्यान रखा है कि कहीं व्यक्ति को यह भ्रम न हो जाय कि केवल तीर्थयात्रा आदि कर लेने से ही उसके कर्तव्यों की इतिश्री हो जाती है——इस कारण तीर्थों की अतिशयोक्तिपूर्ण महिमा के साथ इस बात को भी बलपूर्वक कहा गया है कि चाहे कितनी ही तीर्थयात्रा की जाय, परन्तु जब तक व्यक्ति गुणहीन रहेगा, तब तक उसकी तीर्थयात्रा निष्फल ही होगी। स्कन्दपुराण तथा पद्मपुराण का कथन है कि "जो लोभी, चुगलखोर, क्रूर, दम्भी और विषय-लोलुप है, वह सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान

करके भी पापी और मलिन ही बना रहता है। केवल शरीर का मैल छुड़ाने से मनुष्य निर्मल नहीं होता, मन का मैल धुलने पर ही वह अत्यन्त निर्मल होता है। जलचर, जल में ही जन्म लेते हैं और उसी में मर जाते हैं, किन्तु इससे वे स्वर्ग नहीं जाते; क्योंकि उनके मन का मैल धुला नहीं रहता। विषयों में जो अत्यन्त आसक्ति होती है, उसी को मानसिक मल कहते हैं। विषयों की ओर से वैराग्य हो जाना ही मन की निर्मलता है। दान, यज्ञ, तप, बाह्य और आन्तरिक शुद्धि तथा शास्त्रज्ञान भी तीर्थ ही हैं। यदि अन्तःकरण का भाव निर्मल हो, तो वे सबके सब तीर्थ हैं। जिसने इन्द्रिय-समुदाय को वश में कर लिया है, वह मनुष्य जहाँ-जहाँ निवास करता है, वहीं-वहीं उसके लिए कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, पुष्कर आदि तीर्थ प्रस्तुत हैं।"[४१] वामनपुराण ने रूपक के रूप में कहा है—"आत्मा नदी है जिसमें संयम का जल भरा हुआ है; सत्य उसका प्रवाह तथा शील तट है और दयारूपी तरङ्गे उसमें उठती रहती हैं। हे पाण्डुपुत्र! उसमें स्नान कर। जल से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती।"[४२] शङ्खस्मृति में लिखा है कि "जिसके पैर, हाथ, मन, विद्या, तप और कीर्ति संयमपूर्ण है, वही तीर्थ के फल को प्राप्त करता है।"[४३]

दान भी चित्तशुद्धि का साधन है। दान का भारतीय समाज-रचना में एक वृहत् अर्थ है और अंग्रेजी का **gift** अथवा **charity** शब्द उसका पर्यायवाची नहीं हो सकता। दान का अर्थ है वह वृत्ति जिसके द्वारा व्यक्ति केवल स्वयं ही उपभोग नहीं करता, अपितु सब कुछ इस विराट्-रूप परमेश्वर का समझकर त्यागभाव से ही जीवन व्यतीत करता है। सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य में '**दान**' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता है और इसी अर्थ में दान मनुष्य की वृत्ति में परिवर्त्तन के साधन के रूप में माना गया है। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है—"इस आत्मा को ब्राह्मण वेदों के स्वाध्याय, दान, यज्ञ और निष्काम तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं"।[४४] यहाँ भी 'दान' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। गृहस्थजीवन में दान पर विशेष बल दिया गया है जिससे गृहस्थ केवल भोग में ही लिप्त न होकर निःस्वार्थ भाव से समाज की हित-चिन्ता करते हुए जीवन व्यतीत करे।[४५] दान की सर्वत्र प्रशंसा की गयी है। तैत्तिरीय संहिता ने इसे 'तप' कहा है; अत्रिस्मृति में इसे सबसे बड़ा 'मित्र' बताया गया है; नारदपुराण का कहना है कि जो धन, दान नहीं दिया जाता, उस धन को चोरों द्वारा रक्षित धन समझना चाहिए।[४६] दान के विषय में यह भी आवश्यक है कि उसके पीछे की भावना शुद्ध हो। मनु ने कहा है—"मनुष्य जिस जिस भाव से जो-जो दान करता है, उसी-उसी भाव से उसे ही वह बड़े आदर से पाता है।"[४७] वायुपुराण में लिखा है कि "लोकख्याति प्राप्त करने के उद्देश्य से जो ब्राह्मणों को दान देता है या राग-मोहवश पहले पाप करके अन्त में पवित्र होने के उद्देश्य से दान करता है, उन सब के दानादि सत्कर्म निष्फल होते हैं। वे दुरात्मा वास्तव में हिंस्र-भावना से धर्म में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार अन्याय द्वारा धन प्राप्त कर मोहवश जो दुरात्मा क्रूर, कर्म करता है अथवा यज्ञ करता है, वह नष्ट हो जाता है—टिकता नहीं। इसलिए जो बिना किसी कामना के यज्ञ-दान करते हैं, वही दान के वास्तविक फल को प्राप्त करते हैं और वही दान सुख, शान्ति एवं समृद्धि देनेवाला है।"[४८] दान की कई श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। गीता में दान को सात्त्विक, राजस् और तामस् भेदों में बाँटा गया है तथा नारदपुराण और पराशरस्मृति में भी दान के भेदों का उल्लेख किया गया है।[४९] दान को इष्ट और पूर्त्त दो भागों में विभाजित

किया गया है। इष्ट का अर्थ है श्रौतकर्म अर्थात् यज्ञादि और पूर्त्त का अर्थ है समाजसेवा की भावना से किये हुए कृत्य, यथा तालाब, कुएँ, बावड़ी आदि बनवाना, अन्नसत्र खोलना, पौशाला लगवाना, मन्दिर बनवाना आदि। अग्निपुराण में लिखा है--"बावड़ी, कुएँ, तालाब, देवमन्दिर, उद्यान आदि (बनवाना) पूर्त्तधर्म है जो मोक्ष देनेवाला है। अग्निहोत्र, तप, सत्य, वेदों का पालन (स्वाध्याय), आतिथ्य तथा वैश्वदेव को इष्ट धर्म कहा गया है तथा यह स्वर्ग देनेवाला है।"[५०] इष्ट धर्मों का विचार आगे यज्ञ के अन्तर्गत किया जायगा। पूर्त्तधर्म का महत्त्व कई स्थानों पर बताया गया है। उदाहरण के लिए नारदपुराण के बारहवें अध्याय में एक राजा की कथा दी गयी है जिसने मन्त्री के परामर्श से तालाब खुदवाया था और जिसके फलस्वरूप वह और उसका मन्त्री दोनों स्वर्ग गये। पूर्त्तधर्म भी मनुष्य के अन्दर लोककल्याण की भावना उत्पन्न करने के कारण मनुष्य की बुद्धि को ऊँचे स्तर पर उठाने तथा स्वार्थ-भावना से उसे मुक्त करने का एक साधन है।

शुद्ध बुद्धि निर्माण करने के दूसरे साधन **'यज्ञ'** के भी अर्थ को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। जैसा 'दान' के अंग्रेजी अनुवाद के विषय में ऊपर कहा गया है, वह बात 'यज्ञ' के सम्बन्ध में और अधिक लागू होती है। 'यज्ञ' का पर्यायवाची Sacrifice नहीं हो सकता और Sacrifice शब्द के प्रयोग के कारण ही यज्ञ के सम्बन्ध में बहुत-सा भ्रम फैला हुआ है। यज्ञ को साधारण भाषा में 'कर्म' कहा जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों को श्रुति का कर्मकाण्ड-भाग कहा गया है और ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञ का ही मुख्य रूप से विचार करते हैं। 'कर्म' के अन्तर्गत उन्हीं कृत्यों पर विचार किया जाता है जो लोकसंग्राहक हैं अर्थात् ऐसे कर्म जो स्वार्थभावना से नहीं, अपितु धर्म और समाज की व्यवस्था की दृष्टि से किये जाते हैं। जैसा पहले बताया गया है, कर्ममार्ग में 'कर्म' शब्द का प्रयोग ऐसे ही कृत्यों के लिए किया जाता है तथा सम्पूर्ण गीता इसी प्रकार के निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करती है। स्वयं 'यज्ञ' शब्द का अर्थ भी लोकसंग्राहक कर्मों का सूचक है। 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से बना है जिसका निरुक्त में अर्थ दिया है--देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान। श्री सातवलेकर लिखते हैं--"यज्ञ वह सत्कर्म है जिसमें पूजनीयों का सत्कार (देवपूजा) होता है, आपस की सङ्घटना की जाती है (सङ्गतिकरण) और निर्बलों को (जिनके पास अभाव है) सहायता दी जाती है (दान)।" गृहस्थ को प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने की आवश्यकता बतायी गयी है। यह पञ्च महायज्ञ हैं--भूतयज्ञ अथवा बलिवैश्वदेव, मनुष्ययज्ञ अथवा नृयज्ञ अथवा अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ अर्थात् श्राद्ध, देवयज्ञ अर्थात् होम और ब्रह्मयज्ञ अर्थात् स्वाध्याय। यहाँ भूतयज्ञ का अर्थ है मनुष्येतर प्राणियों को भोजन देना, नृयज्ञ का अर्थ है अतिथि को भोजन कराना, देवयज्ञ का अर्थ है देवताओं को बलि देना, पितृयज्ञ का अर्थ है पितरों को जल आदि से सन्तुष्ट करना, और ब्रह्मयज्ञ का अर्थ है वेदादि के स्वाध्याय से ऋषियों को तृप्त करना। यह सब समाज-सङ्घटन की दृष्टि से आवश्यक है। इसमें किसी पशु अथवा प्राणी को अग्नि में जलाने का भाव नहीं, अपितु लोकसंग्रह की भावना है। अश्वमेध यज्ञ और राजसूय यज्ञ का वर्णन इतिहास में समुद्रगुप्त और पुलकेशी के काल तक आया है और वह भी यही सूचित करता है कि यज्ञ लोकसंग्राहक थे अर्थात् समाज को एकसूत्र में बाँधनेवाले थे। 'यज्ञ' शब्द का जो बहुत स्थान पर प्रयोग किया गया है, उसमें भी 'यज्ञ' का ऐसा ही अर्थ प्रतीत होता है। गरुड़पुराण

में योगमार्ग को अन्तर्यज्ञ कहा गया है और यह कहा गया है कि अन्तर्यज्ञ करके तत्पश्चात् बहिर्यज्ञ करना चाहिए।[५१] यह भी कहा गया है कि यज्ञादिक भी सद्धर्म हैं और चित्त को शुद्ध करनेवाले हैं। अत्रिस्मृति में राजाओं के पाँच यज्ञ कहे गये हैं—दुष्टों को दण्ड, सज्जनों की पूजा (सत्कार), न्यायपूर्ण रीति से कोष की वृद्धि, न्याय माँगनेवालों के प्रति अपक्षपात तथा राष्ट्र-रक्षा।[५२] हारीतस्मृति में कहा गया है कि "ब्रह्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिये पापरहित ब्राह्मणों को मुख से, क्षत्रियों को भुजाओं से, वैश्यों को जङ्घाओं से तथा शूद्रों को चरणों से निर्मित किया।"[५३] इन सभी स्थानों पर 'यज्ञ' का अर्थ है लोकसंग्राहक कर्म। उपनिषद् तथा गीता में भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।[५४] 'यज्ञ' लोकसंग्राहक कर्म हैं, इसी कारण यज्ञों को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया गया है, मोक्ष-प्राप्ति का नहीं। मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि "निश्चय ही वे यज्ञरूप अठारह नौकाएँ अदृढ़ हैं जिनमें नीचे की श्रेणी का (सकाम) कर्म बताया गया है। जो मूर्ख इसे ही कल्याण का मार्ग समझकर प्रशंसा करते हैं, वे बार-बार वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होते हैं।"[५५] गरुड़पुराण में कहा गया है कि "यज्ञ स्वर्गलोक के लिए हैं।" मनुस्मृति का कहना है कि "सम्पूर्ण वेद की हवन, यज्ञ आदि क्रिया नाशमान् है, अविनाशी तो केवल अक्षर और प्रजापति ब्रह्म को जानना चाहिए।"[५७]

'यज्ञ' इष्टधर्म है और इष्टधर्म स्वर्गदायक है। यज्ञ अर्थात् इष्टधर्म के अधिकारी और अनधिकारी कौन-कौन हैं, यह धर्मशास्त्रों ने स्पष्ट कर दिया है। यज्ञ कराना और वेद पढ़ाना सदा उनके द्वारा ही किये जाते हैं जिनका उपनयन संस्कार होता है।[५८] पुराणों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि यज्ञ करने के अधिकारी देवता होते हैं, दैत्य नहीं; और इसके लिए बलि राजा की कथा तो लगभग सभी पुराणों में दी गयी है जिसमें वामन भगवान ने आकर बलि को यज्ञ करने से रोका था। यदि ऐसे कर्म, जिनसे समाज पर अधिकार अथवा समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, उन व्यक्तियों द्वारा किये जायेंगे जो ज्ञान, बुद्धि अथवा चरित्र में उसके योग्य नहीं हैं तो समाज का अकल्याण होगा। शूद्रों और स्त्रियों का यज्ञ करना, इसी सिद्धान्त के अनुसार वर्जित है; क्योंकि भारतीय समाज-व्यवस्था में तमोगुणी व्यक्तियों को शूद्र-वर्ण में रखा गया है तथा स्त्री के स्वभाव का ध्यान रखकर उसे सामाजिक लोकसंग्रह का काम न देकर गृहकार्य सौंपा गया है। यज्ञ स्वर्गदायक तो है ही, उसे ब्रह्म तक पहुँचने का साधन भी बताया गया है;[५९] क्योंकि यज्ञ अर्थात् लोकसंग्राहक कर्म व्यक्ति को धीरे-धीरे स्वार्थभावना से हटाकर परोपकार तथा परमार्थ की ओर ले जाते हैं और इस प्रकार व्यक्ति को ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग में आगे बढ़ते हैं। यज्ञ स्वार्थरहित लोकसंग्राहक कर्म होने के कारण तथा ब्रह्मप्राप्ति के साधन होने के कारण चित्तशुद्धिकारी हैं। यज्ञ के ही अन्तर्गत होम का समावेश हो जाता है। होम भी चित्तशुद्धिकारी है। मनु का कहना है कि "वेद की आहुति का हवन और अनध्याय में किया हुआ वषट्कार भी पुण्यरूप है।"[६०] इसलिए मुण्डकोपनिषद् का कहना है कि "यदि व्यक्ति दैनिक वैश्वदेव आदि नहीं करता तो उसके सातों पुण्यलोकों का नाश हो जाता है।"[३१] वसिष्ठधर्मसूत्र का कहना है कि "जो अनाग्नि है, वह शूद्र के समान है।[६२]" वैदिक अग्नियों का प्रज्वलित न करना विष्णुधर्मसूत्र तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में उपपातकों के अन्तर्गत गिना गया है।[६३] दैनिक होम की आवश्यकता

याज्ञवल्क्यस्मृति, गौतमधर्मसूत्र, व्यासस्मृति, हारीतस्मृति, संवर्तस्मृति तथा दक्षस्मृति में भी बतायी गयी है ।[६४]

परन्तु चित्तशुद्धि का सबसे श्रेष्ठ साधन **तप** है और इसी कारण वर्णोन्नति अथवा ब्राह्मणत्व-प्राप्ति का मार्ग तप बताया गया है।[६५] दान से यज्ञ और यज्ञ से तप को श्रेष्ठ बताया गया है। वायुपुराण का कहना है कि "दान द्वारा मनुष्य विविध प्रकार के भोगों की प्राप्ति करता है, यज्ञ द्वारा स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है तथा परम गोपनीयता से की गयी तपस्या द्वारा समस्त लोक का अतिक्रमण कर स्थित होता है और इस प्रकार समस्त लोकों में अनन्त, अक्षय सुख की प्राप्ति करता है। दान की अपेक्षा यज्ञ कल्याणकारी हैं और यज्ञ से बढ़कर तपस्या कल्याणकारी है।"[६६] मत्स्यपुराण के १४३वें अध्याय में यज्ञ और तपस्या की तुलना कर तप को ही श्रेष्ठ बताया गया है। छान्दोग्योपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् में तप को इष्ट और पूर्त्तधर्म से अर्थात् यज्ञ और दान से श्रेष्ठ स्थान दिया गया है।[६७] तप की महत्ता ऋग्वेद में वर्णित है।[६८] मनुस्मृति में विविध स्थानों पर इसके महत्त्व का वर्णन किया गया है, परन्तु ग्यारहवें अध्याय में इसका बहुत विशद वर्णन है। "देवता और मनुष्यों को जो सब सुख प्राप्त हैं, उसका तप ही कारण है और तप ही उसका अन्त और मध्य है, यह वेद के ज्ञाता विद्वानों ने कहा है। ब्राह्मण का तप ज्ञान है, क्षत्रिय का तप प्रजा की रक्षा है, वैश्य का तप कृषि, व्यापार और गोरक्षा है तथा शूद्र का तप द्विजों की सेवा है।"[६९] 'तप' शब्द का प्रयोग विशाल अर्थ में भी होता है और सीमित अर्थ में भी। विशाल अर्थ में तप का अर्थ है जीवन में संयम-निर्माण करना। मनु ने जो यह कहा है कि "मनुष्य मन, वाणी और देह से जो कुछ पाप करते हैं, उन सब पापों को तपस्वी तप से शीघ्र नष्ट कर देते हैं"—तो यहाँ मनु ने 'तप' का इसी अर्थ में प्रयोग किया है।[७०] उपनिषद् में भी 'तप' का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है। डॉ एस० राधाकृष्णम् का कथन है कि "यत्र-तत्र उपनिषद् तप को आत्मज्ञान का मार्ग बताते हैं, परन्तु तप का अर्थ है केवल आत्मशक्ति का विकास, शरीर की दासता से आत्मा की मुक्ति, मन के द्वारा गहन चिन्तन और शक्ति का प्रकटीकरण—उस मन के द्वारा जिसका विचार ही तप है।"[७१] गीता में भी तप के विभिन्न प्रकार बताये गये हैं और वहाँ भी 'तप' का इसी अर्थ में प्रयोग किया गया है।[७२] इसी अर्थ में 'तप' इष्टधर्म के अन्तर्गत आता है।[७३] गौतम भी ब्रह्मचर्य, सत्यवचन, तीन बार स्नान आदि को तप के अन्तर्गत गिनते हैं।[७४] योग और तप को समानार्थक कहा गया है और 'तप' को ब्राह्मणत्व-प्राप्ति का एक मार्ग बताया गया है।[७५] तप का सीमित अर्थ है शरीर को सुखानेवाला साधन। इस अर्थ के अनुसार दस नियमों के अन्तर्गत तप का समावेश किया जाता है।[७६] नारदपुराण इसकी परिभाषा करते हुए कहता है—"चन्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा जहाँ शरीर का शोषण होता है, उसे सन्त लोग 'तप' कहते हैं तथा यह योग का उत्तम साधन है।"[७७] गीता में तप को भी सात्त्विक, राजस् और तामस बताया गया है। "फल को न चाहनेवाले योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये हुए उस पूर्वोक्त प्रकार के तप को सात्त्विक कहते हैं। जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिए अथवा केवल पाखण्ड से ही किया जाता है वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला राजस तप है। जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से, मन, वाणी और शरीर को पीड़ा के सहित अथवा दूसरे का अनिष्ट करने के लिए किया जाता है, वह तप तामस कहा जाता है।"[७८]

सन्दर्भ सङ्केत--

(१) देखिए, आगे चित्तशुद्धि के साधनों के अन्तर्गत यज्ञों का वर्णन (२) नारदपुराण १।१।४।१-२, ६-७ (३) मत्स्यपुराण ४१।२-४; दक्षस्मृति ७।४०-४१ (४) नारदपुराण १।१।३३; ब्रह्मपुराण, २।३।५ (५) श्रीमद्भगवद्गीता ५।१-५ (६) वही, १३।२४-२५ (७) नारदपुराण १।१।३३।२९-३२; हारीतस्मृति ७।९-१२ (८) मनुस्मृति, १२।८५ (९) गीता ४।३३,३८-३९ (१०) गौतमधर्मसूत्र १९।११; वसिष्ठधर्मसूत्र २२।८; मनुस्मृति ३।२२७; याज्ञवल्क्यस्मृति २।८; पराशरस्मृति १०।४०; गरुड़पुराण--प्रेतखण्ड ७।४७-४८; नारदपुराण १११।३५ (११) शङ्खस्मृति ११।१६-१८; वसिष्ठधर्मसूत्र २६।९-११; विष्णुधर्मसूत्र २५।१०-२१; मनुस्मृति २।८५-८७ (१२) वही, ११।२४८-६५; वसिष्ठधर्मसूत्र २६।५-७; २८।१०-१५; विष्णुधर्मसूत्र ५६।३-२७; शङ्खस्मृति ११ वाँ अध्याय; संवर्तस्मृति २२७-२८; याज्ञवल्क्यस्मृति ३।३०२-३०५ (१३) ऋग्वेद ३।६२।१०; अथर्ववेद १९।७१।१; तैत्तिरीय आरण्यक २।११; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१।१०; मनुस्मृति २।७७, ८१ विष्णुधर्मसूत्र ५५।१४-१५ (१४) बृहदारण्यक ५।१४।४ (१५) मनु० २।७७।८३; विष्णु० ५५।११-१७; शङ्ख० ११।११-१९; संवर्तस्मृति २१६-२२३; वसिष्ठधर्मसूत्र २६।१५; दक्षस्मृति २।४०-४१; व्यास० ३।९; हारीत० ४।१८-२० (१६) तैत्तिरीय आरण्यक २।२; आश्वलायन गृह्यसूत्र ३।७; आपस्तम्ब० १।२।३०।८; गौतम० २।१७; मनु० २।१०१।३; याज्ञवल्क्य० १।२४-२५; हारीत० ४।१६-१९; संवर्त० ६-७; दक्ष० २।१८-१९-(१७) २।१८-१९ (१८) ३।३०८ (१९) २।१०३; (२०) अग्निपुराण ६८।२३। (२१) ११।५।७ (२२) १।४।१२।१,३ (२३) २।१४।३ (२४) २३९।१३ (२५) ४।२८, ५५ (२६) मनु० ६।२९; ११।२४५-४६; १२।८३; अत्रि० १३०-३१; दक्ष० २।२९; याज्ञ० १।९९,१०१ (२७) याज्ञवल्क्यस्मृति १।४०; व्यासस्मृति ३।१०-११; मनुस्मृति ११।२४६ (२८) प्रेतकल्प ५६-५७ (२९) १।१।४।३३-३७; देखिए, १।१।८।६-९ भी; (३०) देखिए, उदाहरण के लिए लिङ्गपुराण पूर्वार्ध, अध्याय ८५ (३१) काणे: हिस्ट्री आफ़ धर्मशास्त्र, भाग ४, पृष्ठ ५५३ (३२) १०।३१।३; ७।४८; तैत्तिरीय संहिता ६।१।१।१-२; अथर्ववेद १।३१।१ (३३) गौतम० १९।१४; वसिष्ठ० २२।१२; विष्णुधर्मसूत्र २।१६-१७; स्कन्दपुराण १।१।३१।३७; पद्मपुराण ३।३७।२५-२७; नारदपुराण २।६२।४६-४७; व्यासस्मृति ४।१३-१४; शङ्खस्मृति ८।१३ (३४) ३३।४-५; (३५) ८२।१३-१७; (३६) शङ्खस्मृति ८।११, १४; वायुपुराण ७७।११७; कूर्मपुराण २।३७।४९-५० (३७) शङ्खस्मृति ८।१२ (३८) ८२।२६-२७; ८३।१४५, ३०२ (३९) १०४।१२ (४०) १।९२।९४; वामनपुराण ३३।८, १६ (४१) स्कन्दपुराण ६।२८।२८-४५; पद्मपुराण, उत्तरखण्ड २३७।११-२८; (४२)-४३।२५; महाभारत १३।१०८।९; वायुपुराण ७७।१२५, १२७; ब्रह्मपुराण २५।४; पद्मपुराण २।३९।५६-६१ (४३) ८।१५ (४४) ४।४।२२ (४५) देखिए, विविध धर्मशास्त्रों में गृहस्थ-धर्म का विवेचन; वसिष्ठधर्मसूत्र २९।१६; (४६) तैत्तिरीय संहिता ६।१।६।३; नारद

पुराण १।१।३४।७२; ऋग्वेद १०।१०७; छान्दोग्योपनिषद् २।१३।१; संवर्तस्मृति २०७; गरुड़पुराण, प्रेतखण्ड ३।२३, ४०; वामनपुराण अध्याय ९१, बलि और शुक्राचार्य की कथा (४७) ४।२३४-३५; व्यासस्मृति ४।२६-२८ (४८) ९१।१०५-११८ (४९) गीता १७।२०-२२; पराशरस्मृति १।२९-३०; नारदपुराण १।१।१२।१९-२२; (५०) २०९।२-३; नारदपुराण १।१।१४।६४-६६; अत्रिस्मृति ४३-४६ (५१) प्रेतकल्प १५।९०, ९४ (५२) २८ (५३) १।१३।१२; गीता ३।१० (५४) छान्दोग्योपनिषद् ३।१६-१७; बृहदारण्यक उपनिषद् १।१-२; गीता ४।२४ (५५) १।२।७; कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् १।२; बृहदारण्यक उपनिषद् ६।२।१६; ३।२।९ भी; (५६) प्रेतकल्प १।२ (५७) २।८५ (५८) मनुस्मृति १०।११०; ४।२०५-६ (५९) कात्यायनस्मृति, कर्मप्रदीप अंश २१।१५-१६; छान्दोग्योपनिषद् ८।४-५; बृहदारण्यकोपनिषद् १।१-१।२।७; वामनपुराण २७।२८; नारदपुराण १।१।११।२८ (६०) २।१०६ (६१) १।२।३; काठक संहिता ९।२ (६२) २६।१६; ३।१ (६३) विष्णु० ३७।२८; ५४।३१; याज्ञवल्क्य० ३।२३४, २३९; (६४) याज्ञवल्क्य० ३।३०९; व्यास० ३।२८; हारीत ४।२०; संवर्त० ८; दक्ष० २।२३-२४; (६५) देखिए, आगे पद-पाठ ७५ (६६) ९१।११२-१४ (६७). छान्दोग्य० ५।१०।१-२; मुण्डक० १।१।१०-११; (६८) १०।१५४।२ (६९) २३४-४३; हारीतस्मृति ७।९, ११.१२ (७०) ११।२४१ (७१) इण्डियन फिलॉसफी, भाग १, पृष्ठ २१५ (७२) १७।१४-१६ (७३) अग्निपुराण २०९।३; अत्रि० ४४ (७४) १९।१५ (७५) रामायण के बालकाण्ड में विश्वामित्र की कथा; वायुपुराण ९१।१६-१८; मत्स्यपुराण, अध्याय ४८; शान्तिपर्व २९७।१२-१४; मनुस्मृति १०।४२ (७६) अत्रिस्मृति ४९; नारदपुराण १।१।३३।८७; (७७) १।१।३३।८८ (७८) १७।१७-१९।

●

बुन्देली बोली : एक सर्वेक्षण

• पूरनचन्द श्रीवास्तव

आर्य परिवार की आधुनिक भाषाएँ भारत के बहुत बड़े हिस्से में बोली जाती हैं। लगभग अड़सठ प्रतिशत व्यक्ति इसी परिवार की भाषाओं को बोलते हैं। उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाएँ जिनमें पश्तो, कश्मीरी, पञ्जाबी, हिन्दी, उड़िया, आसामी, बङ्गाली, गुजराती, मराठी, सिन्धी, लहन्दा हैं, आर्य परिवार की हैं।[१]

आर्य परिवार की इन भारतीय भाषाओं की जननी अपभ्रंश हैं। अपभ्रंश के पूर्व प्राकृत और उसके पहले लौकिक संस्कृत तथा उसके भी पहले वैदिक संस्कृत यहाँ की भाषा थी। वेदों की संस्कृत को ही वैदिक संस्कृत कहते हैं; लौकिक संस्कृत वह है जिसमें वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि ने साहित्य-रचना की। ये दोनों भाषाएँ, भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में प्रारम्भिक काल की भाषाएँ हैं। इसके बाद के काल में क्रम से पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ विकसित हुईं। इसे मध्य काल माना जाता है। आधुनिक काल अपभ्रंश के विलुप्त होने के साथ (१००० ई० के आस-पास) आरम्भ होता है।

आर्य परिवार की इन भाषाओं का आदर्श वर्गीकरण पूर्वी और पश्चिमी के रूप में किया जाता है। इस वर्गीकरण में पश्चिमी हिन्दी को केन्द्रस्थ माना गया है; साथ ही उसे पश्चिमी वर्ग में जिससे कि उसकी समानता है, रखा गया है। पश्चिमी वर्ग की भाषाओं में हिन्दी सर्वप्रधान भी है। पूर्वी और पश्चिमी भाषाओं की विभाजन रेखा, मानचित्र पर खींची जाने वाली वह रेखा होगी जो सीधे नैनीताल से नागपुर तक विस्तार पावे। इस रेखा के पूर्व की भाषाएँ पूर्वी और पश्चिम की पश्चिमी भाषाएँ कहलाएँगी—

पश्चिमी भाषाएँ	केन्द्रस्थ भाषा	पूर्वी भाषाएँ
१. पश्चिमी हिन्दी २. पहाड़ी (गोरखाली, कुमायूँनी, गढ़वाली) ३. लहन्दा ४. पञ्जाबी ५. सिन्धी ६. राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाती, जयपुरी, मालवी) ७. गुजराती	पश्चिमी हिन्दी	१. पूर्वी हिन्दी २. बिहारी (भोजपुरी मैथिली, मगही) ३. उड़िया ४. बङ्गला ५. आसामी

आर्य परिवार की इन भाषाओं में हिन्दी का सबसे प्रमुख स्थान है, क्योंकि इसके बोलने वाले १५ करोड़ से अधिक व्यक्ति हैं; इसीलिए संविधान में इसे राष्ट्रभाषा का स्थान दिया गया है।

बोलचाल की भाषाओं को बोली कहते हैं। बोलचाल की हिन्दी के अनेक रूप हैं, जिनमें खड़ीबोली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, बुन्देली, बाँगरू, राजस्थानी (मारवाड़ी, मेवाती, जयपुरी, मालवी) पञ्जाबी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, बिहारी (भोजपुरी, मैथिली, मगही), पहाड़ी (गोरखाली, कुमायूँनी, गढ़वाली) मुख्य हैं। पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी (साहित्यिक और लौकिक रूप) को उनके विभेदों के साथ इस प्रकार देखा जाता है—

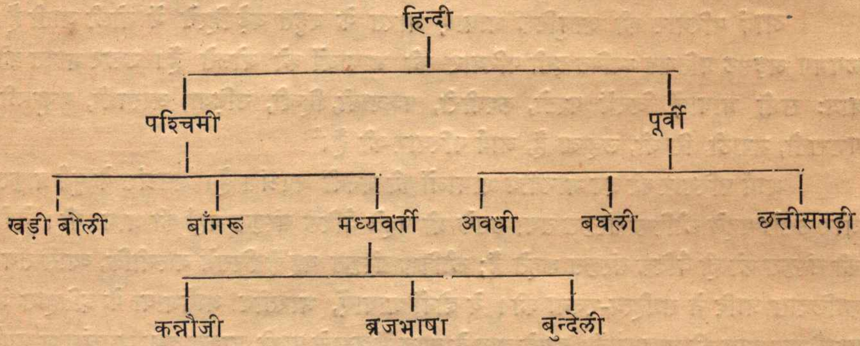

विद्वानों ने पश्चिमी हिन्दी को ही हिन्दी कहना शास्त्रीय समझा है और वैज्ञानिक विवेचन में पूर्वी हिन्दी को हिन्दी से पृथक् माना है। ग्रियर्सन और चैटर्जी आदि ने 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार पश्चिमी हिन्दी के ही अर्थ में किया है। उनकी दृष्टि में खड़ीबोली, कन्नौजी, ब्रज, बाँगरू और बुन्देली ये पाँच ही शुद्ध रूप में हिन्दी की उपभाषाएँ हैं, अन्य नहीं।

बुन्देली के सम्बन्ध में लिखते हुए ग्रियर्सन ने घोषित किया है कि "बुन्देली, पश्चिमी हिन्दी की पाँच बोलियों में से एक बोली है। यह ब्रजभाषा तथा कन्नौजी के साथ पश्चिमी हिन्दी बोलियों का दक्षिणी वर्ग बनाती है।"[2] अपने स्वरूप में यह ब्रजभाषा के बहुत निकट है। बुन्देली बोलने वालों की संख्या ग्रियर्सन ने ६९ लाख के लगभग मानी थी।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल में बुन्देली-प्रदेश साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है, किन्तु यहाँ के कवियों ने ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखी हैं। उनकी ब्रजभाषा पर बुन्देली का प्रभाव जहाँ-तहाँ मिलता है।[3]

हमारी दृष्टि में बुन्देली का क्षेत्र उतना ही है जितना कि हमने लेख के आरम्भ में निर्दिष्ट किया है। उस क्षेत्र में हम झाँसी, हमीरपुर, बाँदा, जालौन, सरीला, ग्वालियर, ईसागढ़, विदिशा, भोपाल, टीकमगढ़, पन्ना, छतरपुर, चरखारी, समथर, दतिया, बिजावर, अजयगढ़, सागर, दमोह, जबलपुर, नरसिंहपुर, सोहागपुर और होशङ्गाबाद सम्मिलित करते हैं। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' में हिन्दी भाषी प्रदेश का जो मानचित्र दिया है, उसमें बुन्देली का क्षेत्र ठीक-ठीक रूप में निर्धारित नहीं किया जा सका है। जबलपुर-मण्डला को उन्होंने बघेली-क्षेत्र में मिला

दिया है। श्री बालगोविन्द मिश्र ने मण्डला-जबलपुर की बोलियों को बघेली की मिश्रित बोली माना है।[४] किन्तु ये दोनों क्षेत्र बघेली बोली के नहीं हैं। जबलपुर की बोली बुन्देली है और मण्डला में छत्तीसगढ़ी और गोंडी का मिश्रित रूप पाया जाता है। छत्तीसगढ़ी के माध्यम से बघेली को मण्डला तक खींचना लम्बा खिचान है। 'हिन्दी साहित्य कोश' (पृष्ठ ५१७) में ग्रियर्सन के आधार पर बुन्देली के क्षेत्र को बताते हुए डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने जितने भी स्थान गिनाये हैं, उनमें से बालाघाट और छिन्दवाड़ा में बुन्देली नहीं बोली जाती। बालाघाट में छत्तीसगढ़ी, गोंडी और मराठी का मिश्रित रूप तथा छिन्दवाड़ा में भीली युक्त निमाड़ी और मराठी का गड्डर है।

श्री राममूर्ति मेहरोत्रा ने 'भाषा विज्ञानसार' में एक स्थान पर (पृष्ठ ९४) बुन्देली बोली के सम्बन्ध में लिखा है कि "यह जमुना से नर्मदा की घाटी तक व्यवहृत होती है। इसका मुख्य केन्द्र बुन्देलखण्ड है।" किन्तु, उसी ग्रन्थ में अन्यत्र अवधी और बघेली का विस्तार-क्षेत्र (पृष्ठ ९८) बताते हुए उन्होंने लिखा है कि "अवधी हिमालय की तराई से जमुना तक बोली जाती है. . .इसके दक्षिण जबलपुर-मण्डला तक बघेली व्यवहृत होती है।" यहाँ मेहरोत्रा जी एक स्थान पर 'नर्मदा की घाटी' और दूसरे स्थान पर 'जबलपुर-मण्डला' का उपयोग कर दूर देश के पाठकों को उक्त बोलियों के विस्तार-क्षेत्र का परिचय कराने में इस बात पर दृढ़ नहीं रख सके कि नर्मदा की घाटी का क्षेत्र तथा जबलपुर-मण्डला क्षेत्र वस्तुतः एक ही हैं। उसी क्षेत्र में बघेली और उसी क्षेत्र में बुन्देली का व्यवहार कैसे हो सकता है? बुन्देली-बघेली के मिश्रित रूप भी इन भागों में नहीं हैं। दक्षिण में कटनी-मुरवारा के आगे बघेली क्रमशः बुन्देली में डूब जाती है। कटनी से बघेली चन्द्राकार मोड़ में शहडोल की ओर बढ़ जाती है और आगे छत्तीसगढ़ी में उसका विलयन हो जाता है। मेहरोत्रा जी का और अन्य उन विद्वानों का, जिनके आधार पर उन्होंने बुन्देली बोली का क्षेत्र निर्धारित किया है, निर्णय कदाचित् बुन्देला बीर छत्रसाल के राज्य-विस्तार और उनकी शक्ति का दबदबा बताने वाली लोक-प्रसिद्धि पर आधारित जान पड़ता है। लोक प्रसिद्धि है—

इत जमुना उत नर्मदा, इत चम्बल उत तौंस।
छत्रसाल सो लरन की, रही न काहू हौंस॥

बुन्देला बीर ने जितना क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया था, उतने में बुन्देली ही बोली जाती है, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं। पराक्रमी शासक अनेक बोलियों के क्षेत्रों पर शासन करता है।

बुन्देली की दो सामान्य धाराएँ

यों तो देश की सभी बोलियाँ एक-दूसरे से अनुप्राणित और भावित्त हैं, परन्तु बुन्देली प्रमुखतः एक ओर ब्रज की बोली से अनुप्राणित है और दूसरी ओर पाञ्चाली-कन्नौजी से। इस प्रकार इसकी दो धाराएँ हैं। प्रथम धारा जिसका ब्रजीय ढब है, कृदन्त प्रधान है और दूसरी जिसका ढब पाञ्चाली अथवा कन्नौजी है तिङन्त बहुल। प्रथम धारा '**ओ**' पुंविभक्ति को अपनी विशेषता के रूप में लिये हैं और दूसरी में '**इ, है**' प्रत्यान्त जैसी क्रियाएँ (भविष्यत् काल) पाई जाती हैं। पाञ्चाली की पुंविभक्ति '**उ**' है। फिर भी इन पुंविभक्तियों के प्रयोग में बहुत नियमबद्धता नहीं है।

बुन्देली की पश्चिमी धारा राजस्थानी और उसकी अवान्तर बोलियों के निकट है, किन्तु पूर्वी धारा जो कि दूसरी धारा है, बहुत दूर तक नहीं जा पाती। पाञ्चाली का विकास पूर्व में बैंसवाड़ी, अवधी, भोजपुरी, मगही और मैथिली के रूप में हुआ है, किन्तु बुन्देली पश्चिमी पाञ्चाली तक ही अपना परस-प्रसार रखती है। आगे बढ़ने पर वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा नहीं कर पाती और अन्य बोलियाँ प्रधान हो जाती हैं। पूर्व की ओर अग्रसर होने वाली पाञ्चाली-धारा का विकास अन्यान्य उन बोलियों के रूप में होता है जिनको तुलसी और विद्यापति ने महत्व का स्थान दिलाया है। यह विचित्र स्थिति मालूम होती है कि बुन्देली बोली बीच के भागों की बोलियों को छोड़कर शील और मर्यादा में अवधी से मेल रखती है तथा मैथिली के समान सौन्दर्य और कोमलता लेकर चलती है। सन्देह नहीं कि बुन्देली और अवधी अथवा मैथिली के क्षेत्रों के बीच की बोलियों की प्रकृति अलग-अलग है, पर वह अनेक दृष्टियों से इन दो से बहुत दूर होकर भी इनके पास है।

बुन्देली की ब्रजीयता और पाञ्चालीयता का प्रमुख कारण भूतल का स्वरूप है। बुन्देली क्षेत्र का ढाल सामान्यतः उत्तर की ओर है; भोपाल, सागर-दमोह, पन्ना-छत्तरपुर का भूतल उत्तराभिमुखी ही है। यह बात चम्बल नदी में मिलने वाली काली सिंध और पार्वती नदियों तथा सीधे यमुना में मिलने वाली सिंघ, बेतवा, धसान और केन नदियों से स्पष्ट होती है। चम्बल भी आगे जाकर यमुना में मिल जाती है। इन नदियों की यमुनोन्मुखता बुन्देली को ब्रजीयता देती है और यमुना का पूर्वी ओर गति ग्रहण करना बुन्देली को पाञ्चालीयता देना है।

क्षेत्रीय पहाड़ों और घाटियों आदि ने भी, जैसा कि सभी भाषाओं की बात को लेकर कहा जायेगा, बुन्देली के स्वरूप पर प्रभाव डाला है––

(अ) पश्चिम में राजस्थान का मरुप्रदेश है। गुजरात और विदर्भ से मध्यभारत के रास्ते इस ओर आना-जाना पड़ता है। भाषाओं का प्रवाह इन्हीं मार्गों से हुआ है।[५] एक बात और, राजस्थान के चतुर्दिक् उर्वर भूमि का एक वृत्त है। उसका दक्षिण-पूर्व भाग मालवा कहलाता है। यह बुन्देलखण्ड के पश्चिम में पड़ता है। उत्तर और दक्षिण के बीच इसका महत्वपूर्ण स्थान है। भाषा और साहित्य की दृष्टि से इसका स्थानीय महत्व है। इसका प्रमुख कारण यह है कि उत्तर से एक मार्ग मालवा-गुजरात होते हुए दक्षिणापथ को जाता है। बुन्देली पर राजस्थानी का प्रभाव ब्रजभाषा के माध्यम से तो आया ही है, सीधे मालवी से भी इस पथ के कारण आया है। स्वयं मालवी में गुजराती, राजस्थानी और बुन्देली का पुट है। भोपाल की ओर का बुन्देली-क्षेत्र मालवीपन लिए है।

(ब) बुन्देली क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम में निमाड़ी बोली जाती है। यह बोली बुन्देली और मालवी से आक्रान्त है।[६] इसे ही उलटकर यों कहा जायेगा कि बुन्देली-क्षेत्र के दक्षिण-पश्चिम सीमान्त पर बुन्देली में निमाड़ी घुली हुई है।

(स) भाषा की दृष्टि से अमरकण्टक का महत्वपूर्ण स्थान है। कण्टकाकीर्ण जङ्गलों तथा दुर्गम पर्वतों के कारण विन्ध्य को पार करना कठिन है, किन्तु पुरुषार्थ ने उसकी प्राकृतिक कठिनाइयों का अतिक्रमण किया है। इसके पश्चिम और पूर्वी छोरों से होकर दक्षिण जाने के लिए कतिपय ऐसे मार्ग हैं जो प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध रहे हैं और उत्तर तथा दक्षिण के बीच

सेतु का कार्य करते हैं। इन मार्गों के कारण उत्तर-दक्षिण के आदान-प्रदान की एक परम्परा सी बन गयी[७] और दक्षिण की भाषाएँ उत्तर की ओर विन्ध्य के छोरों से होकर प्रवेश पाने लगीं। बुन्देली में दक्षिण की बोलियों के अनेक शब्द आकर समा गये हैं।

बुन्देली के चतुर्दिक् अन्य बोलियाँ

बुन्देली-क्षेत्र के चतुर्दिक् निम्नलिखित बोलियों के क्षेत्र हैं :—

(१) उत्तर—पाञ्चाली (कन्नौजी), ब्रजभाषा
(२) पश्चिमोत्तर—जयपुरी
(३) पश्चिम—मालवी } राजस्थानी
(४) दक्षिण-पश्चिम—मालवी-निमाड़ी
(५) दक्षिण—मराठी, छत्तीसगढ़ी, गोंडी
(६) दक्षिण-पूर्व—छत्तीसगढ़ी
(७) पूर्व—बघेली
(८) उत्तर-पूर्व—अवधी

बुन्देली बोली का सामान्य स्वरूप

हमारा मध्यकालीन साहित्य जो कि हिन्दी के विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ी है, ब्रजभाषा की प्रभुता (पन्द्रहवीं से उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ तक) लिये हैं और जहाँ तक बुन्देली का प्रश्न है, वह ब्रजभाषा से पूर्णतः भावित और अनुप्राणित बोली है। इसलिये प्रत्येक हिन्दी समझने वाले (विशेषतः ब्रजभाषा समझने वाले) के लिए कोई कठिनाई उपस्थित नहीं करती। कहने की आवश्यकता नहीं कि बुन्देली के अनेक प्रयोग ब्रजभाषा में जाकर ज्यों के त्यों समा गए हैं। परन्तु उसके समाविष्ट रूपों को लोग बुन्देली न मानकर ब्रजीय रूप में ही पहचानते हैं।[८]

बुन्देली सामान्य रूप से 'ख' और 'ढ़' के पदले क्रम से 'क' और 'ड़' का उच्चारण करने में जिह्वा-सुविधा मानती है, (परन्तु इसकी कोई निश्चित पटरी नहीं है) जैसे—'पढ़ना' के लिए 'पड़ना' और 'चढ़ना' के लिए 'चड़ना', 'साख' के लिए 'साक' और 'भखना' के लिए 'भकना'। आदि स्वर मध्यग 'ह' का लोप भी बुन्देली (विशेषतः पश्चिमी बुन्देली) की विशेषता है, जैसे बुन्देली में 'जहाँ' के लिए 'झाँ', 'कहाँ' के लिए 'काँ' कहा जायेगा, किन्तु धीरे-धीरे ये विशेषताएँ प्रबुद्धवर्गीय बुन्देलखण्डियों द्वारा ग्राम-दोष और क्लिष्टता के रूप में पहचानी जाने लगी हैं। इसलिए उक्त वर्ग में इनके प्रयोग कम हो चले हैं। परिष्कृत बुन्देली की भी हवा चल पड़ी है और उसमें 'ख' और 'ढ़' के बदले 'क' और 'ड़' के प्रयोगों को अशिष्ट ठहराया जाता है। इसी प्रकार हकार का विलुप्त होना हटाया जा रहा है।

बुन्देली की पुंविभक्ति के सम्बन्ध में पहले ही बताया जा चुका है—आकारान्त शब्द ओकारान्त हो जाते हैं, जैसे घोड़ा>घोरो, किन्तु इसके अपवाद भी पाये जाते हैं। विषमीकरण के रूप में 'ड़' के बदले 'र' भी हो जाता है, जैसे—लड़का>लरका, घोड़ा>घोरो। संज्ञा शब्दों में बहुवचन में अधिकांशतः अन्त में 'न' लग जाता है, जैसे बात>बातन, लरका>लरकन, करम>

करमन, गेंदा>गेंदन। इसके बदले 'ओं' भी चलता है, जैसे बात>बातों, लरका>लरकों, करम> करमों, परन्तु बहुत कम। ऐसे स्त्रीलिङ्ग शब्द जिसका अन्त 'इया' पर होता है, अपने बहुवचन रूपों में 'इयाँ', 'यन्' अथवा 'इन' या 'ई' हो जाते हैं, जैसे लरकिया>लरकियाँ या लरकियंन, ठुमकिया >ठुमकियन या ठुमकियाँ, मिचकारी>मिचकारिन या मिचकारीं।

'ए', 'ओ' बुन्देली में उसी लिङ्ग में छोटेपन अथवा पुलिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग रूप देने में क्रम से 'इ', 'उ' हो जाते हैं--बेटी>बिटिया, लोढ़ा>लुढ़िया, धोती>धुतिया, घोरा>घुरिया।

असमापिका क्रिया के रूपों के लिये 'के' या 'कें' का उपयोग किया जाता है; जैसे मारके या मारकें (मार कर)।

ब्रजभाषा में अपादान की विभक्ति 'सों', 'तें' हैं। बुन्देली में भी 'सों' का प्रयोग होता है। अवश्य ही 'तें' के बदले 'सें' हो जाता है। सम्बन्ध कारक की विभक्ति तो दोनों में मिलती-जुलती है। बुन्देली-कारक-चिह्न इस प्रकार हैः--

कर्त्ता	ने, नें	करण, अपादान	से, सें, सों
कर्म, सम्प्रदान	कों, खों	सम्बन्ध	को, के, की
		अधिकरण	में, मैं, पै

बुन्देली सर्वनामों के स्वरूप

	एक वचन		बहुवचन	
	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष	उत्तम पुरुष	मध्यम पुरुष
कर्त्ता विकारी सम्बन्ध	में, मैं मैंने मोको, मेरो मोरो, मोने	तू, तूँ तैंने तोको, तेरो तोरो, तोने	हम हम हमाओ, हमारो, हमकों	तुम तुम तुमकों, तुमारो, तुमाओ

अन्य पुरुष--वह --
- पुल्लिङ्ग--
  - एक वचन--बो, ऊ
  - बहुवचन--वे, बिन या उन (विकारी)
- स्त्रीलिङ्ग--
  - एक वचन--बा
  - बहुवचन--बिन या उन (विकारी)

यहाँ परिनिष्ठित हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले सर्वनामों एवं शब्द-स्वरूपों के साथ बुन्देली सर्वनामों एवं शब्द-स्वरूपों को दिया जा रहा है--

परि० हिन्दी	बुन्देली	परि० हिन्दी	बुन्देली
क्या	का	वैसा	ऊँसो
कोई	कोऊ	ऐसा-वैसा	ऐसो-ऊँसो.
कुछ	कछू	जहाँ-तहाँ	जित-तित
कितने	कितेक, कतेक, कित्ते	पास	नेंगर, नीरें, लिंघा, ढिंगा
यह	जा, जो, जे	दूर	ऊलें
इतने	इतेक, इत्ते	इस पार	ऐले पार
यहाँ-वहाँ	इत-उत, इतै-उतै	उस पार	पैले पार
इस ओर	ई तरप, नाँय	कौन जाने	क जाने, कौन जाने,
उस ओर	ऊ तरप, माँय		को जाने
ऐसा	ऐंसो	कहाँ	काँ, क्याँय

बुन्देली में 'वाला' अथवा 'वाली' का अर्थ देने के लिए विशेष्य के स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग विभेद से क्रिया के धातुरूप के अन्त में 'ना' या 'नूँ' लगाया जाता है, जैसे——**जिन घर हींग महकनूँ जीरन कौंन बघार** ! यहाँ 'महकनूँ' का 'नूँ', 'वाली' का अर्थ देता है। पूर्ण पंक्ति का अर्थ है——जिस घर में महकने वाली हींग हो, उस घर में जीरे का बघार क्या ! हींग, जीरे को दबा देती है। हींग स्त्रीलिङ्ग होने से ही 'नूँ' का प्रयोग हुआ है। **'लाये बलम मोरे बैला दँहकना'**——यहाँ 'दँहकना' का 'ना' 'वाला' का अर्थ देता है।

'वाला' अर्थ देने के लिये **'गर'** प्रत्यय का भी उपयोग किया जाता है, जैसे——**देंहगर बैला, बुझगर नार** अर्थात् शरीर से पुष्ट बैल और समझने वाली स्त्री। इसी 'वाला' का अर्थ देने के लिये 'दार' भी शब्दान्त में लगाया जाता है।

इसी प्रकार **'इया'** और **'इयाँ'** का प्रयोग कर 'वाला' या 'वाले' का अर्थ लिया जाता है, जैसे——लड़इया, हुबइयाँ, खबइयाँ, पकइयाँ।

किसी भी क्रिया-धर्म की अपूर्ण स्थिति के द्योतन के लिये अथवा विशेषण (जिसमें 'वाला' या 'वाले' की भी हल्की झाँई रहती है) का काम लेने के लिये क्रिया में **'ओंहें'** जोड़ा जाता है, जैसे मुसकोंहें, नचोंहें, उचकोंहें आदि।

इसी प्रकार क्रिया में **'आसे'** जोड़ा जाता है और 'आसे' युक्त क्रिया शब्द क्रिया की अधर झूल का परिचय देता है——जैसे——रुवासे, ऊँघासे, भुँकासे।

अनुकरणात्मक क्रिया विशेषणों में **'सें'** लगाकर 'से' का अर्थ ग्रहण किया जाता है, जैसे, धम्म सें गिर परो (धम्म से गिर पड़ा), सन्न सें भओ (सन्न से हुआ)।

बुन्देली पर अन्यान्य बोलियों का प्रभाव

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, बुन्देली पर अवधी और मैथिली दोनों का प्रभाव लक्षित होता है (यहाँ ब्रज की बोली की चर्चा नहीं की जा रही, क्योंकि उसके तो वह इतने निकट है कि

सहज ही उसकी विभेद मात्र कही जा सकती है)। किन्तु इन दोनों में प्रभाव की दृष्टि से यदि प्राथमिकता देना पड़े, तो अवधी को ही आगे करना पड़ेगा। बुन्देली एक ओर बघेली से प्रभावित है और दूसरी ओर छत्तीसगढ़ी से। छत्तीसगढ़ी अवधी का ही एक विभेद है जिसमें मराठी और उड़िया का प्रभाव है। और बघेली तो अवधी ही है, बघेलखण्ड में बोली जाने के कारण उसका नाम बघेली हो गया है——भेद है भी तो बहुत स्थूल। दक्षिणी बुन्देली में उस गोंड़ी का प्रभाव है जो तमिल से मिलती-जुलती है।

बुन्देली पर अवधी तथा मैथिली के प्रभाव का कारण परिव्रजण और रोटी-बेटी का व्यवहार तो है ही, कदाचित् महारानी जानकी और राजा राम के बीच मिथिला और अवध का वह सांस्कृतिक विनिमय भी है जिसको तुलसीदास जी ने रामायण द्वारा घर-घर पहुँचा दिया है। अवधी का इतिहास सदा ब्रजभाषा से समझौता करके चलने का इतिहास है; इसीलिये बुन्देली का उसके प्रभाव में आना स्वाभाविक ही है।

'अहिवात' शब्द का अत्यधिक प्रयोग तुलसीदास से लेकर पिछड़े कैंड़े तक के ब्रजभाषा के कवियों द्वारा किया गया है। बुन्देली का भी यह अपना ही शब्द है। इस शब्द का प्रयोग मिथिला और अवध की स्त्रियों द्वारा बड़े सहज रूप में प्रतिदिन होता है। इसी प्रकार 'लेसना' जो कि 'जलाना' का पर्याय है, मैथिली, अवधी, ब्रज और बुन्देली में एक-सा प्रयुक्त होता है। कहना न होगा कि इसके समान ही अनेकानेक शब्द बुन्देली में ज्यों के त्यों पाये जाते हैं। बुन्देली के सम्बन्ध-द्योतक शब्द ननद, सरहज, सारी, भैन (बहिन), भौजी, सास आदि उक्त दोनों क्षेत्रों में बोले जाते हैं, भले ही उनकी ढार ननदि, सरहजि, सारि, भैने, भउजी, सासु हो। संस्कृत का 'कुक्षि' एकसा ही है। ओसारा (बरामदा), कोनिया (घर अथवा छत का एक कोना), अधन या अदहन (दाल या चावल पकाने का चूल्हे पर चढ़ा हुआ पानी), 'पेटकइयाँ' या 'पिटकइयाँ' (छोटे बच्चों का पेट के बल लेटना), खेप (जितना एक बार में ढोया जा सकता है), खूँट (कपड़े का एक छोर), तरवा (पैर का तलुवा) आदि शब्द उक्त तीनों भाषाओं में एक से पाये जाते हैं।[१] आगे हम अन्यान्य बोलियों और भाषाओं के तुलनात्मक स्वरूप को देते हुए बुन्देली के हेल-मेल वाले इन बोलियों के और भी शब्द देंगे।

बुन्देली की भाँति अवधी अथवा मैथिली में भी अनुकरणात्मक क्रिया आदि का उपयोग होता है। बुन्देली में जो 'धम्म से गिर परो' है, वह मैथिली में 'धम्म द गिरल' और अवधी में 'धम्म धें गिर परो' है। बुन्देली में जो 'सन्न से भओ' है, मैथिली में 'सन्न द भइल' है और वही अवधी में 'सन्न धें हुइगा' है। भेद 'सें', 'द' और 'धें' का ही समझना चाहिए।

बुन्देली में अवधी अथवा मैथिली की भाँति ही दुहरे शब्दों का प्रयोग मिलता है और प्रायः ठीक उसी रूप में। ये प्रयोग संज्ञा, क्रिया और विशेषण आदि सभी प्रकार के शब्दों में उपलब्ध हैं। जिस प्रकार अवधी में कुटुम्ब के लिए लरिका-परिका, खाने-पीने के सामान के लिए पानी-घानी आदि का प्रयोग होता है और मैथिली में 'लिखि-लाखि', 'टुकुर-टुकुर', उसी प्रकार बुन्देली में भी भोजन के धान्यों के लिये 'अन्न-चुन्न', 'पानी-घानी' आदि का प्रयोग होता है। इसी क्रम में स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस प्रकार के युग्म प्रयोगों की दो श्रेणियाँ हैं——एक तो उनकी, जिनमें दोनों ही शब्द सार्थक होते हैं, जैसे कपड़ा-लत्ता, घास-पात, पान-फूल आदि और

दूसरी उन शब्दों की, जिनमें पहले वाले तो सार्थक और दूसरे शब्द निरर्थक होते हैं। दूसरी श्रेणी वाले प्रयोगों में प्रायः अनुकरण अथवा ध्वनि प्रदर्शित करना ही वास्तविक ध्येय रहता है। दुहराने के लिए शब्दों में कुछ वर्णिक साम्य तथा सङ्गीतात्मक एकता रहती है, अन्यथा उनका कोई अर्थ नहीं होता, जैसे 'पेर-पार', 'जार-जूर,' 'ठेल-ठाल'। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे युग्मों में अर्थ-शून्य प्रथम पद वाले शब्द हैं ही नहीं। हैं अवश्य, परन्तु कम हैं। इस प्रकार के बुन्देली के कतिपय युग्म इस प्रकार हैं:—आम्हूँ-साम्हूँ, अलाय-बलाय, अरोसन-परोसन। परस्पर विरोधी अर्थ वाले पद-युग्म भी बुन्देली में चलते हैं:—जैसे, जात-कुजात, पाप-पुन्न, ऊँचों-नीचो, भलो-बुरो, कहा-सुनी, चढ़ा-उतरी, आगो-पीछो।

बुन्देली के वे क्षेत्र जो छत्तीसगढ़ी के क्षेत्र से लगे हुए हैं, छत्तीसगढ़ी से प्रभावित हैं। बुन्देली में 'कन्धे' के लिए 'कँधा' या 'कँदा' कहा जाता है, किन्तु वहीं छत्तीसगढ़ी में 'खन्धा' ही जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे बुन्देली बोलने वाले लोग भी हैं जो 'कन्धा' न बोलकर 'खन्धा' बोलते हैं। इसी प्रकार छत्तीसगढ़ी के 'घुस्सा' (गुस्सा = नाराज़ी) को भी बुन्देली के कुछ क्षेत्र ने स्वीकार कर लिया है। गोंडी भाषा के प्रभाव को भी बुन्देलखण्डियों की बोली में तुरन्त परखा जा सकता है, जब वे 'ज़रा' (थोड़ा) के लिए 'जड़ा' और 'चुरना' के लिए 'चुड़ना' कहते हैं।

बुन्देली के दुरूह शब्द और मुहाविरे

बुन्देली में ऐसे अनेक शब्द और मुहाविरे हैं जिनका अर्थ सामान्य दृष्टि से समझ में नहीं आता। ऐसे शब्द और मुहाविरे प्रायः प्रत्येक बोली में अपने-अपने ढङ्ग से देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार निर्मित होते हैं; उनकी लाक्षणिकता से वास्तविकता निकालने के लिए बड़े गहरे उतरने को अवश्यकता होती है। आदिम वृत्तियाँ, परम्पराएँ, इतिहास, धर्म और सामाजिक आचारों को हम उनमें बँधा हुआ पाते हैं। नीचे बुन्देली के कतिपय मुहाविरे दिये जा रहे हैं।

(१) **पेट में बात पचबो**—यह बुन्देली का प्रसिद्ध मुहावरा है। स्पष्ट है कि यहाँ 'पेट' का अर्थ 'मन' होता है। इसी प्रकार जब प्रयत्न करने पर भी कुछ स्मरण नहीं आता, तब कहा जाता है कि 'बात पेट में तौ हैं, मौं में नई आउत।' यहाँ भी वही बात है। बात पेट में क्या होगी, 'पेट' का अर्थ मन ही है।

बुन्देली में ऐसे अनेक लाक्षणिक प्रयोग पाये जाते हैं। इनके पीछे आदिम मानव की तब की सरलता का स्वरूप निहित है, जब वह मन को नहीं समझ पाया था और उसकी दृष्टि में पेट ही सब कुछ था। अबोध बालक जैसे पेट को ही सब कुछ मानता है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान में मनुष्य ने पेट को ही सब कुछ माना।

(२) **जगन्नाथ जी को भात**—जहाँ छुआछूत की ओर ध्यान देने की आवश्यकता न मानी जाये, वहाँ कहा जाता है 'यह तो जगन्नाथ जी को भात है।' यह कथन युग-विशेष में वज्रयानियों और शाक्तों के कामरूप से काशी तक के प्रभाव की ओर सङ्केत करता है। पुरी के मन्दिर में खान-पान आदि में वर्ण-व्यवस्था नहीं मानी जाती है, क्योंकि जगन्नाथ विष्णु, वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार करने वाले बुद्ध थे।

(३) **रौन कौंराई की कुतिया**—जब कोई व्यक्ति लोभ में पड़कर एक ही ओर अपने चित्त को स्थिर न रख सके, कभी इधर, कभी उधर होता रहे और ऐसा करने में वह कुछ भी लाभ न उठा सके, तब कहा जाता है—'बो तो रौन कौंराई की कुतिया हो गओ।' इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं कि सागर जिले में रौन और कौंराई नाम के दो गाँव बहुत पास-पास हैं। किसी समय वहाँ दोनों गाँवों में भण्डारा और ब्राह्मण भोजन कराया गया। एक कुतिया जूठी पत्तल चाटने की लौ लगाए थी। रौन गाँव में उसे लगा कि भोजन करके उठने में अभी लोगों को कुछ देर है, इसलिये उसने सोचा कि तब तक वह निकट के गाँव कौंराई की दौर लगा आवे, शायद वहाँ लोग भोजन कर चुके हों और पत्तलें उठाई जा रही हों। वहाँ जाने पर उसे वहाँ भी वही स्थिति मिली। लोग भोजन करने बैठे ही थे। उसने फिर सोचा कि इससे तो अच्छा था कि वह कौंराई न आती। रौन के लोग भोजन करके उठ चुके होंगे—यह सोच, वह फिर उस गाँव को दौड़ी। पहुँचने पर उसने देखा कि लोग भोजन से उठ पड़े हैं और पत्तलें बारी (जाति विशेष जो जूठी पत्तलें लिया करती हैं) को दी जा चुकी हैं। इससे उसे दुख हुआ। अभी एक अवसर और था। वह कहीं चूक न जाय —ऐसा विचार कर वह फिर कौंराई लपकी। वहाँ पहुँचने पर उसने देखा कि वहाँ भी जूठी पत्तलें बारी को सौंपी जा चुकी हैं। कुतिया निराश हो गई।

कुतिया को जिस प्रकार दोनों स्थितियों में निराश होना पड़ा, उसी प्रकार की स्थिति में जब कोई व्यक्ति पड़ जाता है, तभी यह कहनात कही जाती है।

(४) **चूल्हो ककोरबो**—जब कोई किसी बात को छिपाता है, किन्तु प्रश्नकर्त्ता को सत्यता भासित हो जाती है, तब कबूल कराने के लिए धमकी दी जाती है कि 'चूल्हों ककोरने पर है का ?' यहाँ चूल्हा ककोरने से एक विशेष कहानी सम्बद्ध है :—

"एक दिन किसान सदा की भाँति हल-बैल लेकर खेत जोतने चला गया। कुछ देर ही उसने काम किया था कि उसका हल टूट गया। उसे ठीक करने के लिए सामग्री की आवश्यकता पड़ी और घर आया। आवश्यक सामग्री लेने के उपरान्त उसने सोचा—चूँगी पी लें, फिर खेत पहुँच जाये। उसने चूँगी में तम्बाकू भरी और उस पर अङ्गार रखने के लिए स्वयं ही भीतर गया। स्त्री किसी अन्य कार्य में व्यस्त थी। उसने चूल्हे को कुसिया (फार) से ककोरा (खखोड़ा) या खबियाया। देखा कि मभूदर (गरमराख) में गाकड़े (गक्कड़ें) गड़ी हुई है। इस पर उसने कहा—

करमन से हर टूटो, भागन से घर आओ।
कुसिया से जो चूल्ह ककोरो, चाक मँहादन पाओ॥

'चाक मँहादन' गक्कड़ों को कहते हैं। हमारी दृष्टि में गक्कड़ कोई बड़ी स्वाद की चीज़ न हो, परन्तु दीनों-हीनों के लिए वही बड़ी स्वादिष्ट चीज़ है। इसी पर से 'चूल्हो ककोरबो' निकला है। अर्थ यह कि अभी बात बता दो अन्यथा चूल्हा ककोरने पर तो भेद खुल ही जायेगा (गाकड़े मिल जायेंगी)।

(५) **न्योना, कढ़ी पै पैना**—'कढ़ी पै पैना' देने की बात उस समय कही जाती है, जब किसी के सम्बन्ध में यह जानकर कि वह चतुर-सुजान है, उससे उत्तम कार्य की आशा की

जाये, किन्तु अनुभव-अवलोकन से यह विदित हो कि उक्त व्यक्ति की चतुर-सुजान-कीर्ति थोथी है। इस सम्बन्ध में लोक-मानस नीचे लिखी कहानी देता है :—

"किसी के यहाँ मेहमान आए। मेहमानों के लिए उत्तम रसोई बने, यह विचार कर पास-पड़ोस के अन्य निकट के सम्बन्धी के यहाँ की किसी ऐसी स्त्री को बुलवाया गया जिसके सम्बन्ध में सुन रखा था कि बड़ी चतुर है, रसोई बड़ी निपुणता से तैयार करती है। कढ़ी चढ़ाई गई और देखा यह गया कि उस चतुरा ने कढ़ी के बर्तन पर पैंना (ढक्कन) रखवाया। बस यहीं लोगों की समझ में आ गया कि उक्त स्त्री को पाक-विज्ञान में कितनी दक्षता प्राप्त है। कढ़ी उबलती-उफनाती है, उस पर (पकते समय) ढक्कन नहीं रखा जाता, किन्तु उसे इस छोटी सी बात का ज्ञान न था। इस पर घर की किसी जेठी-सयानी ने कहा:—

न्योना (चतुर) भोज बनाबे आई,
कढ़ी पै पैंना देतई आई!

यही कढ़ी पर का पैंना है जिसने सामान्य उक्ति का रूप धारण कर लिया है।

(६) **लिल्-लिरी**—'लिल्-लिरी' उस व्यक्ति को कहा जाता है जो अपने अस्तित्व का मूल्य खो चुका होता है। 'हाय बुढ़ापा तोरे मारे हम तो अब नकुन्याय गइन' कहने वाले सभी लोग 'लिल्-लिरी' हुआ करते हैं, किन्तु कुछ लोग स्थविरता के पूर्व ही 'लिल्-लिरी' हो जाया करते हैं, कुछ लोग 'लिल्-लिरी' होते ही हैं। ऐसे लोग सामान्यतः क्लीव वृत्तियों वाले होते हैं। उनका संसार में जैसा होना, वैसा न होना। उनसे कुछ करते धरते नहीं बनता। उनकी चेष्टाएँ भी अर्ध विकसित मस्तिष्कवाले मनुष्य की सी हुआ करती हैं। वे किसी का टिकौना अथवा सहारा नहीं बन सकते।

ये 'लिल्-लिरी' शब्द कहाँ से आये? स्मरणीय है कि ये शब्द नहीं वर्ण हैं, 'ऌ' और 'ॡ'। इनके साथी 'ऋ' और 'ॠ' हैं। हिन्दी में अभी 'ऋ', 'ॠ' ऋषियों आदि के रूप में प्रकट होते रहते हैं, परन्तु 'ऌ' और 'ॡ' 'लिल्-लिरी' हो गए हैं—इनका उपयोग हिन्दी में अब नहीं होता। जिन ग्रन्थों में इनका अस्तित्व है भी, वह केवल दर्शन के लिए रह गया है, अब कोई उनका ठीक-ठीक उच्चारण भी नहीं कर पाता। वह समय ही नहीं रहा, जब वर्णों के उच्चारण से अर्थ-विशेष की प्रतीति होती थी—सब भूला जा चुका है, अटकल-बाजी से काम चल रहा है, अटकल सत्य बन गया है। अतः 'लिल्-लिरी' (ऌ और ॡ का घिसा हुआ अथवा तोतला रूप) में उपयोगिता के क्षेत्र से दूर हट जाने की बोध-ध्वनि गर्भित है। यदि ध्वनि अथवा नाद-व्यञ्जना के आधार पर विचार किया जाये तो यह किसी ऐसे व्यक्तित्व को सामने लाता है जो बड़ा लिबलिबा, फसकीला-सा हो और जिसकी पङ्गु वृत्तियों में कोई स्थिरता न हो।

(७) **मलङ्ग**—बुन्देली में 'मलङ्ग' शब्द धूमधूसर, स्थूल तथा औघड़ वृत्ति के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है। 'मलङ्गी' के रूप में इसका उपयोग स्त्रीलिङ्ग में भी होता है। अब देखना चाहिए कि यह शब्द कहाँ से आया है।

'मलङ्ग' या 'मलिङ्ग' एक प्रकार के मुसलमान फकीर हैं जो योगियों या औघड़ों से मिलते हैं। ये शरीर को कौड़ियों की लड़ियों से बाँधते और अलखियों की भाँति काले बालों

की डोर से कस कर लोहे की साँकलों से निकालते हैं। इसके अतिरिक्त शान्ति भाव से चुपचाप ध्यान करना भी इनके जीवन का अङ्ग है। यही 'मलङ्ग' है। परन्तु कौड़ी और जञ्जीरों की बात छोड़ बुन्देलियों ने उनकी अलमस्ती अथवा निर्द्वन्द्विता पर विकसित कायिक थल-मल को दृष्टि से पकड़ लिया और उसका उपयोग सामान्य कर दिया। लोक-मानस में जैसा जम जाये, बस वही सही है। वही बोली में भी उतर आता है और चल पड़ता है, फिर उसे शास्त्रीयता की चिन्ता नहीं रहती।

(८) **अल्ला बो**––इसका अर्थ गला फाड़कर चिल्लाना होता है। यह शब्द 'अल्ला हो अकबर' से निकला हुआ है। मुल्ला, मसजिद पर चढ़कर उच्च स्वर से बाँग दिया करता है––"अल्ला हो अकबर. . . ।" कबीर ने इसी चिल्लाने पर व्यङ्ग किया है। इस जोर से चिल्लाने में अल्ला पर विशेष स्वर-अवधारणा रहती है, अतः 'अल्ला बो' चिल्लाने का समानार्थी बन गया है। किसी पीड़ा के प्रभाव में भी यदि जोर से आह-कराह निकले, तो भी 'अल्ला बो' कहा जाता है। सामान्यतः अर्थ पशु-वर्ग द्वारा चिल्लाने के लिए सीमित है। मनुष्यों के वर्ग में व्यङ्ग हो कर आता है।

'अल्ला' का अर्थ माता भी होता है, अतः बछड़ा जब माँ के लिए रम्हाता हैतब भी 'अल्ला बो' का उपयोग किया जाता है।

बुन्देली के गद्य-ग्रन्थ

बुन्देली में अनेक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हो सकते हैं और उनसे उसके विकास का समुचित अध्ययन हो सकता है। सं० १७५३ की लिखी हुई एक रचना उपलब्ध हुई है जो 'भागवत-महापुराण' के पञ्चम स्कन्ध का अनुवाद है। यह ग्रन्थ बुन्देली बोली में लिखा हुआ है। फ़ारसी शब्दों के भी रुचिकर प्रयोग इसमें मिलते हैं। विशेषता यह है कि फ़ारसी शब्दों को बुन्देली उच्चारण पद्धति के अनुसार ग्रहण किया गया है।[११]

पुरानी बुन्देली की बानगी के लिए हम यहाँ वैशाख सुदी १५, संवत् १७८७ का छत्रसाल द्वारा दिमान जगतराज जू देव को लिखा गया वह पत्र दे रहे हैं जिसमें उन्होंने स्वामी प्राणनाथ जी से अपनी भेंट का उल्लेख किया है :––

:: श्री ::

श्री महराजाधिराज श्री महाराजा श्री राजा छत्रसाल जू देव के बांचने येते श्री महाराज कोमार श्री दिमान जगतराजू देव को आपर हम लड़ाई कर के महेवा मउ से आवत जात रहत हते. दस पांच रोज रहे तो येक दिन सिकार षेलवे को गये. डांग में येक आदमी लगोटी लगाये बैठो हतो. हमने समझी कै जो भेष बनाये हमारे मारबे को आव है. हमने ऊसै पूंछी कै तें को है, कहां आवो. ना बोलो. तरवार हमने ऊकों उजेई। बोलो कै बच्चा ना मार मैं तुमारे अच्छे के लाने आवो हैं. हम बैठ गये. बोलो कै बच्चा तुमारो नाम छत्रसाल है. हमने कही कै हां. बोलो कै बच्चा तें बड़ा प्राकरमी है और बड़ो परतावी भयो है. हम और तें येक ही है. ऊ जनम में येक संग रहे हैं. विन्द्रवासिनी में बहुत दिन तपस्या करी है. उतैं हमारो धूनी के नेंगर चमीटा गड़ो है सात

हात के नीचे. जो तोको विसवास ना होवे तो चमीटा मगवा. हमने कही कै मोको का चमीटा को करने है. मोरे पास न धन आये. लड़कन के लाने रियासत को उपाय करत फिरत हौं. जो कछू न्याव लड़ाई करें मिल जै है तो अच्छी है. फिर कही कै बच्चा हम प्राननाथ हैं. तोरे पास ऐसे धन है कै काहू के पास ना कड़ है. हमने कही कै महाराज मोरे पास कछू धन नहीं आये. लूटमार में जो कछू मिलो सो फौज को षबावत हों. . . . . तब हमने कही कै महाराज कुंवर लौ तौ है नहीं आयें. पंती नाती की को चलावे. कही कै तोरे ऐसे कुंवर हू हैं कै काहू के ना भये हू हैं और येक से येक बड़ के कुंवर हू हैं . वा नाती पंती हू हैं, संवत सतरा सै बत्तीस की साल में महाराज पिराननाथ जू षेजरा में रुपे वा वोही साल हम परना के राजा भये. ऊ बषत पै हमने पचीस लाख की जाधा कमाई हती. जितने हीरा मिलत गये महाराज पिराननाथ जू सब सामान बनवावत गये. बनने हुकुम दवो कै बच्चा बहुत सामान हो गयो है. फिर संवत सतरा सौ पैंतीस की साल में मंदिर महाराज को बनवावो. हमने बिनती करी कै महाराज अेक आद तला आपके नाम को बन जाये. तौ कही कै बच्चा तला न बने. चल हम जाग बताइत हैं चौपर बन जाये. ऊ जधा पै गये सो कही कै सुदन कर. हमने सुदन चौपरा को करौ और कही कै यहां षुदवावो. यहां धन है. षुदवावो तौ एक बड़ा भारी बटुआ पीतर को कड़ो. ऊ में मुहरें कड़ीं वा येक हंडा लोहे कौ. ती में सवा लाख रुपैया कड़े. ईतरा का हाल महाराज जू ने करो हतो. बैसाष सुदी १५ संवत १७८७ मुकाम महेवा।[१२]

बुन्देली की अवान्तर बोलियाँ

विभिन्न क्षेत्रों की बुन्देली में बहुत कम विभेद हैं। पार्श्ववर्ती प्रदेशों पर अवश्य ही किञ्चित् हेर-फेर भी लक्षित होता है; किन्तु अपने शुद्ध स्वरूप में वह सर्वत्र एक-सी है। फिर भी मुख्यतः उसे पाँच रूपों में परखा जाता है :—

(१) **पँवारी**—यह ग्वालियर के उत्तर-पूर्व और दतिया-टीकमगढ़ की ओर बोली जाती है।

(२) **राठौरी (लोधाँती)**—हमीरपुर का कुछ भाग, जालौन का कुछ भाग, चरखारी तथा उसके आस-पास का पूर्ववर्ती भाग इसका क्षेत्र है।

(३) **खटोली**—सागर, दमोह, अजयगढ़ और पन्ना-छत्तरपुर तक इस घटक का विस्तार है। सुनार और आगे बाघिन नदियों के दोनों ओर के क्षेत्र इस बोली के क्षेत्र हैं।

(४) **भोपाली**—विदिशा, भोपाल।

(५) **नारमदी**—नरमदा-खण्ड में अर्थात् होशङ्गाबाद से सोहागपुर, गाडरवारा, नरसिंहपुर, जबलपुर तक इसका विस्तार है।

सीमान्त क्षेत्रों की मिश्रित बोलियों की दृष्टि से यदि सर्वेक्षण किया जाय तो तिरहारी, कुण्डी, निमट्टा, बनाफरी, मदावरी-तोंवरगढ़ी, गोंड़ी और भोपाली विशेष उल्लेखनीय हैं।

'तिरहारी' का क्षेत्र हमीरपुर जिले के किनारे यमुना का तट है। इसका विस्तार आगे जालौन तक है। केन नदी जो कि बाँदा और हमीरपुर जिलों को अलग-अलग करती है, अपने दोनों ओर के पट्टिका प्रदेश में 'कुण्डी' को विस्तार दिये है। हमीरपुर के 'तिरहारी' बोली के

प्रदेश और जालौन जिले के विशुद्ध बुन्देली-क्षेत्र के मध्य भाग की बोली 'निमट्टा' नाम पाती है। 'बनाफरी' हमीरपुर के दक्षिण-पूर्व और पूर्वी बुन्देलखण्ड के पूर्ववर्ती भाग में बोली जाती है। 'आल्हा' इसी बोली का काव्य है। 'मदावरी' और 'तोंवरगढ़ी' उस भाग की बोलियाँ हैं जहाँ चम्बल नदी ग्वालियर की ओर आगरा-इटावा की सीमा निर्धारित करती है। इन बोलियों का प्रवेश सीमा पार आगरा-इटावे के कुछ भाग तक है। बुन्देली का वह क्षेत्र जो बालाघाट और मण्डला की सीमा को स्पर्श करता है, 'गोंड़ी' मिश्रित बोली का क्षेत्र है। 'भोपाली' मालवी-बुन्देली की मिश्रित बोली है, किन्तु इसमें उर्दू और खड़ीबोली भी मिली हुई है; क्योंकि भोपाल-क्षेत्र ऐसा क्षेत्र है जो एक लम्बे समय तक नवाबी रङ्ग में डूबा रहा है। इन बोलियों में 'बनाफरी' पाञ्चाली-कन्नौजी की, 'मदावरी' और 'तोंवरगढ़ी' ग्वालियरी अथवा ब्रज की तथा 'गौड़ी' छत्तीसगढ़ी की संगामित्ती का विश्वास लिये हैं। नारमदी-बुन्देली अन्य सभी अवान्तर धाराओं की अपेक्षा अधिक सुलझी हुई है। वह अपेक्षाकृत सरल है। शब्दों में विस्तार-सङ्कोच अथवा घिसाव नहीं है। 'खटोली' में 'कहते थे' (खड़ी) के लिए 'कत्ते' (कतते=कहत ते) बोला जायेगा, किन्तु नारमदी-क्षेत्र में 'कहत हते' (थे) ही कहा जायेगा। वहाँ हकार का लोप नहीं होता।

इन बोलियों के और भी प्रादेशिक रूप है और इन अवान्तर बोलियों को अनेकानेक प्रशाखाओं में विभाजित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, नारमदी-बुन्देली में नरसिंहपुरी, सुहागपुरी और जबलपुरी भेद भी हैं। आगे इनके भी उपभेद हैं, जैसे—जबलपुरी-बुन्देली में पचेली, हवेली आदि अलग-अलग प्रकार हैं।

बुन्देली का शब्द-भाण्डार

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि विभिन्न उपभाषाएँ, अपभ्रंश भाषाओं से विकसित हुई हैं। ये अपभ्रंश भाषाएँ पाँच थीं—नागर, शौरसेनी, अर्द्ध मागधी, मागधी और खसी। ये भाषाएँ १००० ई० के आस-पास आज के हिन्दी भाषी क्षेत्र में प्रचलित थीं। नागर अपभ्रंश का क्षेत्र राजस्थान था, अर्द्धमागधी आज के अवधी-बघेली और छत्तीसगढ़ी के क्षेत्र में थी, मागधी का क्षेत्र भोजपुरी, मैथिली और मगही का था, खस अपभ्रंश का क्षेत्र पहाड़ी था और शौरसेनी का क्षेत्र खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली का था।

विभिन्न पाँच अपभ्रंशों से विकसित हो कर भी आज की उपभाषाएँ परस्पर एक-दूसरे के निकट हैं। इसका प्रमुख कारण है विकसित भाषाओं को जन्म देनेवाली अपभ्रंशों में भेद के बीच अभेदकता जो कि विभिन्न क्षेत्रों के पारस्परिक सघन सम्पर्क का परिणाम थी।

सम्पर्क के कारण शब्द चलते फिरते रहते हैं और बोली का भाण्डार भरता रहता है। शब्द-भाण्डार में वृद्धि का कारण नई परिस्थितियों में नये शब्दों का स्वरूप ग्रहण करना भी होता है। किन्तु दूसरी ओर कुछ शब्द समय की गहराई में डूबते भी जाते हैं। फिर भी बुन्देली में अभी तक प्राकृत-पाली और अपभ्रंश के अनेक शब्द ज्यों का त्यों अपना रूप रक्षित रखे हुए हैं। उसमें या तो तद्भव रूप हैं अथवा तद्भवाभास देने वाले शब्दों की संख्या अधिक है। इस बोली का तलस्पर्शी परीक्षण करने पर ज्ञात हो सकेगा कि उसमें वास्तविक अपनापन कितना है।

सर्वेक्षणात्मक दृष्टि तो उसके और अन्यान्य बोलियों के शब्दों में बहुत साम्य पाती है। अवश्य ही बोली बोलने का ढङ्ग अपना-अपना है और वह भी इसलिए कि विभिन्न बोलियों के क्षेत्रों की भौगोलिक परिस्थितियों में कतिपय विषमता है तथा जनमानस के स्तर में विभेद है। इसी कारण जिह्वा-सुविधा के लिए लोगों ने शब्दों को गोल, चिकना और लम्बा कर लिया है। कतिपय कंगूरेदार, खुरदरे शब्द भी हैं जो कि अपनी स्थिति से जिह्वा को एकदम फिसलते जाने पर रोक-टोक लगाते हैं।

हम यहाँ बानगी के रूप में पाली, प्राकृत और अपभ्रंश के कुछ शब्द ले कर देखते हैं कि उनके बुन्देली रूप से उनकी बड़ी भिन्नता नहीं है। यही बात अन्यान्य बोलियों और भाषाओं से आये शब्दों के लिए भी कही जा सकती है।

(१) पालि	बुन्देली	परि० हिन्दी
लट्ठि	लठिया	लाठी
लोण	लोन, नोन	लवण
मच्छो	मच्छी, मछरिया	मछली
तत्त	तत्ता, तातो	तप्त

(२) प्राकृत	बुन्देली	परि० हिन्दी
कल्ल	काल	काल
गव्व	गब	गर्व
कळस	कलस	कलश
काळख	कालख	कालुष्य
बड्डउ	बड़ो	बड़ा
वाडिआ	वारी	वाटिका
सुण्णउ	सूनो	शून्यक
मउड	मौर (मउर)	मुकुट
कवाड	किंवार	कपाट
विहड़	विहर	विघट

(३) अपभ्रंश	बुन्देली	परि० हिन्दी
मसाण	मसान	श्मसान
शुक	सूखो	शुष्क
भित्ति	भीत	भीत
भौजी	भौजी	भाभी
नान	अन्हान, हनान	स्नान

(४) बङ्गला	बुन्देली	परि० हिन्दी
नीक	नीको, नोनो	अच्छा
लूका	लुका	छिपना
घाघरा	घांघरा	लंहगा
सिन्दूक	सिन्दूक	सन्दूक
तमाकू	तमाखू	तम्बाकू
पड़ना	पड़नो (पड़बो)	पढ़ना

(५) मैथिली	बुन्देली	परि० हिन्दी
गागरि	गगरी	गगरी
भतीज	भतीजो	भतीजा
रीन	रिन	ऋण
जेंउड़	जेंउर	रस्सा, रस्सी
कातिक	कातिक	कार्तिक
पूष	पूस	पौष
कतेक	कितेक	कितना
जतेक	जितेक	जितना
कोखि	कूँख	कुक्षि
उमिर	उम्मर	उम्र
आन्हर	आँधरो	अन्धा
निहुड़ि	निहुर	झुक (ना)

(६) मराठी	बुन्देली	परि० हिन्दी
जसी	जैसी	जैसी
तसी	तैसी, वसी, ऊसी	तैसी, वैसी
माणुस	मानुस	मनुष्य
खारट	खारो	खारा
पाणी	पानी	पानी
वेळ	बेर	बेला
काय	काय	क्या
खेंचा-खेंच	खींचा-खींच	खींचा-खींच
सद्य	सद्द	सद्य
पीस	पिसान (कनक)	आटा
बाफ	बाफ	भाप

(७) गुजराती	बुन्देली	परि० हिन्दी
कादव	काँदो	कीच
खाड़ा	खड्डा, खदरा	गड्ढा
पाछल	पीछे	पीछे
हटीलो	हठीलो	हठीला

(८) राजस्थानी	बुन्देली	परि० हिन्दी
मर्ज्जाद	मरजाद	मर्यादा
मुशाण	मसान	श्मसान
कचोल	कचोल्ला	कटोरा
पड़वा	परमा	प्रतिपदा
बळद	बरदा, बैल	बैल
निसरी	निसरी, निकरी	निकली
बाजो	बजो	कहलाया, प्रसिद्ध हुआ
पलाखी	पालकी	पालकी
तड़को	तड़को	प्रातःकाल
रातों	रातो	लाल
कनारी	किनार	किनार
बांडो	बांडो	निपुच्छ

(९) ब्रजभाषा	बुन्देली	परि० हिन्दी
जनि	जिन	मत
लुकबो	लुकबो	छिपना
आघाबो	अघाबो	अघाना
रातो	रातो	लाल
अनुहारि	उन्हार	समता
धौपर	दोपहर, दुफर	दोपहर

(१०) अवधी	बुन्देली	परि० हिन्दी
पियर	पीरो	पीला
सगरी	सबरी	सब
विरछा	विरछ	वृक्ष
बरियानो	बरियानो	हठ पकड़ना
विहरना	विहरनो	वियुक्त होना

अवधी	बुन्देली	परि० हिन्दी
ओरी	उरिया	उरिया
कौड़िया	कौंड़ीला	खञ्जन पक्षी
अन्हियार	अँधियारो	अन्धकार
निहुरि	निहुर	झुक
चौपारी	चौपाल	चतुष्पाल
लुचई	लुचई	पूड़ी
सोहारी	सुहारी	पूड़ी, पूरी
जात्रा	जत्रा	यात्रा
पटोरा	पटोर	विवाह का रेशमी लहँगा
बीरवहूटी	बीरबहूटी	इन्द्रवधूटी
पुरइन	पुरैन	कमल

अनार्य भाषाओं से बुन्देली में आये शब्द

पिल्ला (तामिल से), कोरी (मुण्डा से), डाँगर (सन्थाली से)।

विदेशी भाषाओं से बुन्देली में पहुंचे हुए शब्द

(१) मुसलमानी शासकों की भाषाओं के शब्द

(अ) फ़ारसी	बुन्देली	(ब) अरबी	बुन्देली
आइना	ऐना	उम्दा	उमदा
कबूतर	कबूतर	औलाद	औलाद
गुलूबन्द	बुलूबन्द	तरफ	तरप
पसङ्गा	पसङ्गा	मुश्किल	मुसकल
मलाई	मलाई	लगान	लगान
सरासर	सरासर	हवलदार	हिबलदार

(स) तुर्की	बुन्देली	तुर्की	बुन्देली
उजबक	उजबक	लाश	लास
कुतका	कुतका	लफङ्गा	लफङ्गा
चाकू	चक्कू	चकमक	चकमक
तोप	तोप	तवा	तवा
		रोटी	रोटी

(२) योरोपीय भाषाओं के शब्द

(अ)

अंग्रेज़ी	बुन्देली	अंग्रेजी	बुन्देली
स्टेशन	टेसन	कम्पाउण्डर	कम्पोटर
कलेक्टर	कलट्टर	पालिस	पालस
लार्ड	लाठ	लेन्टर्न	लालटेन
क्विनाइन	कुनैन	रिपोर्ट	रपट
आर्डर	अडर	लैंक्लाथ	लंकलाठ

(ब) **पुर्तगाली से**––सागौन, काजू, गोभी, बाल्टी, पीपा, सन्तरा, बोतल, कनस्तर।

(स) **डच से**––तुरुप।

बुन्देली में प्रयत्न-लाघव अथवा जिह्वा-सुविधा

उपर्युक्त विदेशी शब्दों को अङ्गीकार करने में भाषा-विज्ञान के विकास-सिद्धान्त के अनुसार बुन्देली प्रयत्न-लाघव की विधियों को मान्यता देकर चलती है।

प्रयत्न-लाघव के अन्यान्य कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:––

(१) **स, र, ल** की ध्वनि वाले पद में दो ध्वनियाँ परस्पर विनिमय कर लेती हैं, **जैसे**––

पुलटिस से पुलसट, मतलब से मतबल, लखनऊ से लखलऊ।

(२) कभी-कभी पद के बीच के अक्षर अथवा अक्षरों का लोप हो जाता है और बोलने वाला एकदम सरपट चाल पकड़ लेता है, **जैसे**––

मास्टर साहब>माट साब>मास्साब

(३) दो विभिन्न ध्वनियाँ पास-पास आने से द्रुतता और प्रयत्न-लाघव में सम हो जाती हैं, **जैसे**––

मार डारो रे	>	**माड्डारो** रे
आम तनक चीख कें देखो	>	आम तनक **चीक्कें** देखो
सब कछू चोर लै गओ	>	सब कछू **चोल्लै** गओ
पानी भर लओ	>	पानी **भल्लओ**

(४) माधुर्य के लिए शब्दों में प्रयत्न-लाघव के क्रम में पद-विस्तार हो जाता है, **जैसे**––

बाँह	बँहियाँ	ननद	ननदिया
मुरली	मुरलिया	बाँसुरी	बँसुरिया
गागर	गगरिया		

(५) माधुर्य के साथ स्पष्टतः छोटेपन का अर्थ देने के लिए भी कुछ पदों में विस्तार हो जाता है, जसे––

दाँत	दँतुलिया	कठला	कठुलिया
हाँत	हँतुलिया	खाट	खटुलिया

(६) व्यक्तिवाचक संज्ञा में, विशेषतः उनमें जो कि बहुवर्ण होती हैं, निकट व्यवहार के क्षेत्र में सङ्कोचन की प्रक्रिया देखी जाती है, जैसे—

हजारी	हज्जी	राजेन्द्र	राजेन
लालसिंह	लल्लू	नरबदाप्रसाद	नब्बू
पूर्णिमा	पुन्नी	अवधेशप्रताप	अवधू
सरस्वती	सुत्ती	चन्द्रकुमारी	चन्दा

प्रचलित समान शब्दों में अर्थ-वैभिन्य

बुन्देली का अध्ययन (अथवा अन्य उपभाषाओं का अध्ययन) करने में इस बात की आवश्यकता है कि हम क्षेत्र-विशेष के प्रचलित अर्थ को ठीक-ठीक रूप में ग्रहण करें। अनेक शब्द अपने बाह्यरूप में विभिन्न बोलियों में समान रूप से पाये जाते हैं, परन्तु प्रचलित अर्थ में जमीन-आसमान का अन्तर पाया जाता है। किसी बोली-विशेष में शब्द-विशेष का यदि कोई विशेष अर्थ रहा है तो यह आवश्यक नहीं है कि आज भी उसका वही अर्थ हो। विकास-क्रम अथवा घिसापिसी में अर्थ कहीं का कहीं पहुँच जाता है, अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। 'ऋग्वेद' में 'राम' शब्द आया है किन्तु उसमें 'राम' का अर्थ 'रात' है। 'रम' धातु का अर्थ आराम करना है। रात को सभी प्राणी सोते हैं, आराम करते हैं; इस कारण 'रात' का पर्याय 'राम' है। इसी अर्थ में इसका स्त्रीलिङ्ग रूप 'रामी' भी मिलता है। रात काली होती है और दिन की तुलना में चाँदनी रात भी श्याम लगती है, सम्भवतः इसलिए विष्णु, राम और कृष्ण का रङ्ग काला माना गया है और 'श्याम' नाम इसी वैदिक प्रयोग का फल हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।[१३] यही बात देश के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित एक और उसी शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उदाहरणार्थ, ब्रजभाषा में 'अँचैना' का उपयोग 'पी जाना' के अर्थ में होता है। किन्तु बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड में 'अँचैना' का अर्थ भोजन करने के उपरान्त मुँह-हाथ धोना होता है। इसी प्रकार 'खिस्यानो' और 'अकरी' के अर्थ ब्रजभाषा में क्रमशः 'लजाया' और 'मँहगी' होता है, परन्तु बुन्देली में उन्हीं का अर्थ क्रमशः 'नाराज' और 'ऐसी वस्तु जो स्वाद में कड़ुवापन तथा ऐंठायलापन लिये हो' होता है। इसी प्रकार 'सुधर' शब्द ब्रज में 'चतुर' का अर्थ देता है, किन्तु अवधी और बुन्देली में 'सुन्दर' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'हेरना' का अर्थ बुन्देली में 'देखना' और 'खोजना' दोनों होता है, किन्तु पूरब में इसका प्रयोग केवल 'खोजने' के अर्थ में होता है। 'जुहार' अर्थ ब्रजभाषा में सहायता के लिये चिल्लाना होता है, किन्तु बुन्देलखण्ड में यह शब्द 'अभिवादन' के लिये प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार के अर्थ-भेद वाले शब्दों की यदि सूची तैयार की जाये तो यह तथ्य ठीक समझ में आयेगा कि समानता किस प्रकार विभिन्नता को लेकर चलती है। बुन्देलखण्ड में 'नीला' या 'लीला' एक ही रङ्ग है, परन्तु गुजराती में इसका अर्थ 'हरा' है। बुन्देली में 'कक्का' का प्रयोग 'चाचा' के लिए होता है, परन्तु पञ्जाबी में इसका अर्थ 'पुत्र' है।

शब्दों के उलटे अर्थ का झमेला

कभी-कभी एक ही शब्द दूर की बोलियों में और दूर की ही क्यों, समीप की बोलियों में भी उल्टा अर्थ देने लगता है, उदाहरणार्थ—'राग' का अर्थ मराठी में 'गुस्सा' अथवा क्रोध होता है जो हिन्दी अर्थ के विपरीत है। यह बुन्देली में 'रङ्ग' के साथ मिलकर युग्म भी बनाता है और प्रेम तथा आनन्द का अर्थ देता है, जैसे—

भूल गये 'राग-रङ्ग,' भूल गई चकरी,
तोन चीज रहीं सुरत, नोन तेल लकरी।

यहाँ 'राग-रङ्ग' आनन्द-वैभव का सूचक है।

'बढ़ाना' खड़ी बोली में 'घटाना' का विरुद्धार्थी है। यह अर्थ ब्रज और बुन्देली में भी लिया जाता है, परन्तु इन दोनों बोलियों में 'बढ़ाना' का अर्थ 'घटाना' या 'कम करना' भी है। ऐसी स्थिति में प्रसङ्ग पर वास्तविक अर्थ निकालना बोली से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिये कठिन हो जाता है। मध्ययुगीन अनेक कवियों ने ऐसे शब्दों को चुनकर चमत्कार दिखाने का प्रयत्न किया है। बिहारी का एक दोहा है—

अङ्ग-अङ्ग नग जगमगै, दीप सिखा सी देह।
दिया 'बढ़ायें' हूँ रहै, बड़ौ उजारो गेह॥

यहाँ 'दिया बढ़ाने' का अर्थ 'दिया कम करना' अथवा 'बुझाना' है, किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी वाले विद्यार्थी इस 'बढ़ाने' का वास्तविक अर्थ एकाएक नहीं ले पाते। जब अपने अर्थ में अनर्थ सा पाते हैं, तब इधर-उधर टटोलकर ठिकाने लगाते हैं।

अशुभसूचक और अश्लील प्रयोग से बचने की प्रवृत्ति

अमङ्गलकारी, अशुभसूचक तथा अश्लील बातों को बचाकर कहने का ढङ्ग लोक-जीवन में सर्वत्र पाया जाता है। यदि बचाव करके बात न कही जाय तो बोलने वाला अशिष्ट समझा जाता है। अतः अमङ्गलसूचक और अश्लील शब्दों के लिये दूसरे-दूसरे शब्द चुन लिए गए हैं। उनका इतना प्रचार है कि उनके माध्यम से सत्यता तक लोग सहज ही पहुँच जाते हैं। कतिपय बुन्देली शब्द इस सन्दर्भ में यहाँ प्रस्तुत हैं—

लाश	के लिए	मिट्टी
साँप	,,	करिया, कीरा
वैधव्य	,,	रीते हाथ, सूनें हाँत,
मृतक की हड्डियाँ	,,	फूल
अन्धा	,,	सूरदास
चमार	,,	जमादार
भूत-प्रेत लगना	,,	बाहरी-भीतरी, अलाय-बलाय

स्तन (स्त्री के)	के लिए	आँचर
स्त्री-चिह्न अथवा उपस्थ	,,	देह
पुरुष-चिह्न	,,	पहिरन
भयावना अथवा दंशक	,,	जू-जू
गर्भवती	,,	पाँव गरए (भारी)

बुन्देली शब्दों में एशियाई विदेशीयता

बुन्देली में फ़ारसी-उर्दू का विचित्र मेल देखने को मिलता है। 'विहीनता' अथवा 'रहित' का अर्थ देने के लिए 'बे' किस प्रकार कुछ शब्दों के आगे आकर जम जाता है, इसे देखें।

बे+सुध	=	बेसुध	बे+मेल	=	बेमेल
बे+ढङ्गा	=	बेढङ्गा	बे+घर	=	बेघर
बे+भाव	=	बेभाव	बे+दीन	=	बेदीन
बे+मोल	=	बेमोल	बे+कार	=	बेकार

केवल यही नहीं, कहीं-कहीं 'निः' का भी अग्रागम देखा जाता है। यह 'निः' देशी शब्दों के साथ तो लगता ही है, विदेशी शब्दों के साथ भी खूब चलता है। कहीं तो वह अर्थ देता है और कहीं अपनी व्यर्थता प्रकट करता है, उदाहरणार्थः--निः+फिकर=निस्फिकर (निश्चिन्त के अर्थ में), कुछ लोग 'निस्फिकरी' भी कह डालते हैं। यहाँ 'निस्फिकर' का तो कुछ अर्थ निकला, परन्तु जब 'निखालिस' कहते हैं, तब 'निः' क्या 'खालिस' के साथ लगकर उल्टा अर्थ देता है? नहीं, विचित्रता यह है कि जो 'खालिस' का अर्थ होता है, वही 'निखालिस' का भी। ऐसा ही 'बे' भी अनेक शब्दों से संयुक्त होकर अपनी कोई सार्थकता नहीं सिद्ध करता। अर्थ वही लिया जाता है जो बिना 'बे' के होता है, जैसे--

वाहिआद	=	बेवाहिआद
फिजूल	=	बेफिजूल (या बेफजूल)
फालतू	=	बेफालतू
ऊत या ऊद	=	बेऊत या बेऊद (बेहूदा)

अन्यान्य शब्दों को छोड़कर 'ऊद' (या ऊत) शब्द के सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि ऊद (या ऊत) का अर्थ 'धूर्त' या 'गँवार' होता है, न कि 'पूत' या 'पुत्र' जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। वेशभूषा और अपनी रहन-सहन में जो स्त्री गँवार सी दीखती है, उसके लिए बुन्देलखण्ड की अन्य स्त्रियों को आप बहुधा कहते सुन लीजिए. . . . "की बहू निचट ऊद है, तनकउ सऊर नइयाँ।" 'बेऊदा' का भी वस्तुतः वही अर्थ लिया जाता है।

इसी प्रकार कुछ बुन्देली शब्द 'वाला' का अर्थ देने के लिए 'दार' तद्धित प्रत्यय लिया करते हैं, जैसे--

रसेदार	--	रसेदार तरकारी
पानीदार	--	पानीदार व्यक्ति, या मोती
सवाददार	--	सवाददार (स्वाददार) चटनी
डाटदार	--	डाटदार सिसी
किनारदार	--	किनारदार धुतिया
बोंड़ादार	--	बोंड़ादार तुपक
उमेंठदार	--	उमेंठदार चरा

सधे हुए अशिष्ट प्रयोग

बुद्धि की स्थिरता में बात सम्भालकर कही जा सकती है, पर कुछ प्रसङ्ग ऐसे आते ही हैं जहाँ आवेश में मुँह से कुछ का कुछ निकल जाता है। इनका उपयोग अधिकांशतः स्त्रियों द्वारा होता है। नीचे इस प्रकार के कतिपय बुन्देली शब्द दिये जा रहे हैं:--

दईमारी--'दई' का अर्थ ईश्वर अथवा भगवान होता है। आशय यह है कि जिसे ईश्वर की कृपा न प्राप्त हुई हो--अभागी या अभागिन। इस शब्द का प्रयोग ब्रजभाषा में भी होता है। रीतिमुक्त कवि घनानन्द ने इसका उपयोग अपने विप्रलम्भ काव्य में अनेक स्थलों पर किया है।

दारी--इस शब्द का उपयोग ब्रजलोक में स्त्रियों द्वारा होता है। बुन्देलखण्ड में भी इस अपशब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ 'वेश्या' होता है। श्री किशोरीदास बाजपेयी लिखते हैं--"हिन्दी कोशकारों ने 'दारी' की व्युत्पत्ति 'दासी' से कर दी है। 'दारी' से 'दासी' कैसे बन गया? अजीब बात है। कभी दासी या बाँदी कहकर कोई उस तरह गाली तो नहीं देता, जैसे दारी कहकर। मुझे भी पता न था, परन्तु स्वामी हरिदास की बानी पढ़ते-पढ़ते इस शब्द का अर्थ खुल गया। स्वामी हरिदास भगवान की अनन्य भक्ति का वर्णन करते हुए विविध देवी देवताओं की उपासना की निन्दा करते हैं और कहते हैं कि ऐसा उपासक निन्दित है--'ज्यों दारन में दारी।' दारा का रूप (बहुवचन) दारन है। जैसे सद्गृहस्थ स्त्रियों के बीच दारी, उसी तरह भगवान के अनन्य भक्तों में वह अनेक देवी-देवताओं का उपासक! स्पष्ट ही दारी शब्द का अर्थ 'वेश्या', 'पुंश्चली' है।"[१४]

मराठी में 'जारी' शब्द प्रचलित है। इसका अर्थ 'व्यभिचारिणी स्त्री' अथवा ऐसी स्त्री होता है जिसका उप-पति भी हो। बुन्देली का 'दारी' मराठी के 'जारी' से भिन्न नहीं है। मराठी में 'जारी' का पुल्लिङ्ग रूप 'जार' भी प्रचलित है। बुन्देली में वही 'दार' हो गया है। इसी 'दार' का बहुबचन हुआ 'दारन'--'ज्यों दारन में दारी।'

उढ़री--उढ़री वही है जिसे नायिका भेद में 'ऊढ़ा' कहा जाता है। बाबू गुलाब राय ने इसका परिचय इस प्रकार दिया है--

ब्याही औरे पुरुष सों, औरन सों रसलीन।
ऊढ़ा तासों कहत हैं, कवि पण्डित परवीन।।[१५]

खड़ीबोली का बढ़ता हुआ प्रभाव

यहाँ इतना कहना विषयान्तर न होगा कि सभी देशों में भाषा सम्बन्धी प्रचार में स्त्रियों का अत्यधिक योग रहता है। हमारे देश में आवागमन के मार्गों आदि की सुविधा जब से और जिस ढङ्ग से बढ़ी है, उसी ढङ्ग से लोगों के सामाजिक सम्बन्ध भी दूर-दूर तक होने लगे हैं, अन्यथा पहले राजाओं-महाराजाओं और श्रीमन्तों को छोड़कर सर्वसाधारण कहीं दूर अपने पुत्र-पुत्रियों के विवाह आदि का साहस नहीं करते थे। आज प्रसन्नतापूर्वक बुन्देलखण्ड की बेटियों का विवाह दिल्ली, आगरा, प्रतापगढ़, नजीबाबाद, लखनऊ, अवध, पटना, गया आदि में और इन नगरों से लगे हुए ग्रामों में तथा उन नगरों-ग्रामों की बेटियों का विवाह बुन्देलखण्ड में किया जाने लगा है। बहुत नीचे की सीढ़ी के जो लोग हैं, वे लोग अवश्य ही अभी भी दूर-दूर तक अपना सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके हैं। इतना ही नहीं, यह स्पष्ट करना और आवश्यक है कि उत्तर प्रदेश के उन भागों से, जहाँ घर के भीतर की भाषा खड़ीबोली है, बुन्देलखण्ड के प्रगतिशील साक्षर जन पुत्र-वधुओं को प्राप्त करना अपने लिये प्रतिष्ठापरक मानते हैं।

मुग़लकालीन सभ्यता से प्रभावित भागों की कन्याएँ इस भाग में पहुँचकर अपनी बोली बदलने का प्रयत्न नहीं करतीं और उनकी कोई आलोचना भी नहीं होती; क्योंकि उन्हीं की बोली तो आज की राष्ट्रभाषा है। इसलिये उनकी बोली मान्यता पाती है। फिर भी, कुछ न कुछ प्रभाव तो उन पर पड़ता ही है और उनका भी प्रभाव यहाँ के घरों की कन्याओं और बालकों पर पड़ता है। तब घर में 'ई पलका खों उठा कें उतें धर दइयो' के बदले 'इस पलका खों उठा कें उधड़ रक्ख दो' कहा जाता है। एक बात और देखने में आयी है कि सड़कों और रेलवे लाइनों से दूरस्थ स्थानों में भी परिनिष्ठित हिन्दी की ध्वनियों को लोग पकड़ रहे हैं। 'सैकड़ा' के लिये 'शैकड़ा', 'बाँस' के लिये 'बाँश' बोलते हुए ग्रामीण, गौरव का अनुभव करते हैं। आप सुन सकते हैं—'जा शड़क (सड़क) इस तरप में घूम के शलैया (सलैया) गाँव खों जाउत हैं, कक्का से कै (कह) दइयों कै दश शैकड़ा बांश पौंचा देवें।' उल्लेखनीय है कि इस प्रकार 'श' का (स के बदले) उच्चारण किसी प्रकार के स्वर-यन्त्र दोष पर आधारित नहीं। कब 'स' कहना है और कब 'श' कहना है, इसका भी नई रोशनी की ललक रखनेवाले ग्रामीणों के पास कोई नियम नहीं है; सब ऐच्छिक हैं। परन्तु आश्चर्य है कि 'श' खड़ी बोली का किस तरह प्रतिनिधित्व कर रहा है?

बुन्देलखण्ड के जिन ग्रामों में खड़ीबोली का प्रकाश अभी भी समुचित रूप से नहीं पहुँच पाया है, वहाँ बुन्देली ही बोली जाती है। आपसी पत्र भी उसी बोली में लिखे जाते हैं—'श्री श्री १०८ श्री तीरथ सरूप...ज सकल गुन निधान जोग लिखी मौजा रनेय सें ठाकुर... ने...।"

ठेठ बुन्देली पास-पड़ोस के प्रदेशों की बोलियों द्वारा भावित बुन्देली से भिन्न हो जाती है और उसे समझने में किञ्चित् कठिनाई भी होती है। उदाहरणार्थ 'ह' कार का लोप, शब्द के समुचित स्वरूप को सामने नहीं लाता और इसके कारण अन्यान्य बोलियों के क्षेत्रवालों को अर्थ-बोध में बाधा पड़ती है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार : मानव शास्त्र, पृष्ठ २४२ (२) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठ ५१७ (३) वही, पृष्ठ ५१७ (४) श्री बालगोविन्द मिश्र : हिन्दी भाषा और नागरी लिपि का विकास (५) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, (सम्पा० राजबली पाण्डे) पृष्ठ १० (६) वही, पृष्ठ ३१ (७) वही, पृष्ठ ११ (८) श्री किशोरीदास बाजपेयी : ब्रजभाषा का व्याकरण, पृष्ठ ७४ (९) प्रो० रामाज्ञा द्विवेदी ने अक्टूबर, १९४१ की माधुरी में अवधी तथा मैथिली के साम्य पर प्रकाश डाला है। उन्हीं के प्रकाश में हमने यहाँ बुन्देली को भी परखने का प्रयत्न किया है। (१०) श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : बिहारी, पृष्ठ ९५ (११) श्री देवेन्द्र कुमार जैन: हिन्दी में शोध कार्य, सम्मेलन पत्रिका, चैत्र-ज्येष्ठ, शक सं० १८८३ (१२) डॉ० भगवानदास गुप्त की पुस्तक 'महाराजा छत्रसाल बुन्देला,' पृष्ठ १५० से उद्धृत (१३) डॉ० हेमचन्द्र जोशी का 'हरि अनंत हरिकथा अनंता', शीर्षक लेख, प्राची, दीपावली विशेषाङ्क, १९५४ (१४) श्री किशोरीदास बाजपेयी : हिन्दी शब्दानुशासन, पृष्ठ ५३५, (१५) बाबू गुलाबराय : नवरस, पृष्ठ ११६

•

पूर्वी हिन्दी और उसकी प्रमुख उपभाषाएँ

• अम्बाप्रसाद 'सुमन'

दशरूपक (२।६०) की टीका[१] में प्राकृत का विकास संस्कृत भाषा से माना गया है। कतिपय वैयाकरणों ने भी प्राकृत का मूल, संस्कृत भाषा को माना है। साहित्य के रूप में आज हमें जो प्राकृत भाषाएँ मिलती हैं, वे वास्तव में कृत्रिम हैं और काव्य के लिए गढ़ी हुई भाषाएँ हैं। उनकी वाक्य-रचना-पद्धति तथा शब्द-योजना से ऐसा प्रतीत होता है कि कवियों के स्मृति-पथ में ग्रन्थ-रचना के समय बहुत कुछ संस्कृत वाक्य थे और उनका कृत्रिम अनुवाद वे प्राकृत-काव्यों अथवा गद्य-कृतियों में प्रस्तुत किया करते थे। प्राकृत के स्वाभाविक स्वरूप की रक्षा उन कवियों के काव्यों में नहीं हुई है। अपने काव्यों में स्थान देने से पहले उन्होंने प्राकृत को पर्याप्तरूपेण तोड़ा-मरोड़ा है तथा बहुत कुछ परिवर्तन किया है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राकृत भाषाएँ अवश्य ही जनता द्वारा व्यवहृत भाषाओं अर्थात् बोलियों के आधार पर बनी थीं[२] और राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के प्रभाव से कवियों की लेखनी का बल पाकर साहित्यिक भाषाएँ बन गयीं। इन प्राकृतों का मूल संस्कृत को समझना ठीक नहीं है, क्योंकि इनका सम्बन्ध और साम्य वैदिक शब्दों तथा वैदिक व्याकरण से दिखायी पड़ता है जो मूलतः जन-जीवन के प्रचलित शब्द थे। हमारी हिन्दी भाषा में भी बहुत से शब्द प्राकृतों तथा देशी अपभ्रंशों के माध्यम से वैदिक बोलियों से ही आये हैं। हिन्दी के **'जून'** और **'रूख'** ऐसे ही शब्द हैं। वैदिक बोलियाँ हमारी आदि जनबोलियाँ कहलाने की अधिकारिणी हैं, जिनसे विकसित हुई आज पूर्वी हिन्दी आदि की बोलियाँ हैं। वैदिककालीन भाषाएँ भी मूलतः प्राकृत ही थीं। जैन आचार्यों ने कहा भी है--**"प्राक् कृतम् प्राकृतम्"**।

वैदिक **जूर्ण**--अप० **जुण्ण**--हि० **जून**। वैदिक **रुक्ष**--शौरसेनी प्राकृत **रुक्ख**--हि० **रूख**। इन उदाहरणों को देखते हुए श्री सेनार और श्री पिशल का यह मत ठीक ही प्रतीत होता है कि प्राकृतभाषाओं के शब्द प्रायः आदिकाल में बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं।[३]

वैदिक संज्ञा शब्द ही नहीं, अपितु क्रियापद और सर्वनाम भी विकसित होकर प्राकृत भाषाओं में आये हैं। उदाहरण के लिये--वैदिक **बोधि**--प्रा० **होहि** (आज्ञावाचक)। वैदिक **कृणोति**--प्रा० **कुणइ**। वैदिक **अस्मे**--प्रा० **अम्हे**--हि० **हम**।[४]

वैदिक विभक्तियाँ भी प्राकृत भाषाओं में विकसित होकर आई हैं, जैसे वैदिक **स्मि, म्मि**--प्रा० **म्हि, म्मि**--हि० **में**[१] (प्रा० **मज्झम्मि**--माँहि, में)। वैदिक **एभिः**--प्रा० **एहिं** (तृतीया का बहुवचन)। कुछ भाषाशास्त्रियों के मतानुसार संस्कृत अर्थात् लौकिक संस्कृत से भी विभक्तियाँ विकसित होकर हिन्दी में आई हैं; जैसे--सं० **घोटकानाम्**--हि० **घोड़ों** (यह परसर्ग सहित बहुवचनीय रूप है)।

अतः स्पष्ट है कि प्राकृतों का सम्बन्ध वैदिक बोलियों से है। वैदिक बोलियाँ वस्तुतः तत्कालीन जनता की स्वाभाविक वाणी की पदावलियाँ थीं। श्री आर० पिशल और श्री सेनार के मतों के आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि "प्राकृत भाषाओं की जड़, जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई है। इनके प्रमुख तत्त्व आदि काल में बोली जाने वाली तथा जीती जागती भाषा से लिये गये हैं। किन्तु बोलचाल की वे भाषाएँ जो बाद में साहित्यिक भाषाओं के पद पर आसीन हुई, संस्कृत की भाँति ही पर्याप्त रूप में ठोकी-पीटी गईं, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाये।" रुद्रट कृत 'काव्यालङ्कार' (२।१२) की टीका करते हुए नमिसाधु ने भी लिखा है कि प्राकृत भाषा की आधारभूत भाषा वह है जो प्राकृतिक है अर्थात् जो सब प्राणियों की बोलचाल की भाषा है तथा जिसे व्याकरण आदि के नियम नियन्त्रित नहीं करते। चूँकि वह प्राकृत जन की बोली है, इसलिए उसे प्राकृत भाषा कहते हैं। इसका यह अर्थ भी हो सकता कि है यह प्राकृत शब्दों से बनी हो। तात्पर्य यह कि प्राकृत भाषा वह भाषा है जो बहुत पुराने समय से चली आ रही हो। नमिसाधु के मतानुसार संस्कृत की आधारभूत भाषा भी प्राकृत है और संस्कृत शब्द के अर्थ से भी ऐसा ही प्रतीत होता है, क्योंकि कोई वस्तु पहले अवश्य थी जिसका कि संस्कार किया गया।

भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' (१७।४८) में मागधी, आवन्ती, शौरसेनी, प्राच्या, वाह्लीका, और दाक्षिणात्या के साथ अर्धमागधी को भी सात भाषाओं के भीतर एक भाषा माना गया है।

अर्द्धमागधी का स्वरूप क्या था, इसे समझने के लिए महाराष्ट्री और मागधी के शब्द-स्वरूप से परिचय प्राप्त करना परमावश्यक है। 'महाराष्ट्र प्राकृत' को ही वैयाकरण 'महाराष्ट्री' कहते हैं। एक महाराष्ट्र अपभ्रंश भाषा भी थी, जिसकी परम्परा में आगे चल कर 'मराठी' उत्पन्न हुई। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि मराठी की पूर्वजा महाराष्ट्री अपभ्रंश एक प्रादेशिक भाषा थी और महाराष्ट्री (महाराष्ट्र प्राकृत) एक राष्ट्रीय भाषा। अर्थात् महाराष्ट्री सारे भारत राष्ट्र में कवियों द्वारा काम में लायी जाती थी। कोई लेखक या कवि चाहे वह पञ्चनद अथवा काश्मीर का निवासी हो अथवा दक्षिण भारत का रहने वाला हो, किन्तु गाथा रचनाओं में वह महाराष्ट्री का ही प्रयोग करता था। महाराष्ट्री से तात्पर्य है महाराष्ट्र अर्थात् सम्पूर्ण भारत राष्ट्र की भाषा।[६] विद्वानों ने महाराष्ट्री और शौरसेनी को एक ही प्राकृत की दो शैलियाँ भी माना है।

एक भाषा मागध-अपभ्रंश भी थी जो शनैः शनैः वर्तमान बिहार प्रान्त और पश्चिमी बङ्गाल की भाषा बन गई। इसके अतिरिक्त एक भाषा मागध-प्राकृत भी थी जिसे वैयाकरण मागधी कहते हैं। पाली मूलतः मध्यदेश की शौरसेनी से विकसित हुई थी। किन्तु इसमें मागधी के तत्त्व भी मिल गये। भगवान बुद्ध की मूल भाषा मागधी ही थी।

शौरसेनी अपभ्रंश, शूरसेन-प्रदेश की जनता की बोली थी। आजकल इसकी परम्परा में गुजराती, मारवाड़ी और ब्रजभाषा नाम की भाषाएँ हैं। शौरसेनी प्राकृत नाम की एक कृत्रिम भाषा भी थी जो नाटकों के गद्य में विशेष रूप से व्यवहृत होती थी। इसकी सम्पूर्ण रूपरेखा संस्कृत से मिलती है। आचार्य हेमचन्द्र विरचित अपभ्रंश-व्याकरण के सूत्र 'शौरसेनीवत्' (४।४४६) के उदाहरण की जनबोली अपभ्रंश में लिखा गया है--"**कण्ठि पालम्बु किदु**" (गले में पहनी जानेवाली माला बना लिया)। इसका संस्कृत रूपान्तर होगा--"**कण्ठे प्रालम्बं कृतम्।**" शौरसेनी प्राकृत में इसका रूप होगा--"**कण्ठे पालम्बं किदम्।**" इसका महाराष्ट्री रूप होगा--"**कण्ठे पालम्बं कअम्।**" वास्तव में शौरसेनी प्राकृत में स्वर मध्यगत 'द', 'ध' लुप्त नहीं होते, किन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में लुप्त हो जाते हैं, जैसे सं० **आगतः**--शौर० **आगदो**, महा० **आगओ**। सं० **अथ**--शौर० **अध**, महा० **अह**। सं० **पठति**--शौर० **पढदि**, महा० **पढइ**।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि शौर० प्रा० का '**द**' महाराष्ट्री के '**अ**' में बदल जाता है, **जैसे**--शौर० प्रा० **किदम्** महाराष्ट्री **कअम्**। शौरसेनी प्राकृत के वर्गीय अल्पप्राणघोष के स्थान पर महाराष्ट्री प्रा० में केवल स्वर रह जाता है और महाप्राणघोष के स्थान पर '**ह्**' रह जाता है।

मागधी की एक प्रबल पहचान यह है कि '**र**' का '**ल**' हो जाता है और '**स**' का '**श**'। चण्ड (३।३९) ने लिखा भी है--'**मागधिकायां रसयोर् लशौ।**' उदा० सं० **प्रसीद**--माग० **पशीद**। सं० **रुधिरप्रिय**--माग० **लुहिलप्पिए**। सं० **सः**--माग० **से**। सं० **कोष्ठागारम्**--माग० **कोट्टागाले**। बङ्गला का '**से**' (=वह) सर्वनाम मागधी प्राकृत से ही आया है।

अर्धमागधी में संस्कृत का '**र**' और '**स**' अपनी अक्षुण्ण अवस्था में रहते हैं अर्थात् इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। किन्तु संस्कृत के तालव्य '**श्**' और मूर्द्धन्य '**ष्**' का परिवर्तन अर्धमागधी में दन्त्य '**स्**' में हो जाता है, जैसे सं० **उष्ण**--अर्धमागधी **उसिण**। सं० **कोष्ण**--मागधी **कोशिण**। सं० **शृगाल**--मागधी **शिआल**, अर्ध० माग० **सियाल**, महा० **सियाल**।

हिन्दी भाषा की बोलियों में से अवधी, ब्रज और खड़ीबोली अधिक प्रसिद्ध हैं। अवधी में **सिआर**, ब्रज० में **स्यार** और खड़ीबोली में भी **स्यार** होता है। सं० **अग्रतस्**, माग० **अग्गदो**, अर्धमाग० **अग्गओ**। ऐसा भी प्रतीत होता है कि अर्धमागधी पर '**य**' श्रुतिवाली विभाषाओं का प्रभाव है। अर्थात् '**य्**' (अनादि 'य्')वास्तव में एक रागतत्त्व है जो पूर्ण ध्वनि नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि अर्धमागधी में महाराष्ट्री और मागधी के समन्वित तत्व पाये जाते हैं। क्रमदीश्वर (५।९८) का यह कथन सत्य ही मालूम पड़ता है कि अर्धमागधी, मागधी और महाराष्ट्री के मेल से बनी है--'**महाराष्ट्री मिश्रार्द्धमागधी**'।

अवधी भाषा अपनी विवृति (सन्धिराहित्य) की प्रवृत्ति के साथ अर्धमागधी[७] की विकसित परम्परा में ही बैठती है। सियार, कुआर, दुआर आदि शब्द अवधी की विवृति (सन्धिराहित्य) के स्पष्ट उदाहरण हैं। डॉ० बाबूराम सक्सेना के अनुसार "पूर्वी हिन्दी का सम्बन्ध जैन अर्धमागधी की अपेक्षा पाली से ही अधिक है, किन्तु वास्तव में पाली, जैन अर्धमागधी से पुरानी भाषा है। इधर जैन अर्धमागधी ग्रन्थों का सम्पादन तो ईसवी-सन् की पाँचवीं शती में हुआ था। इससे हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्राचीन अर्धमागधी

बाद की अर्धमागधी से भिन्न थी और इस प्राचीन अर्धमागधी से ही अवधी की उत्पत्ति हुई।"[८] इस कथन के विपक्ष में डॉ० उदयनारायण तिवारी का मत इस प्रकार है--"पालि तो वस्तुतः साहित्यिक भाषा है और अवधी की उत्पत्ति किसी न किसी बोलचाल की भाषा से हुई होगी। अब प्रश्न यह है कि वह भाषा कौन सी थी? डॉ० सक्सेना के अनुसार वह पुरानी अर्धमागधी होगी। किन्तु इस सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न यह है कि इस पुरानी अर्धमागधी का स्वरूप क्या था? सच बात तो यह है कि बोलचाल की अर्धमागधी अपभ्रंश के नमूनों का आज सर्वथा अभाव है। तब पूर्वी हिन्दी (जिसके अन्तर्गत अवधी भी है) की उत्पत्ति के अनुसन्धान का एक ही साधन है और वह यह है कि इसकी विभिन्न बोलियों की विशेषताओं का अध्ययन कर बोलचाल की अर्धमागधी का आनुमानिक व्याकरण तैयार किया जाये।"

ग्रियर्सन ने पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं में तीन नाम गिनाये हैं--अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अपने शोधग्रन्थ 'इवोल्यूशन आफ़ अवधी' में अवधी की तीन उपभाषाएँ मानी हैं--(१) पश्चिमी अवधी, (२) केन्द्रीय अवधी, (३) पूर्वी अवधी।

खीरी (लखीमपुर), सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव तथा फतेहपुर की अवधी पश्चिमी अवधी के नाम से प्रसिद्ध है; बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की बोली को केन्द्रीय अवधी कहते हैं और गोण्डा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर और मिर्जापुर की बोली पूर्वी अवधी के अन्तर्गत आती है। भाषा सम्बन्धी विशेषताओं की दृष्टि से अवधी और बघेली में नाममात्र का अन्तर है। यद्यपि ग्रियर्सन ने बघेली को अवधी से पृथक् माना है, किन्तु दोनों की मूल प्रकृतियों पर विचार करने पर यही परिणाम निकलता है कि बघेली को अवधी के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। पूर्वी हिन्दी की तीनों उपभाषाओं में रूप-विचार की दृष्टि से कितना साम्य और वैषम्य है, यहाँ यही हमारा विवेच्य विषय है।

(१) अवधी उपभाषा

(क) पश्चिमी अवधी

उन्नाव जिले की बोली के आधार पर एक लोक-कहानी

याक् जने केर् दुइ बेटवा रहैं। वोहि माँ मते छोटक्वा अप्ने बाप् ते कहिसि् कि मोरे बाप् बसुधा का मोर जउन् होत है बखरा सो महि का दै देउ्। तब वो उन्का धन बाँट दीनि्। और् थोरेक् दिनन् के पाछे छोटक्वा लड़क्वा सब् जमा-जथा ले-दे के बहुत् दूर् देस् चला गवा और अपन् धन् कुकरम माँ गँवाई दिहिसि्। और् जब् सब्याँ गँवाइ चुका, उइ देस् माँ झूरा पड़ा और वो कंगाल होइ लाग्। तब् उइ देस् के याक् भले मानुस् से मिलाप् किहिसि्। तब वो उहिका सुअरी चरावै के बरे अप्न् खेत् पठइसि्। और् उहि का यह् लाल्सा रहै कि एन् बुकुला जौन सुअरी खाति रहैं उहि सन् अपा् पेट भरी। वहौ उहि का कोऊ नाहीं दिहिसि्। तब उहि का चेत् आवा कि मोरे बाप् के बहुत् अस् नौकरिहा जन् हैं कि जिन का पेट् भर् रोटी मिलत है, मुदा मैं उपास करत हौं। अब मैं अप्ने बाप् के तीर् जाइके कहिहौं कि मैं गुसइयाँ की और् तुम्हार् चूक् किहे हौ औंर अब् मैं अग् नाहीं हौं कि तोर् पूत् कहाऊँ। महूँ का अप्ने नौकरिहन् माँ गिनु।

उपर्युक्त लोक-कहानी का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

एक आदमी के दो बेटे थे। उनमें से छोटे ने बाप से कहा कि "मेरे बाप, जायदाद का मेरा जो हिस्सा होता है, उसे मुझे दे दो।" तब उसने उन्हें धन बाँट दिया और थोड़े दिनों के बाद छोटा लड़का सब जमा-पूँजी लेकर बहुत दूर देश चला गया और अपना धन कुकर्मों में गँवा दिया। और जब सब गँवा चुका, उस देश में सूखा पड़ा और वह कङ्गाल होने लगा, तब उस देश के एक भले मनुष्य से मेल किया। तब उसने उसे सुअरों चराने के वास्ते अपने खेत में भेज दिया। और उसकी यह इच्छा थी कि वह धान का छिलका जिसे सुअरियाँ खाती थीं, उन्हीं से मैं अपना पेट भरूँ। वह भी उसे किसी ने नहीं दिया। तब उसे चेत आया कि मेरे बाप के ऐसे बहुत से नौकर लोग हैं कि जिन्हें भर पेट रोटी मिलती है, लेकिन मैं उपवास कर रहा हूँ। अब मैं अपने बाप के पास जाकर कहूँगा कि—"मैंने ईश्वर की और तुम्हारी भूल की है और अब मैं ऐसा नहीं हूँ कि तुम्हारा पुत्र कहाऊँ। मुझे भी अपने नौकरों में गिनो।"

(१) पश्चिमी अवधी के संज्ञा-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
जने केर्	आदमी के
बेट्वा	बेटे (बहुवचन)
बाप् ते	पिता से
दिनन् के पाछे	दिनों के पीछे
लड़क्वा	लड़का (एकवचन)
कुकरम माँ	कुकर्म में
झूरा	सूखा
बकुला	छिलका, भूसी
गुसइयाँ की	ईश्वर की
मानुस् से	मनुष्य से
जङ्गल् तन्	जङ्गल को, जङ्गल की ओर
प्याड़न् ते	पेड़ों से (वृक्षों से)
प्याड़न् का	पेड़ों को (वृक्षों को)
कुल्हारि से	कुल्हाड़ी से
बिपति केर् कारन्	विपत्ति के कारण

(२) पश्चिमी अवधी के सर्वनाम-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
वोहि माँ मते	उनमें से
सो	वह
वो	वह, उसने
उहि का	उस को
जौन्	जिसे, जिसको

उहि सन्	उस से
वहौ	वह भी
जिन् का	जिन को, जिन्हें
तो	तेरा
महूँ का	मुझको भी, मुझे भी
जेहि तन्	जिस से
उहि की	उस की
सबहिन्	सब ने
उहि तन्	उससे
आपै।	आप ही
जौन्, तौन्	जो, सो

(३) पश्चिमी अवधी के विशेषण-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
याक् जने केर्	एक जने के
दुइ बेक्वा	दो बेटे
छोट्क्वा	छोटा
मोरे बाप् !	मेरे बाप !
जउन् बखरा	जो हिस्सा
थोरे क् दिनन्	थोड़े दिनों
बह मनई, बह् मेहरिया (एक व०)	वह आदमी, वह स्त्री
बी मनई, बी मेहरिया (बहु ब०)	वे आदमी, वे स्त्रियाँ
उइ देस् के	उस देश के
बड़े-बड़े प्याड़न का	बड़े-बड़े पेड़ों को

(४) पश्चिमी अवधी के अव्यय-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
अब्, जब्, तब्, नाहीं	अब, जब, तब, नहीं
मुदा	लेकिन
अस्	ऐसा

(५) पश्चिमी अवधी के क्रिया-पद

(क) वर्तमान काल

होत है (एकवचन, अन्य पुरुष)	होता है।
दे देउ (बहुवचन, मध्यम पुरुष)	दे दो।
गिनु (एकवचन, मध्यम पुरुष)	गिनो।

(ख) भूत काल

रहैं	(बहुवचन, अन्य पुरुष)	थे।
कहिसि्	(एकवचन, अन्य पुरुष)	कहा।
बाँटदीन्	(एकवचन, अन्यपुरुष)	बाँट दिया।
चला गवा	(एकवचन, अन्य पुरुष)	चला गया।
काटै लाग्	(एकवचन, अन्य पुरुष)	काटने लगा।

(ग) भविष्यत् काल

जाइके कहिहौं	(एकवचन, प्र० पुरुष)	जाकर कहूँगा।
भरी	(एकवचन, अन्य पुरुष)	भरेगा।

(ख) पूर्वी अवधी

तहसील तरबगञ्ज (गोंडा) की बोली के आधार पर एक लोक-कहानी

एक् बेर् जाड़े माँ बउत् जोर् कै बरखा होय लागि। चिरई–चिरंगुल् अप्ने-अप्ने झौंझि माँ लुकाइ् गे। मनइउ आपन् सब काम् छोड़िकै घरे माँ घुसरिगे। मुला एक् बानर् वही बरखा माँ यहर्-वहर् छट्पटात् रहा। ऊ बेचारा एक् पेड़े प चढ़िकै कब्बौं यहर् कब्बौं वहर् कूदत्-फाँनत् रहा। काहै कि बादर् अछनऊ धार् बरसत् रहा। वह का अस् छट्पटात् देखिकै एक् चिरई अप्ने झौंझि से बोलिस् कि हे बानर् राजा! ई तू नीक् नाहीं किहेव, जउ अप्नक् रहैक खातिर कौनौ घर् नाहीं बनायव। यहि क फल् है कि तूँ अब् पानि मँभीजत फिरत हो। हम्मै देखउ कि एक् छोटि चिरई हैं। मुला मेहनति कइकै अपनक् खातिर् झौंझि बनाई लीन है। अतना सुनतै ऊ बानर् जरिगा (सुलुगिगा) औ किच्किचाइकै वहिकै झौंझि नौंचिनाचि कै फेंकि दिहिसि्। यहि स कहा गवा है कि मूरख औ रिसिहा का सीख न देयक् चाही।

उपर्युक्त लोक-कहानी का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

एक बार जाड़ों में बहुत जोर की वर्षा होने लगी। चिड़िया चिड़ङ्गल अपने-अपने घोंसलों में छुप गये। मनुष्य भी अपने सब काम छोड़ कर घरों में घुस गये। लेकिन एक बन्दर उसी वर्षा में इधर-उधर छटपटाता रहा। वह बेचारा एक पेड़ पर चढ़कर कभी इधर, कभी उधर कूदता-फाँदता रहा। क्योंकि बादल मूसलाधार रूप में बरस रहा था। उसको ऐसा छटपटाता हुआ देखकर एक चिड़िया अपने घोंसले से बोली कि––"हे बन्दर राजा! यह तूने अच्छा नहीं किया, जो अपने रहने के लिए कोई घर नहीं बनाया। इसी का फल है कि तू अब पानी में भींगता फिरता है। हमें देखो कि एक छोटी चिड़िया हैं, लेकिन मेहनत करके अपने लिए घोंसला बना लिया है।" इतना सुनते ही वह बन्दर जल गया और किचकिचाकर उसका घोंसला नोच-खसोट के फेंक दिया। इसी से कहा गया है कि मूर्ख और गुस्साबाज को सीख न देनी चाहिए।

तरबगञ्ज की पूर्वी अवधी में सम्पूर्ण कारकीय परसर्गसूचक एक वाक्य

हे गोपाल ! राम् आपन् आँखिन् से देखिसि् कि मोहन् कै बाप् अपन् लरिका का धन् खातिर् घरे से निकारि दिहिनि् है औ ऊ सहर् माँ नौकरी करै लाग् है।

उपर्युक्त वाक्य का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

हे गोपाल ! राम ने अपनी आँखों से देखा है कि मोहन के बाप ने अपने लड़के को धन के लिए घर से निकाल दिया है और वह शहर में नौकरी करने लगा है।

(१) पूर्वी अवधी के संज्ञा-पद	**परिनिष्ठित हिन्दी**
जाड़े माँ	जाड़े में
जोर के बर्खा	जोर की वर्षा
झोंझि मां	घोंसले में
घरे माँ	घर में
पेड़े प,पानि मँ	पेड़ पर, पानी में
रिसिहा काँ	क्रोधी को
बादर्	बादल

(२) पूर्वी अवधी के सर्वनाम-पद	**परिनिष्ठित हिन्दी**
ऊ	वह
बह का	उसको, उसे
ई	यह
तूँ (आदर-सूचक)	तुम (आदर-सूचक)
यहि क	इसी का

(३) पूर्वी अवधी के विशेषण-पद	**परिनिष्ठित हिन्दी**
एक बेर्	एक बार
वही बरखा माँ	उसी वर्षा में
छोटि चिरई	छोटी चिड़िया
ऊ बानर्	वह बन्दर

(४) पूर्वी अवधी के अव्यय-पद	**परिनिष्ठित हिन्दी**
मुला	लेकिन (समुच्चयबोधक)
यहर्-वहर्	इधर-उधर (क्रियाविशेषण)
अत्ना	इतना (परिणामवाचक)
कब्बौं	कभी (क्रियाविशेषण)
औ	और (समुच्चयबोधक)

(५) पूर्वी अवधी के क्रिया-पद

(क) वर्तमानकाल

छोड़ि कै (पूर्वकालिक क्रिया)	छोड़कर
भींजत फिरत हौ	भींगते फिरते हो।
देखउ	देखो।
सीख न देयक् चाही	सीख न देनी चाहिए।

(ख) भूतकाल

होइ लागि	होने लगी।
लुकाइ गे	छिप गये।
कूदत-फाँनत् रहा	कूदता-फाँदता रहा।
बनावय	बनाया।
बनाइ लीन है	बना लिया है।
जरिगा	जल गया।
फेंकि दिहिस्	फेंक दिया।

(६) पूर्वी अवधी (तहसील तरबगञ्ज की बोली) की क्रियाओं के कालगत रूप

(१) वर्तमानकाल

निश्चयार्थ में

हँम् घरे जाइत हैं	मैं घर जाता हूँ (हम घर जाते हैं)।
हँम सब घरे जाइत हैं	हम घर जाते हैं (हम घर जाते हैं)।
तूँ घरे जात हौ	तू घर जाता है (तुम घर जाते हो)।
तूँ सब घरे जात हौ	तुम सब घर जाते हो।
ऊ घरे जात है	वह घर जाता है।
वे घरे जात हैं	वे घर जाते हैं।

अनुमति तथा आज्ञार्थ में

हँम् घरे जाई	मैं घर जाऊँ।
हँम् सब् घरे जाई	हम घर जाएँ।
तूँ घरे जाव	तू घर जा।
तूँ सब घरे जाव	तुम घर जाओ।
ऊ घरे जाय	वह घर जाय।
वे घरे जायँ	वे घर जायँ।

विधि अर्थ में

हमैं घरे जायक् चाही	मुझे घर जाना चाहिए।
हमैं सबका घरे जायक् चाही	हमें घर जाना चाहिए।
तुहैं घरे जायक् चाही	तुझे घर जाना चाहिए।
तुहैं सबका घरे जायक् चाही	तुम्हें घर जाना चाहिए।
उनका (उन्हैं) घरे जायक् चाही	उसे घर जाना चाहिए।
उन्हैं सबका घरे जायक् चाही	उन्हें घर जाना चाहिए।

(ख) भूतकाल (निश्चयार्थ में)

हँम घरे गयन्	मैं घर गया।
हँम् सब घरे गयन्	हम घर गये।
तूँ घरे गयव	तू घर गया।
तूँ सब घरे गयव	तुम घर गये।
ऊ घरे गवा (गा)	वह घर गया।
वै घरे गवे (गे)	वे घर गये।

(ग) भविष्यत्‌काल (निश्चयार्थ में)

हँम् घरे जाब्	मैं घर जाऊँगा।
हँम् सब् घर जाब्	हम सब घर जायेंगे।
तूँ सब घरे जाबौ	तू घर जाएगा।
तूँ सब घरे जाबौ	तुम घर जाओगे।
ऊ घरे जाई	वह घर जाएगा।
वै घरे जइहैं	वे घर जायेंगे।

(ग) केन्द्रीय अवधी

तहसील फतहपुर (जिला बाराबङ्की) की बोली के आधार पर एक लोक-कहानी

याक् दफा जाड़े मँ जोरन् केरि बरखा होति् रहे। एक् बँदरवा पानि मँ भीजत रहै। हुवैं याक् बिरवा के ऊरर् याक् बया के झोंझि रहै। बया बँदरवा क भीजत देखिसि् औ कहिसि् कि तुम् पानि मँ काहे भीजत फिरत हौ? हँमका द्याखुउ कि हँम् याक् छोटि सरीं चिरइया हन् औ अपनी खातिर् याक् झोंझि बनाइ लेहेनि् है। तुम् अत्ते बड़े होइकै अप्नी खातिर् कुछु नाईं करत हौ। अत्ती बात् सुनि कै बँदरवा जरिगा औ बया कि झोंझि क नोंचि के औ तूरि तारि के फेंकि दिहिसि्। कोई ठीक् कहिसि् है कि सीख बहे क दियैक् चही, जी का आछी लागै। बँदरवा क सीख देहैसि् तौ बया कि झोंझि नासि होइगै।

उपर्युक्त लोक कहानी का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

एकबार जाड़े में जोरों की वर्षा हुई। एक बन्दर पानी में भीग रहा था। वहाँ एक पेड़ के ऊपर एक बया का घोंसला था। बया ने बन्दर को भीगता हुआ देखा और कहा कि "तुम पानी में क्यों भीगते फिरते हो ? हमको देखो कि हम एक छोटी सी चिड़िया हैं और अपने वास्ते एक घोंसला बना लिया है। तुम इतने बड़े होकर अपने लिए कुछ नहीं करते हो।" इतनी बात सुनकर बन्दर जल गया और बया के घोंसले को नोंचकर और तोड़-ताड़कर फेंक दिया। किसी ने ठीक कहा है कि सीख उसी को देनी चाहिए, जिसको अच्छी लगे। बन्दर को सीख दी तो बया का घोंसला नष्ट हो गया।

तहसील फतहपुर की बोली में कारक द्योतक एक वाक्य

ए गोपाल! राम आपन् आँखिन् से देखिस् कि मोहन् कै बाप् अप्ने लरिका क धन् की खातिर घर् से निकारि दिहिस् औ ऊ सहर मँ नौकरी करे लाग् है।

परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

हे गोपाल ! राम ने अपनी आँखों से देखा कि मोहन के बाप ने अपने लड़के को धन के वास्ते घर से निकाल दिया है और वह शहर में नौकरी करने लगा है।

(१)	**केन्द्रीय अवधी के संज्ञा-पद**	**परिनिष्ठित हिन्दी**
	जाड़े मँ	जाड़े में
	जोरन् केरि बरखा	जोरों की वर्षा
	पानि मँ	पानी में
	बय कै झोंझि	बया का घोंसला
	बँदरवा क	बन्दर को
	बया कि	बया की
	झोंझि क	घोंसले की
	मोहन् के बाप्	मोहन के बाप ने

(२)	**केन्द्रीय अवधी के सर्वनाम-पद**	**परिनिष्ठित हिन्दी**
	हँम् का	हम को
	कुछ्	कुछ
	कोई	कोई, किसी ने
	बहै क	उसी को
	जी का	जिस को, जिसे
	ऊ	वह

(३) केन्द्रीय अवधी के विशेषण-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
याक् दफा	एक दफ़ा
छोटि सरी चिरइया	छोटी सी चिड़िया
याक् झोंझि	एक घोंसला
अती बात्	इतनी बात

(४) केन्द्रीय अवधी के अव्यय-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
हुवैं	वहाँ (क्रिया विशेषण)
औ	और (समुच्चय बोधक)
कि	कि (समुच्चय बोधक)
तौ	तो (समुच्चय बोधक)

(५) केन्द्रीय अवधी के क्रिया-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
होति रहै	होती थी, हो रही थी। (अपूर्ण क्रिया)
भीजत रहै	भीगता था, भीग रहा था। (अपूर्ण क्रिया)
भीजत देखिस्	भीगता देखा। (क्रियाद्योतक कृदन्त से बनी हुई यौगिक क्रिया),
फिरत हौ	फिरते हो।
द्याखौ	देखो। (आज्ञार्थ भविष्यत्काल)
बनाई लेहेनि् है	बना लिया है।
होइकै	होकर (पूर्वकालिक क्रिया)
जरिगा	जल गया।
कहिसि् है	कहा है।
दियैक् चाही	देना चाहिए।
नासि होइगै	नाश हो गया (नामबोधक संयुक्त क्रिया)
करै लाग है	करने लगा है।

(६) केन्द्रीय अवधी (तहसील फतहपुर की बोली) की क्रियाओं के कालगत रूप

(क) वर्तमानकाल

हँम् घर् (घर् का) जाइत हैं	मैं घर जाता हूँ।
हँम् सब् घर् (घर् का) जाइत हैं	हम घर जाते हैं।
तुम् घर् (घर् का) जात हौ	तू घर जाता है।
तुम् सब् घर् (घर् का) जात हौ	तुम घर जाते हो।
उइ घर् (घर् का) जात है	वह घर जाता है।
उइ सब् घर (घर् का) जात हैं	वे घर जाते हैं।

(ख) भूतकाल

हँम् घर् (घर् का) गइन्	मैं घर गया।
हँम् सब् घर् (घर् का) गइन्	हम घर गये।
तुंम् घर् (घर् का) गयउ	तू घर गया।
तुंम् सब् घर् (घर् का) गयउ	तुम घर गये।
उइ घर् (घर् का) गा	वह घर गया।
उइ सब् घर् (घर् का) गे	वे घर गये।

(ग) भविष्यत्काल

हँम् घर् (घर् का) जाब्	मैं घर् (घर को) जाऊँगा।
हँम् सब् घर् (घर् का) जाब्	हम घर (घर को) जाएँगे।
तुंम् घर् (घर् का) जइहौ	तू घर (घर को) जाएगा।
तुम् सब् घर् (घर् का) जइहौ	तुम घर (घर को) जाओगे।
उइ घर् (घर् का) जइहै	वह घर (घर को) जाएगा।
उइ सब घर् (घर् का) जइहैं	वे घर (घर को) जाएँगे।

विशेष

'लड़का घर जाएगा' के लिए केन्द्रीय अवधी और भोजपुरी के कुछ क्षेत्रों में 'लरिका घर् जाई' भी प्रचलित है। अवधी में 'तू' का प्रयोग नहीं होता। सम्भवतः निरादर सूचक समझ कर यह ग्राह्य नहीं हुआ। इसी प्रकार अवधी, बघेली और भोजपुरी में उत्तमपुरुष सर्वनाम 'हम' ही प्रचलित है, 'मैं' प्रचलित नहीं है; जैसे हम पूछ्तानी अर्थात् हम पूछते हैं या मैं पूछता हूँ।

(२) बघेली 'उपभाषा'

रीवाँ जिले की ठेठ बघेली बोली के आधार पर एक लोक-कहानी

एक् बेर् जाड़े माँ बड़ा चांड़ पानी बर्से लाग्। चिरई अप्ने खौंथइलन् माँ लुकि गईं। मनइउ आपन् आपन् कांम् छाँड़ि कै घरन् माँ घुसिगे। पै एक् ठे बाँदर् ओहिंन् बर्सा माँ ऐंकइत्ओंकइत् छट्पटात् रहा, काहे ठे बाँदर् केरि बड़ी चांड़ झड़ी लगी रही तै। ओखा एहसन् छट्पटात् देखिकै एक् ठे चिरई खौंथइला के भीतर् के कहिसि् ए बांदर् राजा! इआ तूँ नीक नहीं किहे के अप्ने रहै खातिर घर् नहीं बनाये। इहै बात् आय, के अब् तूँ पानी माँ भींजत फिरते हैय। हँम् का देखउ के हँम् एक् ठे छोटिका चिरई आहेंन्। पै मेहनति कैइके अपने खातिर् खौंथइला बनाय लिहनि् हैंन्। एत्ता सुनिके बांदर् जरिगा औ किच्किचाय के ओखर् खौंथइला टोर्-टारिके फेंकि दिहिसि्। ऐंहिन् से कहा गा है के मूरुख् औ गुस्सैल मनई का सीख न दै चाही।

उपर्युक्त लोक-कहानी का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

एक बार जाड़े में बड़ा भारी (प्रचण्ड) पानी बरसने लगा। चिड़ियाँ अपने घोंसलों में छिप गईं। मनुष्य भी अपने-अपने काम छोड़ कर घरों में घुस गये। परन्तु एक बन्दर उसी वर्षा में इधर-उधर छटपटाता रहा, क्योंकि बादल की बड़ी भारी झड़ी लग रही थी। उसे ऐसा छटपटाता हुआ देख कर एक चिड़िया घोंसले के भीतर से बोली—"ऐ बन्दर राजा! यह तुमने अच्छा नहीं किया कि अपने रहने के लिए घर नहीं बनाया। यही बात है कि अब तुम पानी में भीगते फिरते हो। हम को देखो कि हम एक छोटी सी चिड़िया हैं। लेकिन मेहनत कर के अपने लिए घोंसला बना लिया है।" इतना सुन कर बन्दर जल गया और किचकिचा कर उसका घोंसला तोड़-ताड़ कर फेंक दिया। इसी से कहा गया है कि मूर्ख और गुस्सावर आदमी को सीख न देनी चाहिए।

रीवाँ जिले की बोली का कारक-द्योतक एक वाक्य

ए गोपल्! राँम् अपने आँखिन् से देखिसि् ही के मोहन् केर् बाप् अपने बेटवा का धन् के खातिर् घर् सेरे निकारि दिहिसि् ही। औ उआ सहर् माँ चाकरी करै लाग है।

उपर्युक्त वाक्य का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

हे गोपाल! राम ने अपनी आँखों से देखा है कि मोहन के बाप ने अपने बेटे को धन की खातिर घर से निकाल दिया है और वह शहर में नौकरी करने लगा है।

(१) बघेली के संज्ञा-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
जाड़े माँ	जाड़े में
खौंथइलन माँ	घोंसलों में
घरन् माँ	घरों में
बरसा माँ	वर्षा में
चिरई	चिड़िया
मनई का	मनुष्य को
घर सेरे	घर से

(२) बघेली के सर्वनाम-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
ओखा	उसे
इआ	यह
तूँ	तुम
हंम् का	हमको
ओखर् (ओकर्)	उस का

(३) बघेली के विशेषण-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
चांड़ पानी	भारी पानी
अपने खौंथइलन माँ	अपने घोंसलो में
एक्ठे बांदर	एक बन्दर
ओहिंन बरसा माँ	उसी वर्षा में
इहै बात	यही बात
छोटिका चिरई	छोटी सी चिड़िया
गुस्सैइल मनई का	गुस्सावर आदमी को

(४) बघेली के अव्यय-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
पै	लेकिन
ऐकइत्-औं कइत्	इधर-उधर
काहे के	क्योंकि
ऐइसन्	ऐसा
एत्ता	इतना
के	कि

(५) बघेली के क्रिया-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
बर्सै लाग्	बरसने लगा
लुकि गईं	छिप गईं
छोंड़ि के	छोड़कर
घुसि गे	घुस गये
छट्पटात् रहा	छटपटाता रहा
लगी रही तै	लग रही थी
कहिसि्	कहा, बोली
भींजत् फिरते हैय्	भीगते फिरते हो
बनाम लिहेनि् हैं	बना लिया है
कहा गा है	कहा गया है
सिखवै न चाही	सिखाना न चाहिए

(६) बघेली (रीवाँ जिले की बोली) की क्रियाओं के कालगत-रूप

(क) वर्तमानकाल (सामान्य)

हंम् घर जइथैंन (जइत हैंन)	मैं घर जाता हूँ।
हम पँचे घर् जइथैंन् (जइत हैंन)	हम (हम सब) घर जाते हैं।
तैं घर जाते हये	तू घर जाता है।

तूँ घर जाते हैंय	तुम घर जाते हो।
उआ घर् जाथवै (जात हवै)	वह घर जाता है
ऊँ पँचे घर जाथमैं (जात हमैं)	वे घर जाते हैं।

विशेष

आदरसूचक, एकवचन, अन्य पुरुष सर्वनाम 'वे' का रूपान्तर बघेली (रीवाँ ज़िले की बोली) में 'ऊँ' होता है और बहुवचन अन्य पुरुषीय सर्वनाम 'वे' का रूपान्तर 'ऊँ पँचे' होता है।

(ख) अपूर्ण वर्तमानकाल

हँम् घर् जाइ रहेंन् हैं हँम् घर् जइत लाग् हैंन्	मैं घर जा रहा हूँ (हम घर जा रहे हैं)।
हँम पँचे घर् जाइ रहेंन् हैंन् हँम् पँचे घर् जइत लाग हैंन्	हम (हम सब) घर जा रहे हैं।
तैं घर् जाइ रहे हये तैं घर् जाते लाग हये	तू घर जा रहा है।
तूँ घर् जाइ रहे हैय तूँ घर् जाते लाग् हैय	तुम घर जा रहे हो।
उआ घर् जाइ रहा हैय उआ घर् जात् लाथैय (लाग हैय)	वह घर जा रहा है।
ऊँ पँचे घर् जाइ रहे हैं ऊँ पँचे घर् जात लाग हैं	वे घर जा रहे हैं।

(ग) सामान्य भूतकाल

हँम् घर गैंन	मैं घर गया (हम घर गये)।
हँम् पँचे घर् गैंन	हम सब घर गये।
तैं घर गये	तू घर गया।
तूँ घर् गैय	तुम घर गये।
उआ घर् गा	वह घर गया।
ऊँ पँचे घर् गे	वे घर गये।

(घ) सामान्य भविष्यत्काल

हम् घर् जावइ	मैं घर जाऊँगा (हम घर जाएंगे)।
हम् पँचे घर् जावइ	हम सब घर जाएँगे।
तैं घर् जइहे	तू घर जाएगा।
तूँ घर् जइहे	तुम घर जाओगे।

उआ घर् जई — वह घर जाएगा।
ऊँ पँचे घर् जइहीं — वे (वे सब) घर जाएँगे।

(३) छत्तीसगढ़ी उपभाषा

रायपुर (मध्य प्रदेश) ज़िले की छत्तीसगढ़ी बोली पर आधारित लोक-कहानी

एक बेर् जड़काला मँ अब्बड़ (जोर से) बादर् बरसिस्। चिरई-चुरगुन् अपन्-अपन् खोंधरा में लुका गईन्। मन्खे मन् घलो अपन्-अपन् बूता ला तज् के घर मँ खुसर् गईन्। फेर् एक् बेन्दरा भर-ह उही बादर्-पानी मँ एती-ओती छटपटावत् रहिस, काबर् कि बादर् के अब्बड़ झड़ी लागे रहिस। ओला अइसन छट्पटावत् देख् के एक् चिरई अपन् खोंधरा के भीतरी ले बोलिस्––"ए बेन्दरा राजा! ये तैंह बने बूता नहँ करे, जौन् अपन् रैहेबर् घर् नइँ उचाए। एक्रे बर् अब् तैंह पानी मँ फूलत्-फिरत् हस्। मो ला देख, मैं ह एक् नानुक् चिरई हौं, तभोलै महिनत् कर्के अपन् बर् खोंधरा बना डारे हौं।" अत् काला सुन्के बेन्दरा चुर्गे औ किच्किचाके ओखर् खोंधरा ला टोर् फोर् के फटिक् दईस्। एख्रे सेती कैथैं कि बेअक्कल औ मन्ताहा मनखे ला सिखावन् न दैय चाही।

उपर्युक्त लोक-कहानी का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

एक बार जाड़े के समय में जोर से बादल बरसा। चिड़िया-चिड़ंगुल अपने-अपने घोंसलों में छिप गये। मनुष्य भी अपने-अपने काम को छोड़ कर घर में घुस गये। फिर एक बन्दर उसी वर्षा में इधर-उधर छटपटाता रहा। क्योंकि बादल की जोर की झड़ी लग रही थी। उस को ऐसा छटपटाता हुआ देखकर एक चिड़िया अपने घोंसले के भीतर से बोली––"हे बन्दर राजा! यह तूने अच्छा काम नहीं किया, जो अपने रहने के लिए घर नहीं बनाया। इसी से अब तू पानी में भीगता फिरता है। मुझको देख, मैं एक छोटी सी चिड़िया हूँ, तब भी मेहनत करके अपने लिए घोंसला बना लिया है।" इतना सुनकर बन्दर जल गया और किचकिचाकर उसके घोंसले को तोड़-फोड़कर फेंक दिया। इसी से कहा गया है कि मूर्ख और गुस्सावर मनुष्य को सीख न देनी चाहिए।

छत्तीसगढ़ी (रायपुर की बोली) का कारक-द्योतक एक वाक्य

ए गोपाल्! राम् हर् अपन् आँखी से देखिस कि मोहन के दाद हर् अपन् बेटा ला धन बर् घर् ले निकाल् दइस औ उआ हर् सहर में नौकरी बजाव् थै।

उक्त वाक्य का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

हे गोपाल! राम ने अपनी आँखों से देखा कि मोहन के पिता ने अपने बेटे को धन के लिए घर से निकाल दिया है और वह शहर में नौकरी कर रहा है।

(१) छत्तीसगढ़ी के संज्ञा-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
जड़काला मँ	जाड़े के समय में
खोंधरा मँ	घोंसले में
बूता ला	काम को
घर मँ	घर में
बादर् के झड़ी, बादर के झड़	बादल की झड़ी, बादल का झड़
चिरई ह (हर)	चिड़िया, चिड़िया ने
भीतरी ले	भीतर से

विशेष

छत्तीसगढ़ी में सम्बन्धकारकीय प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग में एक ही रहता है, जैसे–राजा के बेटी। हिन्दी में पुल्लिङ्ग के साथ 'का' और स्त्रीलिङ्ग के साथ 'की' होता है। 'के' के प्रयोग में भोजपुरी भी छत्तीसगढ़ी की अनुगामिनी है।

(२) छत्तीसगढ़ी के सर्वनाम-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
ओ ला	उस को, उसे
ये	यह
तुँह (तूँहर)	तू ने
मो ला	मुझको, मुझे
मैंह (मैं हर)	मैं, मैंने (हर––कर्त्ता परसर्ग)
अपन् बर्	अपने लिए
एखरे सेती	इसी से
उआ ह (उआ हर्)	वह, उस ने

(३) छत्तीसगढ़ी के विशेषण-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
अपन्-अपन् खोंधरा मँ	अपने-अपने घोंसले में
एक् बेन्दरा	एक बन्दर
बने बूता	अच्छा काम
नानुक् चिरई	छोटी चिड़िया
ओ मन् (उन)	वे लोग

(४) छत्तीसगढ़ी के अव्यय-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
एती-ओती	इधर-उधर
काबर् कि	क्योंकि, किसलिए कि

अइसन्	ऐसा
अतकाला	इतना

(५) छत्तीसगढ़ी के क्रिया-पद — परिनिष्ठित हिन्दी

बरसिस्	बरसने लगा
लुका गईन्	छिप गई
तजू के	छोड़कर
खुसर् गईन्	घुस गये
छट्पटावत् रहिस	छटपटाता रहा
लागे रहिस	लग रही थी
बोलिस्	बोली

(६) छत्तीसगढ़ी की क्रियाओं के कालगत-रूप

(क) सामान्य वर्तमान-तिङन्तरूपिणी क्रिया

मैंह घर् जाथौं	मैं घर जाता हूँ (जाती हूँ)।
हंमन् घर जाथन्	हम घर जाते हैं (जाती हैं)।
तैंह घर जाथस्	तू घर जाता है (तू घर जाती है)।
तूमन् घर् जाथौ	तुम घर जाते हो (जाती हो)।
बोह घर् जाथै	वह घर जाता है (जाती है)।
बोमन् घर जाथैं	वे घर जाते हैं (जाती हैं)।

(ख) अपूर्ण वर्तमानकाल

मैं घर जावथौं	मैं घर जा रहा हूँ।
हंमन् घर् जाव्थन्	हम घर जा रहे हैं।
तैंह घर् जावथस्	तू घर जा रहा है।
तूमन् घर् जावथौ	तुम घर जा रहे हो।
वोह घर् जाव्थै	वह घर जा रहा है।
वोमन् घर् जाव्थैं	वे घर जा रहे हैं।

(ग) सामान्य भूतकाल

मैंह घर् गेव	मैं घर गया।
हंमन् घर् गेन	हम घर गये।
तैंह घर् गै	तू घर गया।
तूमन् घर गेव	तुम घर गये।

वोमन् घर् गैन	वे घर गये।
वोह घर् गइस्	वह घर गया।

(घ) सामान्य भविष्यत्काल

मैंह घर् जाहूँ	मैं घर जाऊँगा।
हमन् घर् जावो	हम घर जायेंगे।
तैंह घर् जावे	तू घर जाएगा।
तुमन् घर् जाहू	तुम घर जाओगे।
वोह घर् जाही	वह घर जाएगा।
वोमन् घर् जाहीं	वे घर जाएँगे।

पूर्वी हिन्दी के कारकीय परसर्गों की तुलना

कारक	परसर्ग	उपभाषा का नाम
कर्त्ता	दादा हर् (पिता ने)	छत्तीसगढ़ी
कर्म	प्याड़न का (वृक्षों को)	पश्चिमी अवधी
"	लरिका कां (लड़के को)	पूर्वी अवधी
"	बन्दर्वा क (बन्दर को)	केन्द्रीय अवधी
"	मनई का (मनुष्य को)	बघेली
"	बूता ला[१०] (काम को)	छत्तीसगढ़ी
करण	कुल्हारि ते (कुल्हाड़ी से)	पश्चिमी अवधी
"	आँखिन् से (आँखों से)	पूर्वी अवधी
"	" "	केन्द्रीय अवधी
"	" "	बघेली
"	आँखी से (आँख से)	छत्तीसगढ़ी
सम्प्रदान	सम्प्रदानकारकीय परसर्ग प्रायः वे ही हैं जो कर्मकारकीय परसर्ग हैं और अपादान कारकीय परसर्ग भी वे ही हैं जो करणकारकीय परसर्ग हैं।	
सम्बन्ध	केर, कर, का, क	पश्चिमी अवधी
"	कि (की), केरि (की)	केन्द्रीय अवधी
"	कै	पूर्वी अवधी
"	केर (का), केरि (की)	बघेली
"	के (की), के (का)	छत्तीसगढ़ी
अधिकरण	माँ (में)	पश्चिमी अवधी
"	मँ माँ (में)	पूर्वी अवधी
"	मँ, (में)	केन्द्रीय अवधी

"	माँ (में)	बघेली
"	में, मँ (में)	छत्तीसगढ़ी

विशेष

जिस प्रकार कर्त्ताकारकीय परसर्ग 'ने' या 'नें' खड़ीबोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुन्देली में होता है, उसी प्रकार अवधी और बघेली में नहीं होता। पश्चिमी अवधी में कर्मकारकीय परसर्ग 'का' होता है। पूर्वी अवधी में इसमें अकारण अनुनासिकता आ जाती है अर्थात् 'काँ' हो जाता है। यह 'का' या 'काँ' छत्तीसगढ़ी में 'ला' हो जाता है। करण और अपादान कारक का परसर्ग 'छत्तीसगढ़ी' में 'ले' होता है। इसे साहित्यिक खड़ीबोली हिन्दी के 'से' का पर्यायवाची समझना चाहिए। बघेली में क्रियाओं के अन्दर भी अकारण अनुनासिकता मिलती है—भीगता हुआ के अर्थ में बघेली में 'भींजत' है।

क्रियाओं का अध्ययन करने पर विदित होता है कि पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं में क्रियाओं के रूप कर्ता के लिङ्ग के अनुसार बदलते नहीं है, जबकि पश्चिमी हिन्दी की क्रियाएँ कर्त्ता के लिङ्ग के अनुसार परिवर्तित हो जाती हैं। सारांश यह कि पूर्वी हिन्दी की क्रियाएँ तिङन्त हैं और पश्चिमी हिन्दी की कृदन्त। जैसे—छत्तीसगढ़ी में **टूरा आइस्** (लड़का आया), **टूरी आइस्** (लड़की आई)। यहाँ '**आइस्**' क्रिया एक ही रही; किन्तु ब्रजभाषा में बदल जाती है—छोरा आयौ, छोरी आई।

(४) भोजपुरी उपभाषा

सर ग्रियर्सन और डॉ० उदयनारायण तिवारी के मतानुसार मागधी अपभ्रंश की परम्परा में मैथिली, मगही और भोजपुरी[11] भी आती हैं। हिन्दी-प्रदेश के पूरब में भोजपुरी का भी क्षेत्र है। यह मुख्यतया उत्तरप्रदेश की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरियों में तथा बिहार प्रान्त के शाहाबाद, चम्पारन और सारन जिलों में बोली जाती है। मैथिली और मगही तो आपस में मिलती-जुलती सी है, किन्तु भोजपुरी इन दोनों से भिन्न है। क्रिया, विभक्ति, परसर्ग और सर्वनाम शब्दों में भोजपुरी पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं के निकट बैठती है। अतः इसका वर्णन हम पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं के साथ करना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।

तहसील सलेमपुर (जिला देवरिया) की बोली के आधार पर लोक-कहानी

एक बेर जाड़ा में बहुत् ज़ोर से बर्खा होखे लागल्। चिरइया अपनी खतौना में लुका गइली स। आदिमीओं आपन् सज्जी काम् छोड़िके घर् में घुसि गइलैं। बाकी एगो बानर् ओही बरखा में एनें-ओनें छटपटात् रहल्। ऊ बिचारा एक् फेड़ पर् चढ़िके कबे एनें कबे ओनें कूदत-फानत् रहल् (रहे)। काँहे कि बादर् खूब अधिका झरी लगाबत् रहल्। ओके ये तरह से छटपटात् देखिके एक् चिरइया अपनी खतौना में से बोललि कि "बानर् राजा! ई तू अच्छा ना कइल् कि अपने रहे के खातिर कवनौ घर ना बनवल्। येही के फल ह कि अब् तू पानी में भीजत् फिरत् बाड़। हम कै (हम के) देख् कि एक छोट् चिरइ हईं (बानी), बाकी मिहनत् कके अपनी खातिर खतौना बना लिहले हईं (बानी)।" इतना सुनिके (सुनला पर) ऊ बानर् जरि

गइल् अवर् किच्किचाके ओकर् खतौना नोचिके फेंकि दिहलसि। एही से लोग कहेले कि बुरबक् और रिसिआह आदिमी के सीख ना देबे के चाही।

उपर्युक्त लोक-कहानी का परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

एक बार जाड़े में बहुत जोर से वर्षा होने लगी। चिड़िया अपने घोसलों में छिप गयीं। आदमी भी अपने सब काम छोड़ कर घरों में घुस गये। लेकिन एक बन्दर उसी वर्षा में इधर-उधर छटपटाता रहा। वह बेचारा एक पेड़ पर चढ़कर कभी इधर, कभी उधर कूदता-फाँदता रहा, क्योंकि बादल ने खूब अधिक झड़ी लगायी थी। उसको इस तरह से छटपटाता हुआ देखकर एक चिड़िया अपने घोंसले में से बोली कि हे बन्दर राजा! यह तू ने अच्छा नहीं किया कि अपने रहने के लिए घर नहीं बनाया। इसी का फल है कि अब तू पानी में भीगता फिरता है। हमको देख कि मैं एक छोटी-सी चिड़िया हूँ, लेकिन मेहनत करके अपने लिए घोंसला बना लिया है। इतना सुनने पर वह बन्दर जल गया और किचकिचाकर उसका घोंसला नोंचकर फेंक दिया। इसीलिए कहा गया है कि बेवकूफ़ और गुस्सावर आदमी को सीख नहीं देनी चाहिए।

भोजपुरी (सलेमपुर, जिला देवरिया की बोली) का कारक-द्योतक एक वाक्य

हे गोपाल! राम् अपनी आँखिन् से देखलें (देखलस्) कि मोहन् के बाप् अपनी बेटा कैं (बेंटा के) धन् की खातिर घर् सें निकारि देहलें ह और ऊ सहर में नौकरी करे लागल् ह (बा)।

परिनिष्ठित हिन्दी रूपान्तर

हे गोपाल! राम ने अपनी आँखों से देखा कि मोहन के बाप ने अपने बेटे को धन के लिए घर से निकाल दिया है और वह शहर में नौकरी करने लगा है।

(१) भोजपुरी संज्ञा-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
जाड़ा में	जाड़े में
खतौना में	घोंसले में
फेड़ पर्	पेड़ पर
पानी में	पानी में
आदिमी कैं (के)	आदमी को
मोहन् के बाप्	मोहन के पिता
धन् की खातिर्	धन के वास्ते

(२) भोजपुरी सर्वनाम-पद	परिनिष्ठित हिन्दी
ऊ	वह
ओ के	उस को, उसे

ई	यह
हम् कैं	हम को
ओ कर, ओके	उस का, उस को

(३) **भोजपुरी विशेषण-पद**	**परिनिष्ठित हिन्दी**
अपनी खतौना में	अपने घोंसले में
आपन् सज्जी काम्	अपने सब काम
एगो बानर् (एग्गो बानर्)	एक बन्दर (भोज० गो=अदद)
छोट् चिरई	छोटी चिड़िया
रिसिआह आदिमी के	गुस्सावर आदमी को

(४) **भोजपुरी अव्यय-पद**	**परिनिष्ठित हिन्दी**
बाकी	लेकिन
एनें-ओनें	इधर-उधर
कबे	कभी

(५) **भोजपुरी क्रिया-पद**	**परिनिष्ठित हिन्दी**
होखे लागल्	होने लगी, होने लगा
लुका गइलीं सं (सन्)	छिप गई
छोड़ि के	छोड़ कर
घुसि गइलैं	घुस गये
लगावत् रहल्	लगा रहा था
बोललि	बोली
नां बनवल्	नहीं बनाया
भीजत् फिरत् बाड़	भीगते फिरते हो
बना लिहले बानी	बना लिया है

विशेष

सं० अस्ति--ह (भोजपुरी), सं० वर्तते--बा (भोजपुरी)। भोजपुरी में 'के' परसर्ग एक रूप में ही रहता है। यह हिन्दी भाषा की भाँति विशेष्य के लिङ्गवचनानुसार बदलता नहीं है। जैसे--

हिन्दी	**भोजपुरी**
राम का लड़का	राम के लइका
राम की लड़की	राम के लइकी
राम के लड़के	राम के लइका

'के' विशेषणीय प्रत्यय के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि भोजपुरी में और छत्तीसगढ़ी में यह विशेषणीय प्रत्यय नहीं है, अपितु इसका रूप सदा एक सा रहता है। इसलिए, इसे परसर्ग माना जा सकता है।

(६) भोजपुरी की विभिन्न कालों की द्योतक क्रियाएँ

(क) सामान्य वर्तमानकाल

हम् घरे जातानी	मैं घर जाता हूँ या मैं घर जा रहा हूँ।
हम्नीका घरे जातानी जाँ	हम सब घर जाते हैं या हम सब घर जा रहे हैं।
तू घरे जाताड़	तू घर जाता है या तू घर जा रहा है।
तोहनी का सज्जी जने घरे जाताड़ (सँ)	तुम सब घर जाते हो या तुम सब घर जा रहे हो।
ऊ घरे जाता	वह घर जाता है या वह घर जा रहा है।
ऊ सबै घरें जाताड़े (सँ)	वे सब घर जाते हैं या वे सब घर जा रहे हैं।

(ख) सामान्य भूतकाल

हँम् घरैं गइलीं	मैं घर गया।
हँम्नीका घरैं गइलीं	हम सब घर गये।
तू घरैं गइल	तू घर गया।
तोहनीका (तोहन लोग) घरैं गइल्	तुम लोग घर गये।
ऊ घरैं गइल्	वह घर गया।
ऊ सब् घरैं गइलैं	वे सब घर गये।

(ग) सामान्य भविष्यत्काल

हँम् घरैं जाइबि	मैं घर जाऊँगा।
हँम्नी का घरैं जाइबि जाँ	हम घर जाएँगे।
तू घरैं जइब	तू घर जाएगा।
तोहन् लोगन् (तोहनीका) घर जइब	तू सब घर जाओगे।
ऊ घरैं जाई	वह घर जाएगा।
ऊ सबै लोग घरैं जइहैं	वे सब घर जाएँगे।

भोजपुरी में भूतकालिक क्रिया को प्रकट करने के लिए प्रमुख प्रत्यय **।-अल्।** है। यही **।-अल्।** प्रत्यय पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग तथा एकवचन-बहुवचन में निम्नाङ्कित रूप से परिवर्तित होता रहता है अर्थात् ये क्रियाएँ कृदन्तरूपिणी हैं। **।-एला।** प्रत्यय भोजपुरी में निश्चयार्थ वर्तमानकाल में आता है, जैसे—रहेला=रहता है। करेला= करता है।

(१) लइका घरे गइल्	लड़का घर गया।	} कृदन्त क्रिया
(२) लइकनी घरे गइलि	लड़की घर गई।	

(३) सजी लइका घरे गइलैं	सब लड़के घर गये।	} कृदन्त क्रिया
(४) सजी लइकनी घरे गइलीं	सब लड़कियाँ घर गईं।	

संस्कृत की धातुएँ **अस्** और **वृत्** भी भोजपुरी में जीवित हैं। सहायक-क्रियाओं के रूप में भोजपुरी के **'बा'**, **'बाड़ै'**, **'बाटे'** और **'ह'** वास्तव में क्रमशः सं० **'वर्तते'** और **'अस्ति'** के ही विकासमान् ध्वंसावशेष हैं। भोजपुरी का **'ह'**, अवधी का **'अहइ'** और साहित्यिक खड़ी बोली (हिन्दी) का **'है'** एक ही मूल धातु सं० **'अस्'** की परम्परा में हैं। भोजपुरी का **'ह'** बहुवचन में **'हँ'** या **'सँ'** (सन्) हो जाता है। 'जाना' क्रिया का भविष्यत्काल अन्यपुरुषीय बहुवचन रूप भोजपुरी और अवधी में एक सा ही रहता है। **जैसे--अवधी--पढ़िहैं** (अन्य पुरुष, बहुवचन); **भोजपुरी--पढ़िहैं** (अन्य पुरुष, बहुवचन)।

बहुवचनीय कर्त्ता चाहे स्त्रीलिङ्ग हो और चाहे पुल्लिङ्ग, क्रिया 'पढ़िहैं' ही रहेगी, अर्थात् तिङन्तरूपिणी होगी।

कारकीय परसर्गों में भी भोजपुरी का साम्य अवधी से पाया जाता है। इन्हीं समानताओं के कारण हमने भोजपुरी को पूर्वी हिन्दी की उपभाषाओं के साथ अपने विवेचन में सम्मिलित कर लिया है। वास्तव में भोजपुरी उपभाषा पश्चिमाभिमुखी है। यह बिहार की मगही और मैथिली की ओर से पीठ फेर कर बैठी हुई है।

नीचे हम परिनिष्ठित हिन्दी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी तथा भोजपुरी के संज्ञा, सर्वनाम, अव्यय एवं क्रिया आदि का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत कर रहे हैं--

(अ) संज्ञा-पदों का तुलनात्मक रूप (परसर्ग सहित)

हिन्दी	**अवधी**	**बघेली**	**छत्तीसगढ़ी**	**भोजपुरी**
राम् ने	राँम्[१२]	राँम्	राँम् हर	राँम्[१३]
बन्दर का	बँदर्‌वा का	बाँदर् का	बेन्दरा ला	बानर् के
आँखों से	आँखिन् सन्, से	आँखिन् से	आँखी से	आँखिन् सें
घर से	घर् ते (से)	घर् स्रेरे	घर् ले	घर् सें
आदमी के बेटा	जने केर बेट्वा	मनई केर् बेटवा	मन्खे के बेटा	आदमी के बेटा
ज़ोर की वर्षा	जोर के बरखा	जोर् केरि बरखा	जोर् के बरखा	जोर के बरखा
शहर में	सहर् माँ (मँ)	सहर् मा	सहर् मँ (में)	सहर् में

(आ) सर्वनाम-पदों का तुलनात्मक रूप

हिन्दी	**अवधी**	**बघेली**	**छत्तीसगढ़ी**	**भोजपुरी**
मैं, मैंने	हँम्, हँम	हँम्, हँम्	मैं, मैंह	हँम्, हँम्
हम, हम ने	हँम् सब्	हँम् पँचे	हँमन्	हँम्नीका, हँम् सब्
तू, तू ने	तूँ, तूँ (तुम)	तैं, तैं	तैंह	तू
तुम, तुम ने	तूँ सब्, तुम सब्	तूँ	तुमन्	तोहनी का, तोहन् लोगन्
वह, उस ने	ऊ, उइ	उआ	वोह	ऊ

वे, उन्होंने	वइ, ऊ सब्	ऊँ पँचे	वोमन्	ऊ सब्
उस का	वहिके	ओखर्	ओखर्	ओकर्

(इ) अव्यय-पदों का तुलनात्मक रूप

हिन्दी	अवधी	बघेली	छत्तीसगढ़ी	भोजपुरी
लेकिन	पै, मुला	पै	फेरि	बाकी
इधर-उधर	यहर्-बहर्	ऐं कइत-ओं कइत	ऐती-ओती	एनें-ओनें
क्योंकि	काहे कि	काहे के	काबर् कि	काहें कि

(ई) क्रिया-पदों का तुलनात्मक रूप (भूतकाल में)

परि० हिन्दी—(१) लड़का बोला (२) लड़की बोली—कृदन्त प्रयोग
अवधी —(१) लरिका बोलिस् (२) लरिकी बोलिसि् }
बघेली —(१) लरिका कहिसि् (२) लरिकी कहिसि् } तिङन्त प्रयोग
छत्तीसगढ़ी —(१) टूरा बोलिसि् (२) टूरी बोलिसि् }
भोजपुरी —(१) लइका बोलल् (२) लइकिनी बोललि—कृदन्त प्रयोग

उपर्युक्त भूतकालीन प्रयोगों की क्रियाओं का अध्ययन करने से विदित होता है कि केवल भोजपुरी में ही लिङ्ग के आधार पर क्रिया परिवर्तित हुई है। शेष उपभाषाओं में कर्त्ता के लिङ्ग-परिवर्तन से क्रिया में परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे स्पष्ट होता है कि अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी तिङन्तरूपिणी हैं। भविष्यत्काल में भोजपुरी भी तिङन्तरूपिणी है। जैसे—लइका मिली (लड़का मिलेगा); लइकी मिली (लड़की मिलेगी)।

पूर्वी अवधी और भोजपुरी में क्रियापदों की समानता

पूर्वी अवधी	भोजपुरी
(१) लरिका घरे जाई (लड़का घर जाएगा)	लइका घरे जाई
(२) लरिकी घरे जाई (लड़की घर जाएगी)	लइकी घरे जाई
(३) लरिका घरे जइहैं (लड़के घर जाएँगे)	लइका घरे जइहैं
(४) लरिकी घर जइहैं (लड़कियाँ घर जाएँगी)	लइकी घरे जइहैं

पूर्वी अवधी में अनुमति अर्थ में उत्तम पुरुषीयपुरुषवाचक सर्वनाम के साथ 'जा' धातु का रूप भी 'जाई' होता है अर्थात् 'हम घर जायँ' का पूर्वी अवधी में 'हँम् घरे जाई' रूप बनेगा। सामान्य भविष्यत्काल में अन्यपुरुषीय एकवचन रूप भी 'जा' धातु का 'जाई' ही होता है; अर्थात् 'ऊ जाई' (वह जाएगा)। फैजाबाद जिले की तहसील बीकापुर में 'लड़का घर जाएगा' का रूप 'लरिका घरे जाए' होता है और स्त्रीलिङ्ग में भी 'जाए' क्रिया ही रहती है अर्थात् 'लइकी घरे जाए'।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ब्रजभाषा के कुछ कर्मवाच्य प्रयोग भोजपुरी में कर्तृवाच्य हुआ करते हैं, जैसे 'हमनें जि (गि) कामु कर्यौ' (ब्रजभाषा-कर्मवाच्य)='हम ई काम कइलें' (भोजपुरी-कर्तृवाच्य)। इसी प्रकार 'छोरा नें रोटी खाई' (ब्रजभाषा) वाक्य की क्रिया कर्मवाच्य में है। किन्तु भोजपुरी में 'लइका रोटी खइलस्' की क्रिया कर्तृवाच्य है।

अवधी और भोजपुरी के अधिकरणकारकीय परसर्ग में भी अधिक अन्तर नहीं है, जैसे अवधी 'मैं', भोजपुरी 'मैं'। अव० 'पर', भोज० 'परि'। पूर्वी वर्ग की प्राकृतों में दो वर्ग माने जाते हैं--(१) कोसली उपवर्ग (२) मागधी उपवर्ग। अवधी तथा भोजपुरी कोसली उपवर्ग के अन्तर्गत आती हैं। मागधी उपवर्ग में बिहारी, उड़िया, बङ्गला और असमी भाषाएं हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के इस उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार भी अवधी और भोजपुरी भाषाएं एक ही वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। इस कारण ये दोनों बहनें मानी जा सकती हैं, किन्तु पछाँहीं हिन्दी की बोलियों का जन्म मध्यदेशीय वर्ग की प्राकृतों से माना गया है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) "प्रकृतेरागतं प्राकृतम्, प्रकृतिः संस्कृतम्" (धनिक के दशरूपक की टीका और प्राकृत प्रकाशकार वररुचि) (२) "प्राकृते भवं प्राकृतम्" (नैसर्गिक भाषा)--पालि-व्याकरणकार काच्चायन। (३) डॉ० हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित 'पिशलकृत प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, अनुच्छेद ९।(४) डॉ० श्यामसुन्दरदास (हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ २९२) के कथनानुसार मारकण्डेय-कृत 'प्राकृतसर्वस्व' (पाद १७। सूत्र ४८) में 'अस्मद्' के स्थान में 'हमु' आदेश का उल्लेख किया गया है। अतः 'हमु' से भी हिन्दी 'हम' (सर्व०) का विकास सम्भव है। (५) बीम्स के मतानुसार 'में' का विकास स० 'मध्ये' से माना जाता है--सं० मध्ये--प्रा० मज्झे, मज्झहिं--पुरानी हि० माँहि--महि, महूं, में (देखिए, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास, सन् १९४०, पृ० २६४)। (६) डॉ० हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित 'पिशलकृत प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', पृ० ७। (७) "अर्धमागधी वह मागधी प्राकृत है जो शौरसेनी से प्रभावित है। पूर्णमागधी न होने के कारण इसे अर्धमागधी की संज्ञा दी गयी है।"--हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४९२। (८) इवोल्यूशन ऑफ़ अवधी, प्र० स०, पृष्ठ ७। (९) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के नवीन मतानुसार अवधी और बघेली एक उपभाषा के दो रूप हैं। लेखक के नाम पत्र दिनाङ्क ३१-१-५८। (१०) कर्मकारकीय 'ला' परसर्ग मराठी में भी पाया जाता है। (११) संस्कृत का 'त' (भूतकालीन 'क्त' प्रत्यय) मागधी के 'ल्' में बदलता है। यह 'ल' बिहारी और बंगला में भी पाया जाता है। जैसे--सं० मारितः--बिहारी भाषा मारल, बङ्गला भाषा मारिल। यही 'ल' भोजपुरी में भी मिलता है। (१२, १३) अवधी और भोजपुरी में कर्त्ताकारकीय परसर्ग 'ने' नहीं आता है। किन्तु ब्रजभाषा और खड़ीबोली में इसका प्रयोग होता है; जैसे--हमनें जि कामु कर्यौ (ब्रज०); हमने यह काम किया (खड़ी-बोली हिन्दी); हम् ई काम् कइलीं (भोजपुरी) अर्थात् हमने यह काम किया।

प्रतिपत्तिका

एक

•

प्रयाग की पत्रकारिता

•

उदयनारायण सिंह

भारतीय पत्रकारिता, विशेषरूप से हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास उपनिवेशवादी ब्रिटिश शासन के कठोरतम दमन के विरुद्ध सङ्घर्ष का इतिहास रहा है। विदेशी प्रतिबन्ध कानूनों के बीच यहाँ की पत्रकारिता अङ्कुरित एवं पल्लवित हुई है। ब्रिटिश शासकवर्ग ने पत्रों एवं पत्रकारों के आचरण सम्बन्धी तरह-तरह के कानूनों को बनाया था। इन कठिन परिस्थितियों में पत्रकारिता के क्षेत्र में या तो शासन-पोषित लोग आ सकते थे या शासन के पोषण की परवाह न कर स्वतन्त्र विचार प्रकट करने वाले तथा ब्रिटिश दमन के विरुद्ध सङ्घर्ष करने वाले लोग। भारतीय पत्रकारिता के निर्माण करने का श्रेय वस्तुतः दूसरे वर्ग के लोगों को प्राप्त हुआ। प्रयाग ने पत्रकारिता के क्षेत्र में कलकत्ता, आगरा, बम्बई व मद्रास जैसे नगरों में पत्रकारिता के समारम्भ के बाद पदार्पण किया किन्तु पत्रकार कला के उच्च एवं धवल आदर्शों को कायम रखने में प्रयाग किसी भी भाँति अन्य नगरों से पीछे नहीं रहा।

१ जनवरी, सन् १८६५ में इलाहाबाद से अंग्रेजी दैनिक 'पायोनियर' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह इलाहाबाद का ही नहीं, सम्पूर्ण उत्तर भारत का प्रथम दैनिक पत्र था। इसका प्रकाशन सन् १९३२ में इलाहाबाद से लखनऊ बिना पत्र के प्रकाशन के बन्द हुए स्थानान्तरित कर दिया गया। इलाहाबाद से प्रातःकालीन अङ्क निकालने के बाद दूसरे दिन लखनऊ से भी प्रातः काल का अङ्क निकाला गया। यह दैनिक पत्रों के प्रकाशन के इतिहास में एक अपूर्व बात है। ब्रिटिश शासनकाल में इस पत्र की नीति उदारदलीय तथा सामान्यरूप से ब्रिटिश नीति के समर्थन की रही है।

इलाहाबाद से प्रकाशित प्रथम हिन्दी पत्र सम्भवतः 'वृत्तान्त दर्पण' था जिसका प्रकाशन सन् १८६८ में प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक मुंशी सदासुखलाल जी थे। इस समय अखबार लीथो से छपा करते थे। 'वृत्तान्त दर्पण' का समारम्भ विविध विषयों की पत्रिका के रूप में हुआ था किन्तु १८७० में इसे कानून सम्बन्धी पत्र का रूप दे दिया गया और इसमें सरकारी अधिनियमों, आदेशों आदि का प्रकाशन किया जाने लगा। इस तरह से यह हिन्दी की प्रथम विधि- पत्रिका भी थी।

प्रयाग से सन् १८७१ में 'प्रयागदूत' नामक पत्र का प्रकाशन हुआ और २६ जून, सन्

१८७४ में बाबू रतनचन्द, बी० ए०, प्लीडर, हाईकोर्ट द्वारा सम्पादित 'नाटक प्रकाश' पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिसमें तरह-तरह के नाटकों का प्रकाशन होता था। सन् १८७५ में 'प्रयाग धर्म पत्रिका' और १८७६ में 'प्रयाग धर्म प्रकाश' का यहाँ से प्रकाशन शुरू हुआ। दोनों ही धार्मिक पत्रिकाएँ थीं जो धार्मिक भावना एवं धर्म का प्रचार करने के उद्देश्य से प्रारम्भ की गयी थीं। मासिक 'प्रयाग धर्म प्रकाश' के सम्पादक शिवराखन जी थे और यह हिन्दी तथा संस्कृत दोनों ही में छपता था। सन् १८७६ में इलाहाबाद से 'नूरुल बसर' और 'कब्दे नजाइर' नामक दो मासिक तथा 'कसरुल अखबार' नामक साप्ताहिक पत्र निकला। ये पत्र हिन्दी तथा उर्दू दोनों ही भाषाओं में प्रकाशित होते थे। १८७७ में मुंशी सदासुखलाल ने 'धर्मपत्र', 'धर्मप्रकाश' और 'नागरी पत्रिका' नामक पत्र निकाले ; किन्तु ये पत्र अधिक दिन तक नहीं चल सके और आर्थिक कठिनाई वश थोड़े समय बाद ही इनका प्रकाशन बन्द कर देना पड़ा। लीथो की छपाई होने के कारण एक तो इन पत्रों को अधिक संख्या में छापा भी नहीं जा सकता था और साथ ही छपाई का खर्च भी अधिक पड़ता था। उत्सुक एवं जागरूक पाठक वर्ग का भी अभाव था। विज्ञापनदाता भी उस समय नहीं थे जिनसे कि पत्रों के प्रकाशन का व्यय भी निकल सके। चूँकि यह पत्रकारिता के विकास का प्रथम चरण था, इसलिए इन पत्रों के स्तर के ऊँचा होने की बात ही कल्पना से बाहर थी।

'हिन्दी प्रदीप' का प्रकाशन

इलाहाबाद से श्री बालकृष्ण भट्ट के सम्पादकत्व में १ दिसम्बर, सन् १८७७ से 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में एक नवयुग का द्योतक है। वैसे ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि सन् १८७७ का वर्ष आमतौर पर पत्रकारिता के क्षेत्र में विशेष महत्व का वर्ष रहा है, पर इसे विशेष प्रगति का वर्ष हम 'हिन्दी प्रदीप' के प्रकाशन के कारण ही कह सकते हैं। इसमें प्रथम बार स्वतन्त्र चिन्तन, भाषा सम्बन्धी जागरूक चेतना, सृजनात्मक प्रवृत्ति तथा पत्र के स्तरोन्नयन के हमें दर्शन होते हैं। चेतना के ऐसे धरातल का परिचय हमें पत्र के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित इन पक्तियों से मिलता है:——

सूझै विवेक विचार उन्नति कुमति सब यामैं जरै।
हिन्दी प्रदीप प्रकाश मूरखतादि भारत तम तरै।।

बालकृष्ण भट्ट को इस पत्रिका के प्रकाशन के दौरान अनेक कठिनाइयों से गुजरना पड़ा, कई बार अग्निपरीक्षा देनी पड़ी। पत्र की ग्राहकसंख्या दो-सौ से अधिक नहीं गयी। भट्ट जी को 'विक्टोरिया प्रेस' तथा बाद में वाराणसी के 'लाइट प्रेस' में पत्र की छपाई का जिसके मुद्रक गोपीनाथ पाठक थे, बिल तथा काग़ज के पैसे कायस्थ पाठशाला से मिलने वाले अपने वेतन से भरना पड़ता था। इस प्रकार की कठिन परिस्थितियों को बरदाश्त करते हुए भी भट्टजी ने २८ वर्षों तक का समय हिन्दी पत्रकारिता की सेवा करते हुए व्यतीत किया। 'हिन्दी प्र ीप' का कार्यालय

भट्ट जी के अहियापुर स्थित निवास पर था। इस पत्र का प्रथम अङ्क अब उपलब्ध नहीं है। इसका वार्षिक मूल्य मात्र दो रुपये था। समाचारों के साथ-साथ इसमें साहित्यिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक तथा आर्थिक विषयों पर लेख एवं हास्य-व्यंग्य आदि भी दिये जाते थे। भट्ट जी की कठिनाइयों और प्रेरक भावनाओं का पता निम्नलिखित उद्धरण से लगता है:—

"जैसा कि हमारा संकल्प है कि निज का प्रेस हो जाता तो बहुत तरह की झंझट से बच नियत समय पर अपने रसिक पढ़ने वालों से मिला करते और पत्र में चिर स्थायित्व आ जाता, पर यह सब तो केवल कल्पना मात्र है। हमारा ऐसा सौभाग्य कहाँ कि हम अपने उद्योग से कृतकार्य और सफल मनोरथ हों, न यही होगा कि पत्र सम्पादक बनने के हौसले को तिलाञ्जल दें किसी विषय पर कुछ लिखने से मुँह मोड़ चुप हो बैठ रहें, क्योंकि लड़कपन से उसका चस्का पड़ा हुआ है जो अब दिनों होने से नासूर सा हो गया है। यावज्जीवन किसी भाँति भरनेवाला नहीं मालूम होता। अंत को परिणाम यही होगा कि ऐसा ही फिसलते हुए चले जायेंगे. . .लिखने का नासूर जो दुर्व्यसन सा हो हमारे पीछे लग रहा है, हमें चुप नहीं बैठने देता, ख्याल के घोड़े दौड़ते ही रहते हैं, नयी उपज का कोई लेख बन गया तो मन मयूर आनन्द निमग्न हो नाचने लगता है।" ('हिन्दी प्रदीप,' जनवरी-फरवरी सन् १९०३ ई०)

भट्ट जी अपने पत्र में सुरुचिपूर्ण तथा तीखा व्यंग्य करनेवाली कविताएँ प्रकाशित किया करते थे। सन् १८९६ में देश में भयङ्कर अकाल पड़ा था। इस अवसर पर भारतीय जन-जीवन की भीषण यन्त्रणाओं और तबाही का वर्णन प्रस्तुत करनेवाली यह कविता उस युग के उन बुद्धिजीवियों को एक चुनौती थी जो रात-दिन ब्रिटिश राज के प्रति वफादारी प्रकट किया करते थे—

संवत् उन्नीस सौ तिरपन मा, पड़ा हिन्द में महा अकाल,
घर-घर फाँकै होने लागे, दर-दर प्रानी फिरैं बेहाल।
गेहूँ चावल सावाँ मकरा, सबै अन्न एक भाव विकाय,
बिन पैसा सब छाती पीटैं, अब तो हाय रहा नहि जाय।
कोई पात पेड़न के चाबैं, कोइ माटी कोइ घांस चबाय,
कोई बेटवा बिटिया बेचैं, अब तो भूख सही नहि जाय।

जातीय एवं धार्मिक पत्र

सन् १८७८ में 'कायस्थ समाचार' तथा 'ज्ञानचन्द्र' नामक दो मासिक पत्रों के प्रकाशन हुए थे। 'कायस्थ समाचार' के सम्पादक प्रोफ़ेसर ब्रजराज, एम० ए० थे तथा इसमें उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी में लेखादि रहा करते थे। सन् १८७९ में बाबू रतनचन्द, बी० ए०, प्लीडर ने 'ज्ञानचन्द्रोदय' नामक एक कानून सम्बन्धी मासिक पत्रिका हिन्दी में प्रकाशित की जो प्रयाग से हिन्दी भाषा में प्रकाशित दूसरी विधि-पत्रिका थी। इसी वर्ष 'तिथि प्रदीप' नामक एक और मासिक

पञ्चाङ्ग प्रकाशित हुआ था । सन् १८८१ में 'उपदेश पुष्पावली', 'भागवत विलास' तथा 'आरोग्य दर्पण' नामक मासिक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुई थीं। सन् १८८२ में इलाहाबाद से 'नूतन-चरित', 'ऋग्वेद भाष्यम्' तथा 'यजुर्वेद भाष्यम्' नामक पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। ये दोनों पत्रिकाएँ परोपकारिणी सभा , इलाहाबाद द्वारा वैदिक प्रेस से प्रकाशित होती थीं। इसी वर्ष इलाहाबाद से प्रकाशित प्रथम साप्ताहिक पत्र 'प्रयाग समाचार' का जन्म हुआ जिसके सम्पादक देवकीनन्दन त्रिपाठी थे। वर्तमान समय में इसकी कोई प्रति प्राप्त नहीं है। 'बलदर्पण' नामक पत्र भी इसी वर्ष यहाँ से प्रकाशित हुआ था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक प्रयाग से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं में प्रमुख रूप से इन पत्रों की गणना की जा सकती है—'गौड़ कायस्थ' (१८८४, सम्पादक—बाबूलाल), 'वेदान्त प्रकाश' और 'सत्यार्थ प्रकाश' (१८८५, साप्ताहिक), 'संस्कारविध' (१८८५-मासिक), 'रसिकपञ्च' (१८८६, मासिक, सम्पादक—बलभद्र मिश्र), 'प्रयागमित्र', (१८८७ पाक्षिक, प्रयाग से प्रकाशित सम्भवतः प्रथम पाक्षिक पत्र जिसके सम्पादक साधोराम और बैजनाथ थे), 'आर्यसिद्धान्त' (१८८७, मासिक, सम्पादक पं० भीमसेन, यह परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित होता था तथा इसमें स्वामी दयानन्द सरस्वती के विचारों को प्रमुखता दी जाती थी), 'उपनिषद्' (१८८९, मासिक, गोपालदीन द्वारा सम्पादित तथा देशोपकारक प्रेस से प्रकाशित), 'सुगृहिणी' (१८८९, प्रयाग से प्रकाशित प्रथम महिलोपयोगी मासिक पत्र, सम्पादिका श्रीमती हेमन्त कुमारी), 'राम पताका' (१८८९, मासिक, सम्पादक पं० राधामोहन शुक्ल), 'कायस्थ समाचार' (१८९०, साप्ताहिक), 'कायस्थ पञ्च' (१८९०, साप्ताहिक), 'कान्यकुब्ज मंडल प्रयाग' (१८९०, ज्वालादत्त शर्मा द्वारा सम्पादित तथा धार्मिक प्रेस से प्रकाशित). 'गोसेवक' (१८९२, साप्ताहिक, बाबू जगतनारायण द्वारा सम्पादित)', 'आर्यदर्पणी' (१८९२, वार्षिक, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा द्वारा सम्पादित)' 'रत्नाकर' (१८९४, मासिक, पंडित शिवराम पांडेय वैद्य द्वारा सम्पादित), 'न्यायपत्र' (१८९४ मासिक, विद्या धर्मवर्धिनी सभा द्वारा प्रकाशित), 'आइन-ए-तन्दु स्ती' (१८९५, मासिक जगन्नाथ शर्मा द्वारा सम्पादित उर्दू, हिन्दी तथा संस्कृत भाषा में प्रकाशित औषध-विज्ञान से सम्बन्धित पत्र) तथा 'जैनी' (१८९८, साप्ताहिक, सत्यनारायण द्वारा सम्पादित)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी तक जितनी भी पत्र-पत्रिकाएँ इलाहाबाद से प्रकाशित हुईं उनमें से अधिकांश धार्मिक तथा विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित थीं जिनका दृष्टिकोण एक विशिष्ट वर्ग के लोगों का ही उत्थान करना था। अपने एकाङ्गी एवं सङ्कीर्ण दृष्टिकोण के कारण ये पत्र अधिक दिनों तक नहीं चल सके और इनका प्रकाशन स्थगित करना पड़ा। जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के इन पत्रों ने हिन्दी भाषा एवं हिन्दी पत्रकारिता के विकास में एक विशिष्ट गति दी और इनसे राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपने विकास की एक नवीन दिशा भी मिली। अत्यधिक सस्ते होने के बावजूद इन पत्रों के सम्पादकों एवं सञ्चालकों के समक्ष ग्राहकों की संख्या में निरन्तर कमी एक मुख्य समस्या बनी रही और ये न तो जनजीवन को ज्यादा गहरायी से प्रभावित कर सके और न दीर्घजीवी ही हो सके। जो कतिपय पत्र कुछ समय तक चल भी सके तो सम्पादक एवं प्रकाशक को स्वतः पत्र में सम्पादन-प्रकाशन का व्यय करना पड़ा था।

पत्रकारिता का नया आदर्श

बीसवीं शती के समारम्भ के साथ ही न केवल इलाहाबाद नगर की वरन् सम्पूर्ण हिन्दी जगत् की पत्रकारिता एवं साहित्य में एक नया आदर्श स्थापित हुआ, एक महत्वपूर्ण मोड़ आया। हिन्दी भाषा एवं चिन्तन के सभी धरातलों में एक नयी मान्यता का श्रीगणेश हुआ। इलाहाबाद के लिए यह गौरव की बात है कि इस नयी प्रगति-ज्योति के संदेशवाहक के रूप में सन् १९०० से ही 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह पत्रिका इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित होनी प्रारम्भ हुई और इसके सम्पादक मण्डल में उस समय सर्वश्री जगन्नाथदास, राधाकृष्णदास, श्यामसुन्दर दास, कार्तिक प्रसाद और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी सम्मिलित थे। इसके प्रवेशाङ्क की ही १५०० प्रतियाँ प्रकाशित हुई थीं और इसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक आदि विविध विषयक लेख एवं सामग्रियाँ प्रस्तुत की गयी थीं। हिन्दी पत्रकारिता, हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य——तीनों क्षेत्रों में मानदण्ड स्थापित करनेवाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९०३ में 'सरस्वती' का सम्पादन भार सँभाला था। बाद में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, श्री देवीदत्त शुक्ल तथा श्री देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' इसके सम्पादक रहे। इस समय इसका सम्पादन पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी कर रहे हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य द्विवेदी ने खड़ीबोली हिन्दी को परिष्कृत और परिमार्जित किया तथा लेखकों का एक विशाल वर्ग भी बनाया।

'सरस्वती' के प्रकाशन के कुछ समय पश्चात् पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा कृष्णकान्त मालवीय के सम्पादन में 'अभ्युदय' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन सन् १९०६ में प्रारम्भ हुआ। यह पत्र सन् १९१५ में अर्द्धसाप्ताहिक तथा १९१८ में दैनिक पत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा। 'अभ्युदय' की टिप्पणियाँ अत्यधिक प्रभावशाली होती थीं। हिन्दी पत्रों में इन दिनों किसी भी व्यक्ति को खुली चिट्ठी लिखने की परम्परा-सी थी, लेकिन इन चिट्ठियों को पूर्णता प्रदान करने का श्रेय पण्डित कृष्णकान्त मालवीय को है। उदाहरणस्वरूप कृष्णकान्त जी द्वारा वाइसराय लार्ड रीडिङ्ग के नाम लिखी गयी वह ऐतिहासिक चिट्ठी थी जो कई सप्ताह तक 'अभ्युदय' में प्रकाशित हुई थी। इस चिट्ठी को पढ़ने के लिए लार्ड रीडिङ्ग को इसका अनुवाद अंग्रेजी में कराना पड़ा था। 'अभ्युदय' में उच्चकोटि के सुरुचिपूर्ण लेख एवं सुपाठ्य सामग्री प्रस्तुत की जाती थी जिस कारण उसकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी।

सन् १९१० के पश्चात् प्रयाग से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की गिनती कर सकना इस छोटे से लेख में सम्भव नहीं है। सन् १९१० के बाद अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रयाग से निकलीं जिन्होंने न केवल पत्रकारिता को ही उन्नत किया वरन् जनता को सुशिक्षित एवं साक्षर करने में योग दिया। इनमें साहित्यिक, महिलोपयोगी, बालोपयोगी, धर्मपरक, जातिपरक, कानूनी, वैज्ञानिक, साहित्यिक, शोधपरक तथा हास्य सम्बन्धी पत्रों का मुख्य रूप से उल्लेख किया जा सकता है। प्रयाग से जितने भी पत्र निकले उनमें सबसे अधिक संख्या मासिक पत्रों की थी। साहित्यिक मासिक पत्रों में 'मर्यादा', 'चाँद' तथा 'विश्ववाणी' का मुख्य रूप से उल्लेख किया जा सकता है। मर्यादा पत्रिका

सर्वप्रथम अभ्युदय प्रेस से सन् १९११ में लक्ष्मीधर बाजपेयी तथा कृष्णकान्त मालवीय के सम्पादन में निकलनी प्रारम्भ हुई और सन् १९२१ तक बराबर निकलती रही। इसके पश्चात् यह पत्रिका बाबू सम्पूर्णानन्द के सम्पादकत्व में काशी से सन् १९२१ से निकलनी शुरू हुई। 'चाँद' तो वास्तव में चाँद ही था जो रामहरखसिंह सहगल एवं चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के सम्पादकत्व में यहाँ से सन् १९२२ में निकलना शुरू हुआ। इस पत्रिका के श्री चतुरसेन शास्त्री द्वारा सम्पादित दो अङ्क—फाँसी अङ्क तथा मारवाड़ी अङ्क—तत्कालीन ब्रिटिश शासन द्वारा जब्त कर लिये गये। सहगल जी ने 'भविष्य' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय ने काफी समय तक 'विश्ववाणी' नामक एक साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिका निकाली।

राष्ट्रीय विचारधारा के पत्र

राष्ट्रीय विचारधारा के पत्रों के प्रकाशन का प्रमुख केन्द्र प्रयाग रहा है। इन पत्रों के सम्पादक न केवल पत्र ही प्रकाशित करते थे वरन् देश के स्वाधीनता संग्राम में अपना सक्रिय सहयोग भी देते थे। इस प्रकार के पत्र में शान्तिस्वरूप भटनागर द्वारा सन् १८५७ की अर्धशताब्दी के उपलक्ष्य में निकाला गया उर्दू साप्ताहिक 'स्वराज्य' का प्रमुख रूप से उल्लेख किया जा सकता है। बताया जाता है कि भटनागर जी ने सरकारी नौकरी का त्याग कर और अपनी पत्नी के समस्त गहने बेंचकर इस पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। सम्भवतः सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में 'स्वराज्य' ही एक ऐसा पत्र था जिसके ९ सम्पादकों को लगातार गिरफ्तार किया गया और कई एक को तो कालेपानी की भी सजा दी गयी। प्रयाग से संयुक्त प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की ओर से शीतलासहाय जी के सम्पादकत्व में सन् १९२१ में 'स्वराज्य' नाम का एक हिन्दी साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित हुआ था जिसमें राष्ट्रीय विचारधारा सम्बन्धी सामग्रियाँ रहा करती थीं। पण्डित सुन्दरलाल ने सन् १९०८ में प्रयाग से ही 'कर्मयोगी' नाम का एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया जो प्रयाग पब्लिशिङ्ग कम्पनी से प्रकाशित होता था। यह पत्र पाक्षिक भी निकलता था। इस पत्र में देशोत्थान, राष्ट्रीय जागरण एवं राष्ट्र की आजादी की लड़ाई से सम्बन्धित लेखादि रहा करते थे। सुन्दरलाल जी ने १९१९ में 'भविष्य' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला था जिसने जनता में राष्ट्रीय चेतना पैदा करने में प्रमुख योग दिया।

दैनिक पत्र

प्रयाग से प्रकाशित दैनिक समारचारपत्रों की एक समृद्ध परम्परा रही है। प्रयाग से सन् १९१५ में सर्वप्रथम पण्डित मदनमोहन मालवीय जी के सम्पादकत्व में 'अभ्युदय' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस पत्र के साथ से ही प्रयाग में दैनिक पत्रकारिता का समारम्भ समझना चाहिए। यह पत्र राष्ट्रीय जनजागरण एवं राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक था। इसने राष्ट्रोत्थान तथा जनता में स्वराष्ट्र प्रेम की भावना भरने में अपूर्व योग दिया था। इसके बाद सन् १९१८ में प्रयाग से संयुक्तप्रदेश आगरा व अवध प्रान्त सरकार की ओर से 'प्राविन्शियल प्रेस ब्यूरो' नामक एक अन्य दैनिक पत्र प्रकाशित किया गया जो हिन्दी, अंग्रेजी एवं

उर्दू, तीनों भाषाओं में था। इसी नाम से इसी सन् में एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया गया। ये दोनों ही पत्र सरकारी नीतियों का प्रतिपादन करते थे और उनका प्रकाशन भी इसी उद्देश्य से किया गया था। पण्डित सुन्दरलाल जी ने सन् १९२० में अपने साप्ताहिक पत्र 'भविष्य' को दैनिक पत्र के रूप में निकालना शुरू किया लेकिन इस कार्य के अधिक व्यय-साध्य होने के कारण वे इसे अधिक दिनों तक चला न सके। प्रयाग से सन् १९२३ में राधामोहन गोकुल जी तथा देवकीनन्दन विभव ने 'नवयुग' नामक एक अन्य दैनिक पत्र का प्रकाशन शुरू किया। सन् १९२५ के लगभग पं० वेंकटेश नारायण तिवारी के सम्पादकत्व में 'साप्ताहिक भारत' का प्रकाशन लीडर प्रेस से शुरू हुआ जो सन् १९३३ में दैनिकपत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा। दैनिक 'भारत' के सम्पादक उस समय केशवदेव जी शर्मा थे। इस पत्र के सम्पादक के पद पर सर्वश्री नन्ददुलारे बाजपेयी तथा वलभद्रप्रसाद मिश्र ने भी काम किया है। दैनिक पत्रकारिता की अपनी पुष्ट परम्पराओं की रक्षा करता हुआ अब भी 'भारत' राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा देश की सेवा कर रहा है। यहाँ से सन् १९५० में श्री विद्याभास्कर के सम्पादकत्व में 'अमृत पत्रिका' नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो सन् १९५९ में आर्थिक कारणों से बन्द कर दिया गया। अपने प्रकाशन की अल्प अवधि में इस पत्र ने हिन्दी पत्रकारिता के उच्च आदर्शों को कायम रखते हुए हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्र में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। सन् १९६० से एक और दैनिक पत्र 'प्रयाग पत्रिका' का यहाँ से श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो अब भी किसी तरह निकल रहा है। सहकारिता पर आधारित यह देश का प्रथम हिन्दी दैनिक पत्र है। श्री श्रीनाथ सिंह ने भी प्रयाग से 'जनता' नाम का एक दैनिक पत्र निकाला था जो कुछ ही समय तक चल सका। यहाँ से उर्दू भाषा में भी दो दैनिक पत्र निकल रहे हैं।

हिन्दी पत्रकारिता के साथ-साथ अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का प्रयाग मुख्य स्थान रहा है और यहाँ से अनेक उच्चकोटि के अंग्रेजी पत्र प्रकाशित हुए हैं। इन पत्रों में 'क्राइसिस', 'द इण्डियन पीपुल', 'इंडिपेण्डेण्ट', 'ओरियण्ट', 'द लीडर', 'अमृत बाजार पत्रिका','ट्वैल्थ सेन्चुरी', का नाम मुख्य रूप से लिया जा सकता है। 'इण्डियन पीपुल' को सच्चिदानन्द सिन्हा ने निकाला था, जो सन् १९०८ में 'लीडर' के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। उस समय के प्रकाशित दैनिक पत्रों में 'लीडर' ही एक ऐसा पत्र है जो अब भी अपने सुलझे विचारों, निर्भीक अग्रलेखों तथा नवीनतम समाचारों से जनता की उत्तरोत्तर सेवा करता आ रहा है। इलाहाबाद में इतने सुदीर्घकाल से प्रकाशित हो रहा कोई भी प्रमुख दैनिक पत्र नहीं है। पंडित मोतीलाल नेहरू ने 'इण्डिपेण्डेण्ट' नाम का एक दैनिक पत्र निकाला था लेकिन वह कुछ समय बाद ही बन्द हो गया। सन् १९३९ के लगभग इलाहाबाद से 'अमृत बाजार पत्रिका' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिसके कलकत्ता से प्रकाशित संस्करण का भारतीय स्वाधीनता संग्राम में प्रमुख योग रहा है। स्वर्गीय मोतीलाल घोष तथा महात्मा शिशिर कुमार घोष ने अपने राष्ट्रवादी विचारों से सम्बन्धित जो परम्परा इस पत्र में कायम की, वह आज भी बनी हुई है। सन् १९५९ में 'अमृत बाजार पत्रिका' के प्रयाग संस्करण के आर्थिक कठिनाइयों से बन्द हो जाने के बाद एक दूसरी कम्पनी द्वारा 'नार्दन इण्डिया पत्रिका' नामक अंग्रेजी दैनिक पत्र प्रकाशित हो रहा है जिसके प्रधान सम्पादक श्री तुषारकान्ति घोष हैं।

महिलोपयोगी पत्र

प्रयाग से प्रकाशित महिलोपयोगी, बालोपयोगी तथा हास्यरस सम्बन्धी पत्रिकाओं की भी कमी नहीं रही है। महिलोपयोगी पत्रिकाएँ बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में महिला समाज में व्याप्त अन्धविश्वास तथा निरक्षरता आदि को दूर करने के लिए प्रयत्न करती रही हैं। उनका उद्देश्य महिलाओं के सामाजिक, मानसिक तथा राजनीतिक धरातल को ऊँचा करना था और इसमें वे अधिक सफल भी रही हैं। इनमें कुछ पत्रिकाओं के नाम इस प्रकार हैं—'मनोरमा' (१९२४, सम्पादक—महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य), 'स्त्री दर्पण' (१९०४, सम्पादिका—रामेश्वरी सिंह), 'कन्यामनोरंजन' (१९१३, सम्पादक-ओंकारनाथ बाजपेयी), 'दीदी' (सम्पादक—श्री श्रीनाथ सिंह), 'गृहलक्ष्मी', (१९०९, सम्पादक—सुदर्शनाचार्य बी० ए० तथा गोपाल देवी), 'महिला' (१९२४, त्रैमासिक, प्रयाग महिला विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित), 'माला' (सम्पादिका—कलावती देवी), 'भारत भगिनी' (१८८८, सम्पादिका—हरदेवी, पण्डित भीमसेन शर्मा), 'कन्या-चिकित्सा' (१९२५, सम्पादिका—यशोदा देवी), 'कन्या बोधिनी', 'कन्या सर्वस्व' (१९१३, सम्पादिका—यशोदा देवी), 'राजवैद्या' (१९२५, सम्पादिका—गोपाल देवी), 'मनोरमा' (प्रधान सम्पादिका—श्रीमती हीरा देवी चतुर्वेदी)।

बालोपयोगी पत्रिकाओं में 'बालभारती', 'बालसखा' (१९१७, सम्पादक—देवीदत्त शुक्ल), 'शिशु' (१९१५, सम्पादक—गोपाल देवी, सुदर्शनाचार्य, बी० ए०), 'खिलौना', 'मनमोहन' आदि मुख्य हैं। इनमें इण्डियन प्रेस से 'बालसखा' तथा माया प्रेस से 'मनमोहन' अब भी निकल रहे हैं। हास्यरस की पत्रिकाओं में 'बानर', 'गुलदस्ता', 'मदारी' एवं 'रंग' मुख्य हैं।

कहानी पत्रिकाओं के प्रकाशन का इलाहाबाद बहुत ही महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। नयी कविता और नयी कहानी के आन्दोलन की दृष्टि से प्रयाग का प्रमुख स्थान है। डॉ० जगदीश गुप्त के सम्पादन में 'नयी कविता' नामक संकलनात्मक पत्रिका ने हिन्दी में नयी कविता की व्यवस्थित नींव डाली है। दूसरी ओर श्री भैरवप्रसाद गुप्त के सम्पादन में 'कहानी' और 'नयी कहानियाँ' ने नयी कहानी के नये वस्तु-तत्व और रूप-शिल्प को जन्म दिया। माया प्रेस से प्रकाशित 'माया' पत्रिका कहानी के क्षेत्र में अपने नये प्रयोगों के साथ जनमानस को न केवल प्रभावित ही कर रही है वरन् कहानी की दिशाएँ, नयी चेतना एवं नये शिल्प का समारम्भ भी कर रही है। नागार्जुन के सम्पादन में लघु उपन्यासों की एक पत्रिका 'नवलिका' का कुछ दिनों तक सुव्यवस्थित ढङ्ग से प्रकाशन होता रहा; इनके सिवा 'मनोहर कहानियाँ', 'मंजरी' (सम्पादक, पं० देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त'), 'सजनी', 'साजन', 'छाया' आदि कहानी पत्रिकाएँ तथा 'रूपसी', 'कुसुम', 'रीत', 'रोमांच', 'गुप्तचर' आदि अन्य आख्यान, उपन्यास और पत्रिकाएँ इन दिनों प्रकाशित हो रही हैं।

अनुसन्धान पत्रिकाएँ

प्रयाग से निकलनेवाली शोध पत्रिकाओं का भी अपना एक स्थान है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित अत्यन्त प्राचीन और उच्चस्तरीय त्रैमासिक शोध पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' (१९१३) हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'सम्मेलन पत्रिका', 'प्रयाग विधि पत्रिका',

भारतीय हिन्दी परिषद द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी अनुशीलन', भूगोल कार्यालय से प्रकाशित 'भूगोल' (१९२४, सम्पादक—रामनारायण मिश्र), 'आलोचना', तथा 'गंगानाथ झा रिसर्च जर्नल' आदि पत्रिकाएँ अनुसन्धान की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन से श्री बालकृष्ण राव के सम्पादकत्व में सन् १९६४ से 'माध्यम' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन हो रहा है। इन पत्रिकाओं में 'हिन्दुस्तानी' तथा 'सम्मेलन पत्रिका' में हिन्दी भाषा, साहित्य, संस्कृति, कला एवं इतिहास सम्बन्धी शोधपूर्ण लेख रहते हैं। इस प्रकार हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि में ये प्रमुख योग दे रही हैं। 'कादम्बिनी' का भी प्रकाशन प्रयाग से शुरू हुआ था, जो अब दिल्ली से प्रकाशित हो रही है। 'उर्दू साहित्य' एवं 'डगर' नामक दो पत्रिकाएँ उर्दू लेखकों की रचनाओं को हिन्दी संसार के समक्ष प्रस्तुत कर रही हैं।

अन्य पत्र

पहले उल्लेख किया जा चुका है कि इलाहाबाद से प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं की संख्या काफी है। सन् १९०० के बाद से प्रकाशित कतिपय प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के नाम इस प्रकार हैं:—'कवि कौमुदी' (१९२४, सम्पादक—पं० रामनरेश त्रिपाठी), 'कवीन्द्र वाटिका' (१९०४ सम्पादक—पं० विश्वम्भर नाथ), तरुण कार्यालय से प्रकाशित 'तरुण' तथा 'छाया', 'हल', 'जीवन ज्योति', 'लहर', 'कर्त्तव्य सुधानिधि' (१९०१), 'तितली', 'सेवक' (१९२०), 'सेवा' (१९१९, सम्पादक—श्रीराम बाजपेयी तथा छेदीलाल), 'तूफान', 'संगम', 'मानव समाज,' 'देशदूत', 'रूपाभ', 'कलाकुशल' (१९१४), 'लीला', 'हंस', 'प्रतीक', 'आलोचना', 'विद्यार्थी', 'अपना देश', 'निकष', 'संकेत' (हिन्दी तथा उर्दू), 'साहित्यकार', 'सृजन', 'चेतना', और 'मंजरी' (सम्पादक—पं० शिवाधार पाण्डेय), 'काशी दर्पण' (१९१२ सम्पादक—तेजबहादुर सप्रू), 'किसान' (१९२१, सम्पादक—इन्द्रनारायण द्विवेदी), 'तीर्थराज', 'देवदर्शन' (१९२२), 'नवजीवन' (मासिक, १९१७), 'नागरी प्रवर्द्धिनी पत्रिका' (१९११, प्रयाग नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित), 'वनलता' (१९२३, सम्पादक—गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', गुरुदत्त, बी० ए० तथा शिवनन्दन पाण्डेय, बी० ए०), 'भारतवासी' (१९०८, रामगोपाल शर्मा द्वारा प्रकाशित), 'श्री यादवेन्द्र' (१९०९ सम्पादक—पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी तथा राधाकृष्ण मिश्र), 'हिन्दुस्तानी अखबार' (१९२०, साप्ताहिक पत्र), 'सन्यासी' (१९१७, सम्पादक—चन्द्रशेखर शर्मा), 'समाज' (१९१७, सम्पादक—चन्द्रशेखर शास्त्री), 'सर्वशिक्षक' (१९१६, सम्पादक—मुकुटबिहारी लाल), 'सुधानिधि' (१९१०, सम्पादक—पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल), 'सुधासिन्धु' (१९०८, सम्पादक—बैद्यनाथ शर्मा), 'विज्ञान' (१९१५, सम्पादक—श्रीधर पाठक, लाला सीताराम, प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव, प्रो० व्रजराज, प्रो० रामदास गौड़, डॉ० सत्यप्रकाश, युधिष्ठिर भार्गव, डॉ० गोरखप्रसाद), 'विज्ञान जगत्'।

जातीय और साम्प्रदायिक पत्रिकाओं में प्रयाग से जो कतिपय मुख्य पत्रिकाएं प्रकाशित हुई थीं, उनके नाम इस प्रकार हैं—'कलवार क्षत्रिय मित्र' (१९०५, सम्पादक—प्रेमीनाथ

योगीश्वर), श्री 'सरयूपारीण' (१९११, सम्पादक—इन्द्रदेव प्रसाद चतुर्वेदी,), 'हैहय क्षत्रिय मित्र,' 'केसरवानी समाचार', 'द्विजराज', 'कलवार मित्र' (१९०८, सम्पादक—बाँकेलाल), 'कान्यकुब्ज', 'रजक बंधु' (१९२२, सम्पादक—रूपनारायणलाल तथा राधाकृष्ण), 'राघवेन्द्र' (१९०४, सम्पादक—लक्ष्मीनारायण शर्मा, बी० ए०), 'राजपाल राजदूत समाचार' (१९१९), 'शुभचिन्तक' (१९११, चतुष्सम्प्रदाय वैष्णव महासभा द्वारा प्रकाशित)। ये पत्र बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की पुनरुत्थानवादी चेतना तथा समाज सुधारवादी विचारधारा के प्रतीक रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इलाहाबाद ने पत्रकारिता के क्षेत्र में यद्यपि अन्य नगरों की अपेक्षा कुछ विलम्ब से अवश्य पदार्पण किया किन्तु उसने पत्रकारिता के प्रत्येक क्षेत्र में नये प्रयोग एवं नवीन मान्यताएँ स्थापित कीं। प्रयाग के पत्रकारों ने अपनी साधना से न केवल पत्रकारिता के क्षेत्र में उच्चादर्श कायम किये वरन् भारतीय जनमानस में नवचेतना, नवस्फूर्ति एवं नवचिन्तन पैदा करने की दिशा में भी अत्यधिक योग दिया है। दैनिक और मासिक पत्रकारिता में नवीन शैली, साहित्यिक वादों और आन्दोलनों के प्रवर्तन, भाषागत परिष्कार, नवचेतना की स्थापना, नयी चिन्तन-पद्धति का सूत्रपात, राष्ट्रीयता, जनजागरण एवं देश में भावात्मक एकता पैदा करने आदि प्रत्येक क्षेत्र में इलाहाबाद की पत्र-पत्रिकाओं एवं पत्रकारों ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। पत्रारिता के क्षेत्र में इलाहाबाद ने जो प्रमुख योग दिया है उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि प्रयाग आज न केवल देश की धर्मपरायण जनता का ही वरन् साहित्य एवं पत्रकारिता का भी पुनीत तीर्थ बना हुआ है।

दो

•

भक्तवर नागरीदास का एक अप्राप्य ग्रन्थ 'वैण विलास'

•

मुरलीधर शहा

हिन्दी साहित्य में 'नागरीदास' नाम के कई कवि हो चुके हैं। नागरी (राधा) का सेवक बनकर उनका गुणगान करने में जो भक्त लीन हुआ, उसी ने अपना नाम नागरीदास

रख लिया। परन्तु इनमें सबसे प्रसिद्ध महाराज सावन्त सिंह जी थे जो कृष्णगढ़ के नरेश थे तथा 'नागरीदास' नाम से कविता करते थे। नागरीदास का जन्म पौष कृष्ण १२, संवत् १७५६ में हुआ था। शैशव से ही इन्हें जीवन में सङ्घर्ष करना पड़ा। आगे चलकर सिंहासन पर अधिकार प्राप्त करने के लिए भी इन्हें अपने भाई बहादुरसिंह से लड़ना पड़ा। गृह-कलह के कारण इन्हें राजपाट से गहरी विरक्ति हो गई और सब कुछ छोड़छाड़ कर ये वृन्दावन चले आये। इनका कविता-काल सं० १७८० से १८१६ तक माना जाता है। कृष्णगढ़ में इनकी लिखी छोटी-बड़ी ७३ पुस्तकें संग्रहीत हैं। **इनकी कतिपय पुस्तकें इस प्रकार हैं**—सिंगारसार, गोपीप्रेमप्रकाश (१८००), पदप्रसंगमाला, ब्रजबैकुंठतुला, ब्रजसार, भोरलीला, प्रातरसमंजरी, विहार-चंद्रिका (सं० १७९९), भोजनानंदाष्टक, जुगलरस माधुरी, फूलविलास, गोधन आगमन-वोहन, आनंदलग्नाष्टक, ग्रीष्मबिहार, पावसपचीसी, गोपीबैनविलास, रासरसलता, नैनरूपरस, शीतसार, इश्कचमन, मजलिस मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षाऋतु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रियाजन्मोत्सव कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्धनधारन के कवित्त, होरी के कवित्त, फागगोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमग दीपिका, तीर्थानन्द (१८१०), फागबिहार (१८०८), बालविनोद, बनविनोद (१८०९), सुजानानंद (१८१०), भक्तिसार, देहदशा, वैराग्यवल्ली, रसिक रत्नावली (१७८२), कलिवैराग्य-वल्लरी (१७९५), अरिल्ल पचीसी, छूटक विधि, परायणविधि, प्रकाश (१७९९), शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चचरियाँ रेखता, मनोरथ-मंजरी (१७८०), रामचरित्र माला, पदप्रबोध माला, जुगलभक्त विनोद, रसानुक्रम के दोहे, शरद की माँझ, साँझोंफूलबीनन संवाद, वसंतवर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फागखेलन समेतानुक्रम के कवित्त, निकुंज विलास (१७९४), गोविंद परचई, वनजन-प्रशंसा, छूटक दोहा, उत्सवमाला तथा पदमुक्तावली।[1]

उपर्युक्त ग्रन्थों का सङ्कलन 'नागरसमुच्चय' के नाम से निकल चुका है, पर इस सङ्कलन में नागरीदास द्वारा रचित 'वेणविलास' और 'गुप्तरस प्रकाश' ये दोनों ग्रन्थ नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र जी शुक्ल के अनुसार ये दोनों ग्रन्थ अप्राप्य हैं।[2] हिन्दी साहित्य, द्वितीय खण्ड के पृष्ठ ३९४ पर नागरीदास के नाम पर दी हुई ग्रन्थ-सूची 'नागरसमुच्चय' के आधार पर ही दी गयी है, अतः उसमें भी इन ग्रन्थों की कोई चर्चा नहीं है।

उक्त 'वेणविलास' ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति जिसमें तीस दोहे हैं, पूना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में सुरक्षित है। एक गुटके में ५ छोटे-छोटे हस्तलिखित ग्रन्थ हैं जिनमें से एक 'वेणविलास' है। ग्रन्थ के लिपिकाल तथा रचनाकाल का पता नहीं चलता; परन्तु लिपिकार की लिखावट सुन्दर है। हस्तलिखित ग्रन्थ काफी जीर्ण हैं। विद्वानों तथा रसिकों के अवलोकनार्थ उक्त ग्रन्थ की प्रतिलिपि अविकल प्रस्तुत है। इसमें भाषा आदि का कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

नागरीदास का यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के उपालम्भ-काव्य की परम्परा को समृद्ध करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। बाँसुरी को लक्ष्यकर गोपियों द्वारा किये गये कितने ही व्यंग्य, भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और मर्मस्पर्शी हैं।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ वेणविलास नागरीदाश कृत

पद

(राग सोरठ को)

बंसी हमसों वेर कियो॥अंतरो॥
पयकों अधर धार रसवन में निधूरक जाय पियो॥
या वेदन को दुष जाने जब देषे पेठि हियो॥
नागरिया वृज जुवतिनकों तें सरबस छीन लियो॥

दोहा

अहे बास की बसुरिया ते तप कीनौ कौन।
अधर सुधा पियको पियो हम तरसत विच मौन॥१॥

अरी छिमा करि मुरलिया परत तिहारे पाय।
आर सखी सुन होत सब महा दुषी हम हाय॥२॥

कियो न करिहै कौन नहि पिय सुहाग को राज।
अहे बावरी बसुरिया मुंह लागी मति गाज॥३॥

तो कारन ग्रह सुष तजे सहे जगत कौ घेर।
हमसो तुमसो मुरलिया कोन जनम कौ बेर॥४॥

हे अभिमानी मुरलिया करी सुहाग निस्राम।
अरी चलाये सवनी पै भले चाम के दाम॥५॥

मूष मूंद रहु मुरलिया कहा करत उतपात।
तेरे हांसी घरवसी ओरन के घर जात॥६॥

हरि चित लियौ चुरायकै रहो परत नही भुन।
तापर वंसी बाज मति देत कटे परि लौंन॥७॥

तू हु वृज की मुरलिया हम हु वृज की नारि।
येक बास की कांनी करि पठिर मंत्र न मारि॥८॥

मति मारे सर तानिके ना तोहै तो विचारि।
तीन लोक संग गाईये वंसी अरु वृज नारि॥९॥

सब कौ मन लै हाथ में पकर नचाई हाथ।
एक हात की मुरलिया लगि पिय अधरन साथ॥१०॥

पीय हमरिकौं लियौ अधर सुधा तै छीन।
हम तलफत सुनि बांसरी ज्यों बिन जल की मीन॥११॥

वाल चलावत मुरलिया कहा सुहाग को तोत।
मोसौं पिय टेढ़े रहै हमसूं सूधे होत॥१२॥

हम ही की तू दुतिका मुरली सब जग साषि।
हमही पर गाजत भली झूठ हमारी चाषि॥१३॥

पुनि मति बाजै बांसुरी मति पिय अधरन लागि।
अरी घरभसी देत क्यों रोम रोम मै आगि॥१४॥

फुकनि के चल तीर तन लगे परत नहीं चैन।
अंग अंग आप बधाय के हमहु बेधत वैन॥१५॥

हा हा अवरहि भूमि गहि मुरली करत अधीर।
मो सी ह्वै जो तू सूनै तव कछु पावे पीर॥१६॥

सबद सूनावत हमहि तूं देत नही छिन बैन।
अनबोली रहो तनक तो एक बकवादी बैन॥१७॥

अमल चलायो आपनो मूरली गर्ज गुमान।
हिये सूनै करि तियन को प्रान बसाये कान॥१८॥

घूमै भूंमै थकि उठै तू वंसी सुर लागि।
कहर जहर लहरै चढ़ी डसी भूवगम नाग॥१९॥

जिहि मोही सर वृजवधू मोहन मृदु मुसकाय।
सो मोहयो तैं मुरलिया बंधन मै ले जाय॥२०॥

अरे मुरलिया मोहनी तोसो कहा बसाय।
अधर सुधारस पायकै प्रीतम लियो छिनाय॥२१॥

पिये लियो पियमन लियो लियो अधर रस सूंमै।
मिईतो लियो तै कहा दियो वैरन वंसी सूंमै॥२२॥

वंसी वंसी नामए काहु धस्यौ प्रवीन।
तांन तांन की डोर सौं बेंधत है मन मीन॥२३॥

बड़े कड़े गुन बाँसरी बावन सील धूवैसै।
भली नचाई नाच है मसोकु ह्वै आदेस॥२४॥

आप षुदी नूषर भरी भई मूसदी मन।
गूदी पर क्यों चढ़त है मूदी ही करि वैन॥२५॥

कहां जानें तूं बासुरी मीजे मन की पीर।
को रीझू के हिये की अनबोली रहु वीर।।२६।।

गारि गगेले वंसरी महाद्रोह की षान।
मति मारे री मुरलिया ता मन विष के बान।।२७।।

हम हारी गारी जू दै जड़ सौं कहा वसाय।
मोन गहत न मुरलिया हाय हाय फिर हायै।।२८।।

मुरली सुनि तन मभई, आंसू दृगन बिसाल।
मूष आवै सोही कहै, प्रेम बिबस बृजबाल।।२९।।

नागरिया हिय लागकी दारु धरी दबाय।
आग राग वंसी लपट पुचि उठी भभकाय।।३०।।

।। इति श्री वेणविलास संपूरण श्लोक ।।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३२९: (२) वही।

तीन

•

कबीर, सूर और परमानन्ददास के कुछ श्रेष्ठतर पाठ

•

ओमप्रकाश सक्सेना

गुजराती लिपि में प्राप्त हस्तलिखित पद-संग्रहों का मध्ययुगीन हिन्दी काव्य के अनुशीलन में विशेष महत्व है। इन संग्रहों में मध्ययुग के अनेक प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध हिन्दी पदकारों के पद सङ्कलित हैं। जिन संग्रहालयों में ये पद-संग्रह प्राप्त हैं, उनमें से कुछ संग्रहालय ये हैं:—(१) गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद (गु०), (२) आचार्य निवास, दरियापुर (निजी संग्रह), अहमदाबाद (आ०), (३) डाही लक्ष्मी लायब्रेरी, नड़ियाद, (४) प्राच्य विद्या मन्दिर, बड़ौदा,

(५) मगनभाई देवशङ्कर का निजी संग्रह, बड़ौदा, (म०) (६) श्री फार्बस गुजराती सभा, बम्बई।

शोध-कार्य के सिलसिले में इन सभी स्थानों की मैंने स्वयं यात्रा की और लगभग ४०० हस्तलिखित पद-संग्रहों से लगभग दो हज़ार पद सङ्कलित किये, जिनमें अनुमानतः १५० पद तो ऐसे हैं जो अब तक अप्रकाशित हैं और प्राप्त किसी भी प्रकाशित ग्रन्थ में नहीं मिलते। ये पद हिन्दी के अध्येताओं के लिए सर्वथा नवीन हैं। इन पदकारों में कबीर, परमानन्ददास, कृष्णदास[1], मीरा, पीपा[2] आदि उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत लेख में कबीर, सूरदास और परमानन्ददास के कुछ महत्वपूर्ण पदों के प्राप्त पाठ की प्रकाशित पाठ से तुलना करके गुजराती लिपि में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के पाठ की उपयुक्तता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

कबीर

गुजराती हस्तलिखित प्रतियों में प्राप्त कबीर के अधिकांश पद प्रकाशित संग्रहों में समान रूप से मिलते हैं और कुछ पदों में सामान्य अन्तर भी मिलता है; किन्तु कुछ गुजराती प्रतियों में विभिन्न पदों के ऐसे पाठ मिलते हैं जो प्रकाशित संग्रहों के पाठों से श्रेष्ठतर हैं। यहाँ पर ऐसे ही स्थलों का निर्देश किया गया है।

(१) **'परम गुरु सोई दया कर दीन्हा'**[3] से प्रारम्भ होने वाले पद की छठी और साँतवीं पंक्तियों का पाठ इस प्रकार मिलता है—

बिन जिभ्या जहाँ अमृत अचवन,
जल बिन त्रिषा बुझाई।
जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ देखा,
यह सुख कासों कहना।

उपर्युक्त दोनों पंक्तियों के रेखाङ्कित पाठ विशेषरूप से विचारणीय हैं। इस पाठ के स्थान पर 'शब्दावली' (वेलवेडियर प्रेस), भाग २, पृष्ठ २२, शब्द १२ में—

बिना अन्न जहाँ अमृत रस भोजन,
जहाँ हरख तहाँ पूरन सुख है।

मिलता है, जो उपर्युक्त पाठ की तुलना में अधिक स्पष्ट नहीं। प्रसङ्ग है अभाव में ही भाव के अनुभव का। इससे पूर्व की पंक्तियों में बिना पैर के चलने, बिना चोंच के ही चुगने और बिना नैनों के ही सब कुछ देखने का वर्णन है। अतः उस शृङ्खला में बिना जिह्वा के अमृत का आचमन करना ही अधिक स्वाभाविक लगता है। इसी प्रकार 'जहाँ नहीं तहाँ सब कुछ देखा' से कबीर तथा अन्य सन्तों की उस विचारधारा का स्पष्टीकरण होता है, जिसके अनुसार शून्य अथवा

अव्यक्त में समस्त व्यक्त सत्ता का विलीनीकरण माना जाता है। दूसरे शब्दों में 'नहीं' को 'है' का आधार माना जाता है। 'शब्दावली' के पाठ से इस सूक्ष्म दार्शनिक युक्ति का सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है। प्रस्तुत रूप में वह एक सामान्य कथन हो गया है जो स्पष्ट ही परवर्ती हस्तक्षेप के कारण ज्ञात होता है।

(२) 'पवन पति उन मन रहना खरा'[४] से प्रारम्भ होने वाले पद की अन्तिम पंक्ति का पाठ इस रूप में प्राप्त होता है—

"कर करनि उतरसि पार येम कत कबीर सार"

इसमें रेखाङ्कित पाठ विचारणीय है। इसके स्थान पर 'कबीर ग्रंथावली' (सम्पा० डॉ० पारसनाथ तिवारी) पृष्ठ ६८, पदसंख्या ११५ में **"कहे कबीर विचारं करता लै उतरसि पारं"** पाठ ग्रहण किया गया है। किन्तु इस पाठ से पंक्ति के अर्थ में कुछ अस्पष्टता झलकती है। 'कबीर-ग्रंथावली' के पाठानुसार पंक्ति का अर्थ होगा—"कर्त्ता (परमात्मा) को साथ लेकर ही इस भव-सागर (संसार) से पार उतरता है।" इसकी तुलना में **आ०** के पाठ के अनुसार "अपनी करनी द्वारा पार उतर" यह अर्थ अधिक स्वाभाविक है और इसमें क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार 'कबीर ग्रंथावली' की तुलना में **आ०** का पाठ श्रेष्ठतर और ग्राह्य है।

(३) 'है कोई संत सहज सुख उपजें'[५] से प्रारम्भ होने वाले पद की तीसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है—

काया करारी भाटी करिहुँ,
गुरु का शब्द गुड़ कीना।

इस रेखाङ्कित पाठ के स्थान पर 'कबीर ग्रंथावली' (**सम्पा० डॉ० पारसनाथ तिवारी**), पद संख्या ५१ में 'श्री गुरु ग्रंथ साहब' के आधार पर, पाठ **निम्नलिखित** ग्रहण किया गया है :—

काया कलाली लाहनि मेलेंउ,
गुरु का शब्द गुड़ कीना।

'कबीर ग्रंथावली' के पाठ के अनुसार उपर्युक्त पंक्ति के प्रथम चरण का अर्थ होगा—"काया रूपी कलाली को लाभ के रूप में रखा"; किन्तु यह भाव को पूर्णतया स्पष्ट करने में असमर्थ है जब कि आ० के पाठ से अर्थ पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि काया को करारी (<कलाली =कलाल की) **भट्टी** बनाउँगा और गुरु के उपदेश को गुड़ बनाऊँगा। इस प्रकार 'कबीर ग्रंथावली' की अपेक्षा **आ०** के गुजराती लिपि में प्राप्त पाठ श्रेष्ठतर है।

(४) 'संतों आई ज्ञान की आंधी'[६] से प्रारम्भ होने वाले पद की अन्तिम पंक्ति का पाठ इस रूप में प्राप्त होता है:—

कहै कबीर सुनो रे साधो,
पाया राम षजीना।

इस पाठ के स्थान पर 'कबीर ग्रंथावली' (सम्पा० डॉ० पारसनाथ तिवारी) पद संख्या ५२ का पाठ इस प्रकार है :—

कहै कबीर मनि भया प्रगासा,
उदै भानु जब चीनां।

रेखाङ्कित पाठ को ग्रहण करने में दो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। एक तो 'उदै भानु' से 'उदय होता हुआ भानु' ऐसा अर्थ ग्रहण करने के लिये क्लिष्ट अन्वय करना पड़ता है। दूसरे, पूरे पद के प्रकृत प्रसङ्ग को ध्यान में रखते हुए 'उदै भानु जब चीना' की कोई सार्थकता ही नहीं प्रकट होती। इसके विपरीत 'पाया राम षजीना' (=खजाना का ठेठ अवधी रूप) अधिक स्वाभाविक और श्रेष्ठ पाठ है।

सूरदास

(१) 'धनि गोकुल जहाँ गोविंद आये'[७] से प्रारम्भ होने वाले पद की दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है:—

धनि धनि नंद सुमंगल निसदिन,
धनि जसुमति जिनि गोद खिलाये।

यहाँ 'गोद खिलाये' पाठ विशेष रूप से विचारणीय है। इस पाठ के स्थान पर 'सूरसागर' (ना० प्र० सभा), पद संख्या १००२ में 'श्री धर जाये' पाठ मिलता है जो उपर्युक्त पाठ की तुलना में अधिक उपयुक्त नहीं। कारण कि इस पद की प्रथम पंक्ति में ही 'कृष्ण' के गोकुल में आने का वर्णन है जिसके लिए गोकुल को धन्य-धन्य कहा गया है। 'सूरसागर' में पुनः आरम्भिक पंक्ति में 'गोविन्द' कहते हुए भी 'श्रीधर कहकर' पुनरावृत्ति की गई है जो अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होता, जबकि गु० का पाठ 'गोद खिलाये' अधिक स्वाभाविक है।

(२) 'सुनियत राम तियागी दान'[८] पंक्ति से प्रारम्भ होने वाले पद की पाँचवीं पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है—

प्रभु प्रहलाद को क्रीपा करि,
प्रभु इन्द्र हुते...।

उक्त पंक्ति का अन्तिम अंश स्पष्ट नहीं है। इस पंक्ति के स्थान पर सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद संख्या १३५ में निम्न पाठ मिलता है :—

"विप्र सुदामा कियो अजाची प्रीति पुरातन जान।"

सूरसागर की यह पंक्ति केवल पुनरावृत्ति ही है। कारण कि इसी पद की दूसरी पंक्ति में सुदामा का वर्णन इस प्रकार आया है—

"चारि पदारथ दियो सुदामें, औ गुरु सुत को आन।"

जब पद में एक बार 'सुदामा' का प्रसङ्ग आ चुका है तो पुनः उनका उल्लेख होना अनावश्यक है। गु० का पाठ एक नवीन प्रसङ्ग प्रस्तुत करता है जो अधिक उपयुक्त है।

(३) 'हरि के जन की अति ठकुराई'[९] से प्रारम्भ होने वाले पद की ग्यारहवीं पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है—

अर्थ काम दोउ भाज गये दुरि,
धर्म मोक्ष सिर नायो।

इसमें 'भाज गये दुरि' पाठ विचारणीय है। इसके स्थान पर सूरसागर (ना० प्र० सभा), पदसंख्या ४० में 'रहैं दुवारें' पाठ मिलता है। किन्तु इसी पद की नवीं पंक्ति में अष्टसिद्धियों के प्रसङ्ग में भी "अष्ट महासिधि द्वारे ठाढी" का उल्लेख है। इस प्रकार सूरसागर (ना० प्र० सभा) के पाठ में पुनः ग्यारहवीं पंक्ति में 'अर्थ काम को द्वार पर खड़े करने के' वर्णन से अनावश्यक पुनरावृत्ति ही होती है। इसकी तुलना में आ० का पाठ अधिक उपयुक्त है, क्योंकि उसमें अर्थ की उत्कृष्टता भी है और साथ ही पुनरावृत्ति के दोष से वह मुक्त भी है।

(४) 'बलि बलि चरित्र गोकुल राई'[१०] से प्रारम्भ होने वाले पद की १९ वीं पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है—

"कहा लै वरने एक रसना किये बहुत उपाय"

सूरसागर (ना० प्र० सभा), पद सं० ११११६ में पाठ 'एक रसना' के स्थान पर निम्न लिखित पाठ मिलता है :—

कहा लै वरने कोटि रसना हिए बुद्धि उपजाइ।

'कोटि रसना' की तुलना में 'एक रसना' की असमर्थता स्वतः सिद्ध है। जहाँ कवि अपनी विवशताओं का वर्णन कर रहा है, वहाँ कृष्ण की असंख्य लीलाओं का गान करने के लिए अपनी एक रसना पर हाय हाय करना अधिक युक्तिसङ्गत है।

(५) 'एसो पत्र लिख पठ्यो नृप वसंत'[११] से प्रारम्भ होने वाले पद की दूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है :—

कागद नव दल अबं पात,
दोतु कमल मिस (मसि) भमर गात।

यहाँ 'दोतु' पाठ विचारणीय है। इसके स्थान पर 'सूरसागर' (ना० प्र० सभा), पद संख्या ३४६५ में 'देति' पाठ मिलता है जो अर्थ की दृष्टि से उपयुक्त नहीं। प्रसङ्ग के अनुसार नृप वसन्त ने गोपियों के मान-मर्दन के लिए जो पत्र भेजा है, उस पत्र के लिखने के लिए कमल को दवात और भ्रमर को स्याही का रूपक दिया गया है। 'दोतु' शब्द का अर्थ द्वात है और यही पाठ 'कीर्तन-संग्रह' (देसाई), भाग २, पृष्ठ १४ पर 'द्वात' के रूप में मिलता है!

परमानन्ददास

(१) **'यहे मांग संकर्षन बीर'**[१] पंक्ति से प्रारम्भ होने वाले पद की पाँचवीं पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है—

मन कर्म वचन स्मरपन कीनो,
मर्जन पान तरनजा नीर।

यहाँ 'तरनजानीर' पाठ विशेष रूप से विचारणीय है। इस पाठ के स्थान पर 'परमानन्द सागर' (काँकरोली, विद्या विभाग), पद संख्या ६०७ तथा 'परमानंद सागर' (डॉ० गोवर्धन शुक्ल द्वारा सम्पादित), पद संख्या ९०० में 'सुरसरि नीर' मिलता है जो उपयुक्त पाठ की तुलना में प्रसङ्गोचित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि कृष्ण के प्रसङ्ग में यमुना का ही वर्णन अभीष्ट ज्ञात होता है। गङ्गा का वर्णन स्पष्ट ही असङ्गत प्रतीत होता है। इसलिए म० का पाठ 'तरनजानीर' ही श्रेष्ठतर तथा सार्थक है।

(२) इसी प्रति में प्राप्त **'कुंज भवन में मंगलचार'** पंक्ति से प्रारम्भ होने वाले पद की अन्तिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है—

"दीनी भुरयदास परमानंद प्रेम भक्त रत्न को हार"

'परमानंदसागर' (कांकरोली, विद्या विभाग) पदसंख्या १५९ में केवल 'दीनी भुरय-परमानंददास' ही पाठ प्राप्त होता है, जो खण्डित तथा तुकहीन है। हम इस अभाव की पूर्ति उपर्युक्त पाठ से कर सकते हैं।

(३) इसी प्रति में प्राप्त **'प्रकट भये श्री राम माई'** से प्रारम्भ होने वाले पद की द्वितीय पंक्ति का पाठ इस रूप में मिलता है—

"हरषित नगरी दशरथ की सुनत मनोहर नाम"

'परमानंदसागर' (डॉ० गोवर्धन शुक्ल द्वारा सम्पादित), पदसंख्या ३३८ तथा 'कीर्तन संग्रह' प्रथम भाग, उत्तरार्ध, पृष्ठ १९५ तथा गुजरात विद्या सभा की प्रति संख्या १०००में 'हरषित नगरी' के स्थान पर 'हत्या तीन गई' पाठ मिलता है। 'परमानंद सागर' (काँकरोली) पदसंख्या १२२१ में 'सब जंजाल मिटे' प्राप्त होता है। प्रसङ्ग राम-जन्म का है। अयोध्या में राम के जन्म लेते ही सर्वत्र आनन्द ही आनन्द छा गया। सारी नगरी प्रसन्न हो उठी। ऐसी दशा में 'हरषित नगरी' पाठ अधिक उपयुक्त है। 'हत्या तीन गई' पाठ अन्य दृष्टि से भी चिन्त्य है; क्योंकि प्राचीन आख्यानों में एक श्रवणकुमार की हत्या का प्रसङ्ग मिलता है, किन्तु उससे भी दशरथ मुक्त नहीं हुए। 'तापस अंध शाप' की विभीषिका उनका पीछा अन्तिम समय तक नहीं छोड़ती। अतः इस विवादग्रस्त पाठ की तुलना में 'हरषित नगरी' पाठ अधिक स्वाभाविक तथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

(४) **'मदन गोपाल हमारे राम'**[१३] से प्रारम्भ होने वाले पद की तृतीय पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है—

अपनी भुजनि जिनि जलनिधि बाधौं।
रास रचो जीते कोटिक काम॥

'परमानंदसागर' (काँकरोली, विद्या विभाग), पदसंख्या १३०९ में 'रास रचौ' के स्थान पर 'रास नचाय' पाठ मिलता है। 'रास' के प्रसङ्ग में 'रचाना' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण कृष्ण-साहित्य में मिलता है। 'रास नचाना' कहीं भी नहीं प्राप्त होता और अब तो 'रास रचाना' मुहावरा ही हो गया है। काँकरोली पाठ की आधार प्रति में वस्तुतः प्राचीन नागरी के 'न' तथा 'र' के सादृश्य से यह भ्रमात्मक पाठ आ गया है।

(५) इसी प्रति में **'मदन गोपाल हमारे राम'** से प्रारम्भ होने वाले पद की चौथी पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है :—

दस सिर हनि जाने असुर सिंघारे,
गोबरधन राखो कर बामुं।

यहाँ 'बामुं' पाठ विचारणीय है। 'परमानंदसागर' (कांकरोली, विद्या विभाग), पदसंख्या १३०९ में 'बामु' के स्थान पर 'बानु' पाठ मिलता है जो उपर्युक्त पाठ की तुलना में उपयुक्त नहीं। सूरदास के एक पद की निम्नलिखित पंक्ति में भी इस प्रसंग में 'बामकर' का उल्लेख मिलता है, जिससे निर्दिष्ट पाठ की प्रामाणिकता सिद्ध होती है :—

तृना केसी सकट बकी बक अघासुर,
बामकर राखि गिरि ज्यौं उबारयो।—सूरसागर (सभा), पद १२१४

(६) **'खेलत मदन गोपाल बसंत'**[१४] से प्रारम्भ होने वाले पद की चतुर्थ पंक्ति का पाठ इस प्रकार मिलता है :—

अंग अंग प्रति प्रीति निरंतर,
निस आगम रितु करत विलास

'परमानंदसागर' (डॉ० शुक्ल), पद संख्या ३८० में 'रितु करत' के स्थान पर 'सजाई' पाठ मिलता है जो उपयुक्त नहीं ज्ञात होता। कारण कि 'सजाई' पाठ से एक मात्रा की कमी होती है और गतिभङ्ग द्वारा पद की गेयता नष्ट हो जाती है। अतः 'रितु करत' पाठ ही अधिक उपयुक्त तथा श्रेष्ठ है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) द्रष्टव्य, लेखक का सम्मेलन पत्रिका, भाग ५०, सं० १ में प्रकाशित 'कृष्णदास के कुछ अप्रकाशित हिन्दी पद' (२) द्रष्टव्य, लेखक का 'हिन्दुस्तानी' भाग २४, अंक २ में प्रकाशित 'पीपाकृत 'चिंतामणि' एक अप्रकाशित रचना' (३) ह० प्र० स० १ आ० (४) वही (५) वही (६) वही (७) ह० प्र० सं० ८०१गु० (८) वही ६६४गु० (९) वही २ आ० (१०) वही (११) ह० प्र० सं० १५०३गु० (१२) वही १ म० (१३) वही १५३२गु०, (१४) वही २७०२ गु०।

चार

•

क्या मुरलीधर कवि भूषण के आश्रयदाता चन्देरी के राजा देवी सिंह गोंड़ थे?

•

वेदप्रकाश गर्ग

कन्हैयालाल मुंशी हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा द्वारा प्रकाशित तथा उक्त विद्यापीठ के तत्कालीन निर्देशक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद द्वारा सम्पादित, मुरलीधर कवि भूषण कृत 'छंदो हृदय प्रकाश' नामक पिङ्गल ग्रन्थ के सम्बन्ध में डॉ० किशोरी लाल गुप्त का एक विस्तृत विश्लेषणात्मक लेख, हरिऔध कला भवन, आजमगढ़ की त्रैमासिक मुखपत्रिका 'हरिऔध' वर्ष ३, अङ्क १ में प्रकाशित हुआ है।

रचना के महत्त्व को देखते हुए डॉ० गुप्त ने अपने लेख में उक्त ग्रन्थ का विस्तार से विश्लेषण एवं छान-बीन कर, विद्वत्तापूर्वक उसके सम्पादन एवं प्रकाशन विषयक त्रुटियों का परिहार किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि डॉ० गुप्त का प्रयास सराहनीय है, किन्तु मुरलीधर कवि भूषण की रचनाओं—'छंदो हृदय प्रकाश' तथा 'अलंकार प्रकाश' और उसके आश्रय दाताओं से सम्बन्धित ऐतिहासिक विवरण देने में कुछ त्रुटियाँ हो गई हैं। उक्त ऐतिहासिक विवेचन यद्यपि गोरेलाल तिवारी के 'बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास' पर आधारित है, लेकिन लगता है, ग्रन्थ के कहीं-कहीं समझ में न आने और कहीं मूल ही में अशुद्धियाँ होने के कारण डॉ० साहब भ्रमित हुए हैं। डॉ० गुप्त की निम्नलिखित ऐतिहासिक त्रुटियाँ द्रष्टव्य हैं :—

(१) मुरलीधर कवि भूषण ने अपने आश्रयदाता गोंड राजा हृदयशाह की विस्तृत वंशावली 'छंदो हृदय प्रकाश' के प्रथमोल्लास में दी है जो इस वंश के पहले राजा जादव राय से प्रारम्भ होकर हृदय शाह तक आई है। इस पर विचार करते हुए डॉ० गुप्त ने लिखा है[१] :— "इस वंश में पहला प्रतापी राजा संग्राम शाह हुआ; और पहले के राजाओं का केवल नाम मिलता है। संग्राम शाह अर्जुन दास का बेटा था। यह सं० १५७२ से १५८५ के मध्य गद्दी पर बैठा था।.... इसका देहान्त संवत् १५८८ में हुआ।"

संग्राम शाह के उपर्युल्लिखित राज्यारोहण-काल तथा मृत्यु-संवत् अशुद्ध हैं। प्राप्य प्रमाणों के आधार पर राज्यारोहण का समय सं० १५३७ के लगभग और मृत्यु-संवत् १५९८ के आस-पास सिद्ध होता है।[२] शाह ने ६० वर्ष के लगभग राज्य किया था। यदि डॉ० गुप्त 'बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास' के पृष्ठ ९९ की (२) संख्यक पाद-टिप्पणी पर ही दृष्टिपात कर लेते तो उन्हें लिखने से पूर्व अवश्य सोचना पड़ता, जिसमें कि संग्राम शाह के राज्यारोहण-काल, मृत्यु-संवत् तथा राज्य-काल पर विचार दिये हैं।

(२) संग्राम शाह के पश्चात् उसका पुत्र दलपति शाह गद्दी पर बैठा। इसका विवाह चन्देल राजा की रूपवती कन्या दुर्गावती से हुआ था। दलपति शाह और दुर्गावती के सम्बन्ध में डॉ० गुप्त लिखते हैं—"ब्याह के चार ही वर्ष बाद दलपति शाह का देहान्त सं० १५९५ में हुआ। इन्होंने केवल ७ वर्ष राज किया था। उस समय इनके पुत्र वीर नारायण की वय केवल ३ वर्ष की थी। रानी दुर्गावती ने १४ वर्ष तक अपने पुत्र की ओर से राज्य किया। सं० १६१० में अकबर के सूबेदार आसफ खाँ ने गोंडवाना पर चढ़ाई कर उसे लूटा। इसी युद्ध में वीर नारायण और रानी दुर्गावती, दोनों मारे गए।" (पृ० १६)।

उपर्युक्त तिथियाँ अशुद्ध हैं। इनकी कोई सङ्गति इतिहास से नहीं बैठती। दलपति शाह और दुर्गावती का परिणय-सम्बन्ध सं० १६०२ (सन् १५४५ ई०) में हुआ था।[३] अकबर के सूबेदार आसफ खाँ ने गोंड़वाना पर सं० १६२१ (सन् १५६४ ई०) में आक्रमण किया था।[४] सं० १६१० में तो अकबर भी गद्दी पर नहीं बैठ पाया था। वह तो सं० १६१३ (सन् १५५६ ई०) में राज्यासीन हुआ था। अतः सं० १६१० में चढ़ाई का प्रश्न ही नहीं उठता। संग्राम शाह की मृत्यु संवत् १५९८ के लगभग हुई थी और इसके बाद ही दलपति शाह गद्दी पर बैठा था। इस प्रकार ही समस्त ऐतिहासिक सङ्गति लग सकती है, अन्यथा नहीं।

(३) रानी दुर्गावती और वीर नारायण की मृत्यु के अनन्तर चन्द्र शाह राजा हुआ। यद्यपि गोरे लाल तिवारी ने 'बुंदेल खंड का संक्षिप्त इतिहास' में यह स्पष्ट नहीं किया है कि यह चन्द्र शाह कौन था; किन्तु जैसा कि 'छंदो हृदय प्रकाश' में इसे संग्राम शाह का पुत्र बतलाया है, यह उल्लेख ठीक है। डाँ० हीरालाल ने अपने 'मध्यप्रदेश के इतिहास' में चन्द्रशाह को दलपति शाह का भाई ही लिखा है।[५]

(४) आगे डाॅ० गुप्त लिखते हैं--"चन्द्रसाह के उपरान्त उसका बेटा मधुकर साह राजा हुआ, जो संवत् १६४७ में जल मरा।" (पृ० १८)।

इतिहास में जहाँगीर तथा वीरसिंह देव के उल्लेख से उपर्युक्त संवत् अशुद्ध ज्ञात होता है। जहांगीर सं० १६६२ में गद्दी पर बैठा था और इसके पश्चात् ही वीरसिंह देव ओड़छा के राजा हुए थे। अतः मधुकर शाह की मृत्यु की घटना सं० १६४७ की नहीं हो सकती। यह घटना सं० १६७४ की प्रतीत होती है।

(५) मुरलीधर 'कविभूषण' ने 'अलंकार प्रकाश' की रचना सं० १७०५ में देवी सिंह अथवा देवी शाह के लिए की थी। इन्हीं देवी सिंह ने मुरलीधर को 'कविभूषण' की पदवी दी थी। कवि के आश्रयदाता देवी शाह के विषय में डाॅ० गुप्त लिखते हैं--"देवी शाह को कैप्टेन शूरवीर सिंह ने गहरवार या बुन्देला कहा है, जो ठीक नहीं। देवी शाह भी गोंड़ थे और हृदयसाहि के ही परिवार के थे। यह चन्देरी के राजा थे। बुन्देलखण्ड के संक्षिप्त इतिहास में इनका भी नाम आया है। . . . जुर्माना न देने पर शाही सेना ने ओरछा जीत कर चन्देरी के गोंड राजा देवीसिंह को दे दिया। स्पष्ट ही देवीसिंह हृदयसाहि के परिवार का है और उसका समकालीन है। सम्भवतः उसका भाई है, चाहे चचेरा, चाहे सगा।" (पृ० २६)।

इसी प्रकार डाॅ० गुप्त ने अपने इसी लेख में अन्यत्र भी कई स्थानों पर देवीसिंह को चन्देरी का गोंड राजा लिखा है किन्तु चन्देरी के राजा देवीसिंह गोंड़ नहीं थे और न हृदयसाहि के परिवार के ही थे। वस्तुतः चन्देरी के राजा देवीसिंह बुन्देला थे और वीरसिंह देव बुंदेला के परिवार के ही थे। ये वीरसिंह देव के बड़े भाई राम शाह के प्रपौत्र तथा भारथ शाह के पुत्र थे। ये निश्चय ही गोंड़ राजा हृदयसाहि के समकालीन थे। 'बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास' में देवीसिंह का नाम अवश्य आया है, किन्तु इन्हें कहीं भी गोंड़ नहीं लिखा है। ग्रन्थ का अवलोकन करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि चन्देरी के राजा देवीसिंह बुन्देला हैं, न कि गोंड़। इसी इतिहास ग्रन्थ के अन्त में दिये हुए परिशिष्ट ४ में बुन्देलों के वंश-वृक्ष दिए हुए हैं, जिनमें (१) तथा (१२) संख्यक वंश-वृक्षों से वास्तविकता का बोध होता है।[६]

कैप्टेन शूरवीर सिंह ने देवी सिंह को जो गहरवार या बुन्देला कहा है, यह कथन उपयुक्त है। बुन्देलों की उत्पत्ति गहरवार राजवंश से है, अतः बुन्देले गहरवारों के अन्तर्गत ही आते हैं।

(६) 'छंदो हृदय प्रकाश' के १३ वें उल्लास के अन्त में मुरलीधर ने अपना परिचय एक छन्द में दिया है जिसकी तीसरी पंक्ति इस प्रकार है--

"मुरलीधर ता सुअन सु पंचम देवी सिंह किअउ कवि भूषन"

डॉ० गुप्त ने इस पंक्ति के आधार पर मुरलीधर को अपने पिता का पाँचवा पुत्र माना है। मेरा इस सम्बन्ध में यह विचार है कि 'पंचम' शब्द 'पाँचवें' के अर्थ में न आकर देवी सिंह के लिए आया है और यह 'बुन्देला' का द्योतक है। मेरी राय में उक्त पंक्ति का अर्थ इस तरह होना चाहिए--"उसके (रामेश्वर) पुत्र मुरलीधर को बुन्देला (पंचम) देवी सिंह ने कवि भूषण किया"।

बुन्देल-वंश का प्रथम राजा पञ्चम था। इसने विंध्यवासिनी की तपस्या करते समय एक बार देवी को अपना सिर चढ़ाने के लिए तलवार निकाली, जिसकी चोट से रक्त की बूंदें पृथ्वी पर गिरीं। देवी ने प्रकट होकर इसे वरदान दिया। तब से यह बुन्देला कहलाने लगा और इसके वंशज बुन्देले कहलाये। बुन्देले 'पंचम' की सन्तति होने के कारण 'पञ्चम' भी कहलाते हैं। अतः मेरे विचार में उक्त पंक्ति का 'पंचम' शब्द 'बुन्देला' का ही द्योतक है। और फिर, अपना वंश-परिचय देते हुए, कवियों में प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि पुत्र होने की सूचना देने की ऐसी कोई परम्परा भी नहीं है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) हरिऔध, वर्ष ३, अङ्क १, पृ० १५ (२) डॉ० हीरालाल : मध्यप्रदेश का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ८६, ८७, ८८, पा०, ९० (३) केशवचन्द्र मिश्र : चन्देल और उनका राजत्व-काल, ना० प्र० सभा, काशी, ृ० १३८ (४) मआसिरुल् उमरा, भाग २, पृ० ११६ (हिन्दी-अनुवाद, ना० प्र० सभा, काशी) (५) वही, पृ० ९३, ना० प्र० सभा, काशी (६) मआसिरुल् उमरा, भाग १, पृ० २२० तथा बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३८४, ३९२, ना० प्र० सभा, काशी।

पाँच

•

प्राचीन भारतीय शल्य चिकित्सा

•

हरिहरप्रसाद गुप्त

शल्य-चिकित्सा का समारम्भ लड़ाई में घायल शूरवीरों की सेवा, उनके घावों की पूर्ति, हथियारों से क्षत-विक्षत उनके अङ्गों की रक्षा तथा शरीर में धँसे हुए शल्यों (वाणों-भालों) से उनकी मुक्ति के निमित्त हुआ। 'सुश्रुत संहिता' अ० १।३० में इसका इस प्रकार

निर्देश है—'एतद्धयंगं प्रथमं **प्रागभिघातव्रणसंरोहाद्यज्ञ** शिरः संधानाच्च' अर्थात् आयुर्वेद का प्रथम अङ्ग—शल्यतंत्र—पूर्व अभिघातजन्य व्रण के आरोहण (भरने का भाव) तथा यज्ञ (दक्ष) के शिर को जोड़ देने से (रुद्र या शिव जी ने यज्ञ या दक्षप्रजापति का शिर काटा था) प्रमुख है।

देवताओं की प्रार्थना पर अश्विनीकुमारों ने दक्ष का शिर जोड़ा था। इसी शल्यतंत्र का उपदेश भगवान् धन्वन्तरि ने अपने शिष्य सुश्रुत को दिया—

अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरि-मौपधेनववैतरणीरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यपुररक्षित सुश्रुतप्रभृतयः ऊचुः॥

अर्थात् एक समय औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुर, रक्षित, सुश्रुत आदि ऋषि धन्वन्तरि काशिराज दिवोदास से बोले कि—"भगवन्, प्रजा सनाथ होते हुए भी अनाथ है—क्योंकि वह शारीरिक, मानस, आगन्तुक और स्वाभाविक व्याधियों से पीड़ित है। इन सुख चाहने वाले रोगियों की रोग-शान्ति के लिए आप हमें आयुर्वेद का उपदेश करें।"

उत्तर में धन्वन्तरि ने बताया कि आयुर्वेद, अथर्ववेद का उपाङ्ग है और आयुर्वेद के ८ अङ्ग हैं—

(१) शल्यतन्त्र, (२) शालाक्यतन्त्र, (३) कायचिकित्सा, (४) भूतविद्या, (५) कौमार-भृत्य (६) अगदतन्त्र, (७) रसायनतन्त्र, (८) बाजीकरणतन्त्र।

शल्य से क्या अभिप्राय है, इसे अनष्टशल्यविज्ञानीय अध्याय (सु० संहिता) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—**'शल्‌श्वल् आशुगमने'** धातुस्तस्य शल्यमिति रूपम्॥

अर्थात् शल्, श्वल्=आशुगमने धातु हैं; इनमें शल् (शीघ्र गमन करना) धातु में यक् प्रत्यय योग से **शल्य** शब्द बना। यह शल्य दो प्रकार का है—

"तद्विविधं शारीरमागन्तुकं च सर्वशरीरबाधाकरम्"

अर्थात् यह शल्य शारीरिक और आगन्तुक दो प्रकार का है और समस्त शरीर में बाधा करनेवाला है।

शारीरिक शल्य—जिसके शरीर में रोम, नाखून, या धातु (रस-रक्तादि) या अन्नमल (मूत्र-पुरीष) या दोष (वायु-पित्त-कफ) बिगड़ गए हों।

आगन्तुक शल्य——लोहा, बाँस, वृक्ष, तृण, सींग, अस्थि आदि (जो शारीरिक शल्य में नहीं है या बाहर से आते हैं) आगन्तुक हैं। लोहे की पैनी नोक या लोहे के शर या वाण मारण होते हैं। युद्ध करनेवालों को आगन्तुक शल्य का कष्ट होता है। ये शल्य शरीर के किसी प्रदेश में—धमनी, स्रोत, अस्थि, मांस कहीं भी—स्थिर होकर प्राण ले सकते हैं।

वाण (शल्य) कैसे होते थे, इसका भी विवरण 'सुश्रुत संहिता' में है। वाण, दो प्रकार के होते थे—(१) कर्णी अर्थात् जिनके कोर या किनारे तीक्ष्ण हो (२) श्लक्ष्ण अर्थात् सीधी नोक वाले। आकार के अनुसार ये वाण कुछ पत्तों के आकार के, कुछ पुष्पों के आकार के, कुछ फल के आकार के, कुछ सर्प, मृग या पक्षी के मुख के आकार के होते थे।

इन शल्यों की गति इस प्रकार होती है--(१) ऊपर को (२) नीचे को (३) अर्वाचीन (पीछे को) (४) तिर्य्यक् (तिरछी) (५) ऋजु (सीधी)। यथा :--

सर्व शल्यानां तु महतामणूनां वा पंचविधो
गतिविशेष ऊर्द्धमधोऽर्वाचीनस्तिर्यगृजुरिति ॥

--सु० सं०, प्रनष्ट शल्यविज्ञानीयमध्यायं २६।६

भिन्न-भिन्न शल्य शरीर में किस प्रकार स्थित होते हैं, इसका भी वर्णन है--"अस्थि शल्य (हड्डी का टुकड़ा) शरीर में बिखर जाता है, सींग का शल्य शरीर में प्रायः नहीं बिखरता, तथा लोहे का शल्य (टुकड़ा) शरीर में छिन्न-भिन्न नहीं होता--ज्यों का त्यों रहता है। लकड़ी का शल्य, बाँस या तृण का शल्य यदि शीघ्र ही न निकाला जाय तो वह रुधिर-मांस को पका देता है। सुवर्ण, चाँदी, ताँबा, पित्तल या जशद, रांगा तथा सीसे का शल्य पित्त के तेज से पिघलकर चिरकाल में शरीर में लय हो जाता है। सींग, दांत, बाल, हाड़, बाँस, लकड़ी, पत्थर तथा ठिकरी--इनके शल्य शरीर में लय नहीं होते हैं। ये शल्य शरीर में अवबद्ध (आसक्त या चिपके हुए) या अनवबद्ध (अनासक्त) होते हैं।"

सब छोटे-बड़े शल्यों के निकालने के दो ही ढङ्ग हैं--(१) प्रतिलोम अर्थात् उलटा (२) अनुलोम। जो शल्य शरीर में थोड़ी दूर घुसा हो उसे उलटा करके और जो पराचीन (आर-पार दिखाई देता हो) हो उसे अनुलोम अर्थात् जहाँ से निकट हो वहाँ से निकाले। उत्तुण्डित या टूटे हुए शल्य को काटकर निकाले; अनुतुण्डित को सहज ही बिना हिलाए काट निकाले। शल्य निकालते समय रोगी मूर्च्छित हो जाय तो ठण्डे पानी के छींटे दे। शल्य निकाल कर पट्टी आदि बाँध कर उचित पथ्य का विधान करे। आवश्यकता पड़ने पर चीर-फाड़ कर शल्य निकाले।

शल्यक्रिया अथवा शस्त्रकर्म के आठ भेद बतलाये गए हैं--(१) छेद्य (काटना), (२) भेद्य (विदीर्ण करना), (३) लेख्य (खुरचना), (४) बेध्य (बींधना), (५) एष्य (खींचना), (६) आहार्य (निकालना), (७) विश्राव्य (चुवाना) तथा (८) सीव्य (टाँका लगाना)।

तत्र शस्त्रकर्माऽष्टविधं तद्यथा छेद्यं भेद्यं लेख्यं वेध्यमेष्यमाहार्य्यं विश्राव्य सीव्यमिति ॥

शस्त्रकर्म आरम्भ करने के पूर्व उसके निमित्त निम्नलिखित सामान रख लेना चाहिये--यन्त्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि, शलाका, सींग, जोंक, तुम्बी, जम्बूर, रूई का फाहा, कपड़ा, सूत, पत्ता, रेशम, शहद, घृत, चरबी, दूध, तेल, तर्पण, क्वाथ, लेप, लुगदी, पंखा, ठण्डा और गरम जल, कड़ाही आदि। जिस सामग्री की जितनी और जिस रूप में आवश्यकता हो, पहले से ही तैयार कर के शस्त्रागार में रख ले। साथ में स्थिर चित्त वाले बलवान् परिचारक भी होने चाहिए।

शस्त्र कर्म के लिए वैद्य कैसा चाहिए, इसका भी निर्देशन 'सुश्रुत संहिता' में किया गया है; यथा--

शौर्यमाशुक्रिया शस्त्रतैक्ष्ण्यमस्वेदवेपथू ।
असम्मोहश्च वैद्यस्य शस्त्रकर्मणि शस्यते ।।

अर्थात् वही वैद्य शस्त्रकर्म में श्रेष्ठ हो सकता है जो शूरवीर हो, शीघ्र क्रिया कर सके, जिसके शस्त्र की धार तीक्ष्ण हो, जिसे पसीना न आ जाता हो, जिसके हाथ-पाँव शस्त्रकर्म के समय काँपने न लगे तथा जो करुणा-मोह से चलायमान होने वाला न हो। इस प्रकार शस्त्रकर्म करने के पूर्व शल्य चिकित्सक को चाहिये कि पीड़ित व्यक्ति को पूर्वाभिमुख बैठावे, अङ्ग विशेष या हाथ-पाँव आदि को जैसे बाँधना-मोड़ना आदि हो वैसे कर के वैद्य मर्मस्थानों, बड़ी और छोटी नसों, सन्धि, हड्डी, धमनी आदि को बचा कर रोमावली के अनुकूल शस्त्रकर्म करे। जहाँ तक पीब दिखाई दे वहाँ तक शस्त्र-प्रवेश करे, फिर जल्दी से एक बार शस्त्र को निकाल ले।

शस्त्र से घाव कैसा करे, इसका विधान इस प्रकार है--बहुत बड़े-बड़े शस्त्रों का काम पड़ने पर भी दो अथवा तीन अंगुल गहरा घाव होना चाहिए, अधिक नहीं। योग्य विस्तार से किया गया, विशाल, ठीक ढङ्ग से चीरा-फाड़ा गया, निराश्रय तथा ठीक समय पर किया गया घाव ही शस्त्रकर्म में श्रेष्ठ समझना चाहिए।

छेद किस प्रकार के करने चाहिए, इसका भी उल्लेख 'सुश्रुत संहिता' (अग्रोपहरणीय अ० ५।१२) में मिलता है। शल्य-क्रिया में निम्न प्रकार से छेद करना चाहिए--

(१) **तिरछा छेद**--दोनों भ्रू, कपोल, कनपटी, मस्तक, आँख के ऊपर पपोटा, मसूढ़ा, बगल, कूख, जङ्घा का जोड़ आदि स्थानों पर तिरछा छेद उपयुक्त है।

(२) **गोल छेद**--हाथ-पाँव में चन्द्रमण्डल सदृश गोल छेद करे।

(३) **अर्द्धचन्द्राकृति छेद**--गुदा तथा लिङ्ग में शस्त्र से अर्द्धचन्द्राकृति छेद करना चाहिये।

शस्त्रकर्म का अभ्यास किस प्रकार कराना चाहिए, इसके लिए 'सुश्रुत संहिता' के योग्यासूत्रीय अध्याय ९ में बड़ा ही विस्तृत और स्पष्ट वर्णन है--

(१) **छेद्यकर्म** (Amputation)--छेदन शस्त्रकर्म के लिए पुष्पफल (कैंथ), तूँबा (लौकी), तरबूज, फट-ककड़ी आदि सदृश फल और पत्ते हैं। इन फलों पर **उत्कर्त्तन** अर्थात् ऊपर काटना तथा **अपकर्तन** अर्थात् नीचे काटना सीखे।

तत्र पुष्पफलालाबूकालिंदकपत्रपुष्पैर्वारुकर्कारुक प्रभृतिषु छेद्यविशेषान्दर्शयेत् कर्तन-परिकर्तनानि चोपदिशेत् ।

(२) **भेद्यकर्म** (Incisions)--मशक या किसी चमड़े के थैले में पानी या कीचड़ भर कर सीखे।

"दृति वस्ति प्रसेवकप्रभृतिषूतकपंकपूर्णेषुभेद्ययोग्याम् ।।"

(३) **लेख्य या खुरचने** का कार्य किसी तने हुए चमड़े पर सीखे जिसमें बाल भी हों।

"सरोम्णि चर्मण्याततें लेख्यस्य ॥"

(४) **वेध्य या फस्तखोलना** (Venesection or perforation)—किसी मृत पशु की सिरा (vein) तथा कमलनाल ले कर सीखे।

"मृतपशुशिरासूत्पलनालेषु च वेध्यस्य"

(५) **एष्य कर्म** (Probing)—किसी घुने हुए बाँस, नरसल, नाली या सूखे तूँबे के मुख में अभ्यास करे।

"घुणोपहतकाष्ठवेणुनलनालीशुष्कालाबुमुखेष्वेष्यस्य।"

(६) **आहार्य कर्म** (Extraction)—कटहल, कंदूरी, बिल्वफल के गूदे में तथा मरे हुए पशु के दाँतों में निकालने की क्रिया सीखे।

"पनसबिम्बीबिल्वफलमज्जमृतपशुदंतेष्वाहार्यस्य ॥"

(७) **विश्राव्य कर्म** (Draining or Evacuation)—शाल्मली के तख्त पर मोम लगा कर अभ्यास करे।

"मधूच्छिष्टोपलिप्ते शाल्मलीफलके विस्राव्यस्य।"

(८) **सीव्य कर्म** (Stiching or sewing)—वस्त्रों के टुकड़ों या चमड़े के टुकड़ों को सीने का अभ्यास करे।

"सूक्ष्मघनवस्त्रान्तयोर्मृदुचर्मांतयोश्च सीव्यस्य।"

(९) **बन्धनकर्म** (Bandaging)—किसी पुस्तमय (कपड़े या मोम का) पुरुष के अंगों पर पट्टियाँ बाँधे।

"पुस्तमयपुरुषांगप्रत्यंगविशेषेषु बंधनयोग्याम्।"

(१०) **कर्णसंधिवंधक कर्म** (Plastic surgery of ear)—मृदु चर्म, मांसपेशी, या उत्पलनाल पर अभ्यास करे।

"मृदुमांसशीषूत्पलनालेशु च कर्णसंधिबंधयोग्याम्।'

(११) **अग्नि-क्षार कर्म** (Cauterizing or Causticizing)—मृदु मांस-खंड पर तेजाब या अग्नि से दागने का अभ्यास करना चाहिए।

"मृदुषुमांसखंडेष्वग्निक्षारयोग्याम् ।"

(१२) **नेत्रप्रणिधान वस्ति कर्म** (Inserting catheter in to the bladder) या **व्रणवस्तिपीडन कर्म** (Insertion Tube into an ulcerated Channel)—किसी उदकपूर्ण घट के पार्श्व में, मुख में, या अलाबु (लौकी) के मुख में इसे कर के सीखे।

शस्त्रों के भेद

'सुश्रुत संहिता' शस्त्रावचरणीय अध्याय में काम में आने वाले निम्नलिखित बीस शस्त्रों की सूची दी हुई है—

१.	मण्डलाग्र [circular or round knife	छेदन और लेखन के लिए प्रयुक्त
२.	करपत्र [Saw]	
३.	वृद्धिपत्र [क्षुरा knife]	भेदन और छेदन में
४.	नखशास्त्र [Nail pairs]	
५.	मुद्रिका [Finger knife]	
६.	उत्पल पत्र [Lancel]	
७.	अर्धधार [Single edged knife]	
८.	सूची [Needle]	विस्रावण में
९.	कुशपत्र [Bistoury]	
१०.	आटीमुख [Scissors Like—]	
११.	शरारिमुख [bcissors]	
१२.	अन्तर्मुख [curved bistoury]	
१३.	त्रिकूर्चक [having three small knives]	
१४.	कुठारिका [having small blade equal to $\frac{1}{2}$ Angular]	व्यधन में
१५.	व्रीहिमुख [Trocer]	
१६.	आरापत्र [owl like knife]	
१७.	वेतसपत्र [narrow bladed knife and needle.]	
१८.	बडिश [Hooks]	आहरण में
१९.	दन्तशंकु [Tooth pilk]	
२०.	एषणी [Sharp probes]	एषण तथा अनुलोपन में

शस्त्रों का आकार

इन शस्त्रों में **नखशस्त्र** और **एषणी** आठ अंगुल की होती है, **मुद्रिका** तर्जनी अंगुलि के अगले पोर के प्रमाण की होती है, **शरारिमुखी** दस अंगुल प्रमाण की होती है। इसे कैंची भी कहते हैं, शेष शस्त्र छः अंगुल प्रमाण के होते हैं। [इन शस्त्रों के चित्र 'सुश्रुत संहिता', प्रका० क्षेमराज, श्री कृष्णदास, मुंबई में दिए हुए हैं।]

शस्त्रों के दोष

शस्त्रों के आठ दोष कहे गए हैं—**"तत्र वक्रं कुंठं खंडं खरधारमतिस्थूलमत्यल्पमति-दीर्घमतिह्रस्वमित्यष्टौ शस्त्रदोषाः॥'** (अ० ८-२७) अर्थात् जिसमें बल पड़ गया हो या टेढ़े हो गए हों, जो कुंठ या गोंठिल हों, जो टूटे हों, जिनकी धार मुड़ गई हो या जिनकी धार बहुत मोटी हो, प्रमाण से जो शस्त्र बहुत पतले हों तथा बहुत लम्बे हों और बहुत छोटे हों—ये आठ दोष हैं।

शस्त्रों की धार का प्रमाण

शस्त्रों की धार का प्रमाण इस प्रकार है—

तत्र धाराभेदनानां मासूरी लेखनानामर्द्धमासूरी, व्यधनानां
विस्रावणानां च कैशिकी छेदनानामर्द्धकैशिकीति॥

अर्थात् भेदन-शस्त्रों की धार मसूर के समान, लेखन (चीरने) की आधे मसूर के समान, बींधने और रुधिर चुवाने के शस्त्रों की बाल सदृश तथा काटने के शस्त्रों की आधे बाल तुल्य हो।

शस्त्रकर्म में पारङ्गत वैद्य के गुण

उपर्युक्त शस्त्रकर्म में जो प्रवीण हो, जिसने चिकित्सा कर्म स्वयं किया हो और देखा हो, जिसके हाथ हलके हों, जो पवित्र हों, जो शूर हो, जिसके पास शल्य-चिकित्सा की सारी सामग्री हो, जो प्रत्युत्पन्नमतिवाला हो, जो बुद्धिमान् और कर्मपटु हो, जो अपने कार्य में पण्डित हो तथा सत्य और धर्म में तत्पर हो, ऐसा व्यक्ति भिषक् या वैद्य कहलाने का अधिकारी है।

तत्त्वाधिगतशास्त्रार्थौं दृष्टकर्मा स्वयंकृती।
लघुहस्तः शुचिः शूरःसज्जोपस्करभेषजः॥
प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारदः।
सत्यधर्मपरो यश्च सभिषक् पाद उच्यते॥

ऐसा वैद्य ही आतुर रोगी को तार सकता है; वह इसमें उसी प्रकार समर्थ है जिस प्रकार बुद्धिमान् मल्लाह बिना सामग्री की नौका को जल से निकालने में समर्थ होता है—

वैद्यस्तु गुणवानेकस्तारयेदातुरान् सदा।
प्लवं प्रतितरैर्हीन कर्णधार इवांभसि॥

ऐसा ही चतुर चिकित्सक विजय की कामना वाले राजा के साथ लड़ाई पर जाता था और सेना की सुरक्षा करता था—

युक्तसेनस्य नृपतेः परानभिजिगीर्षतः।
भिवना रक्षणं कार्यं यथा तदुपदेक्ष्यते॥

इस प्रकार वह सुसज्जित हो तथा वह स्कंधावार में अपनी सभी सामग्री के साथ ठहरता था, जहाँ हरेक विष-शल्य आदि से पीड़ित व्यक्ति बिना रोक-टोक के पहुँच सकता था—-ध्वजा की भाँति ऐसे वैद्य की ख्याति होती थी।

छह

नरसी मेहता : व्यक्तित्व और कृतित्त्व

अगरचन्द नाहटा

सोलहवीं शताब्दी, भारत के धार्मिक इतिहास का एक उल्लेखनीय समय है। उत्तर भारत में इस समय भक्ति का आन्दोलन इतना व्यापक रूप में फैला कि चारों ओर भक्ति का साम्राज्य सा छा गया। भक्ति के विभिन्न सम्प्रदाय इससे पहले भी उत्तर भारत में फैले हुए थे, पर सोलहवीं शताब्दी में उनको जो वेग मिला, वह इससे पहले देखने को नहीं मिलता। पुरुषोत्तम कृष्ण और मर्यादापुरुष राम की भक्ति अनेक रूपों में होने लगी और कई नये भक्ति-सम्प्रदाय प्रकाश में आये। श्री रामानन्द की परम्परा में सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति विकसित हुई। महाप्रभु वल्लभ ने 'पुष्टि-सम्प्रदाय' प्रवर्तित किया। महाप्रभु चैतन्य ने 'श्री गौड़ीय सम्प्रदाय' की स्थापना की। इसी तरह और भी कई सम्प्रदाय प्रवर्तित हुए जिनका आगे चलकर भारतीय लोक-जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। जनसाधारण में से भी ऐसे कई भक्त आगे आये जिनकी अमिट छाप आज भी दिखाई देती है। ऐसे व्यक्तियों में गुजरात के नरसी मेहता और राजस्थान की मीराँबाई सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

नरसी मेहता के समय के सम्बन्ध में गुजरात के विद्वानों में कुछ मतभेद है, पर सोलहवीं शताब्दी में उनके होने के सम्बन्ध में सभी एकमत हैं। पण्डित केशवराम काशीराम शास्त्री नरसी मेहता का जन्म सं० १४६९-७० में और श्री कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी सं० १५३० के लगभग मानते हैं। नरसी मेहता की एक रचना 'हारमाला' के एक पद में उल्लखित है कि इस ग्रंथ की रचना सं० १५१२ में हुई। यदि यह ठीक है तो श्री मुंशी का मत मान्य नहीं हो सकता। श्री शास्त्री नरसी का समय सं० १४७० से १५३६ के बीच मानते हैं और यही सर्वाधिक मान्य है।

नरसी मेहता नागर ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम कृष्णदास और दादा का नाम पुरुषोत्तम था। उनकी माता का नाम दयाकुँवर और भाई का नाम मंगलजी जीवनराम या वंशीधर था। इनके चाचा पर्वतदास अच्छे भगवद्भक्त थे। नरसी के माता-पिता की मृत्यु इनकी बाल्यावस्था में हो गयी थी। अतः इनके बड़े भाई ने ही इनका पालन-पोषण किया। नरसी आलसी और घुमक्कड़ थे। विद्याध्ययन में विशेष रुचि नहीं थी। वे साधु-सन्तों के साथ घूमते रहते थे। कहा जाता है कि ग्यारहवें वर्ष में इनकी सगाई हो गई थी, पर उनके आवारापन के कारण वह सम्बन्ध नहीं हो सका। तदनन्तर सं० १४८४ के आसपास रघुनाथराम की पुत्री माणिक बाई के साथ उनका विवाह हुआ। विवाह के बाद भी वही प्रवृत्ति रही। कमा कर खाने के लिए उन्होंने कोई कार्य नहीं किया; अतः उनकी भाभी ने ताना मारा। इसका उल्लेख नरसी ने अपनी रचना 'साँवलदास का विवाह' के प्रारम्भ में और 'हारमाला' के एक पद में किया है। यथा:—

मरम वचन कह्यां मूजने भामीए ते मारा मनमाँ रह्या वलूधी,
शिवाजी आगल जए इक मनोरथ, स्तुत्य की धी दिवस सात सुधी।

भाभी के कहे हुए मर्म वचनों से नरसी के जीवन में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ। कहा जाता है कि नरसी ने श्री महादेव की सेवा में ७ दिनों का तप आरम्भ किया और शिवजी की प्रेरण से उनका झुकाव श्रीकृष्ण की ओर हो गया। यह भी कहा जाता है कि शूलपाणि ने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन भी दिया था। इसलिए नरसी ने अपने भाभी के ताने को उपकारक ही माना। इतना ही नहीं, उन्हें भगवान के दर्शन भी उन्हीं की कृपा से हुए, इसलिए भाभी को भी धन्यवाद का पात्र माना:—

धन्य भामी तुम्हें धन्य माता-पिता कष्ट जाणी मने दया रे कीधी।
तमारी कृपा थकी हरिहर भेटिया कृष्णजी एम्हारी सार लीधी॥

महादेव की कृपा के बाद घर आकर नरसी ने अपना स्वतन्त्र घर बसाया, साधुओं का सत्संग करते हुए वे भजन में मस्त रहने लगे। इसलिए आर्थिक कमाई तो न हो सकी, पर भक्ति की कमाई खूब अच्छी कर सके।

नरसी का जन्म सौराष्ट्र के तलाजा नामक स्थान पर हुआ था, पर आगे चलकर ये जूनागढ़ में आकर बस गये। यहाँ वे अपने इष्टदेव दामोदरजी का नित्य दर्शन करने जाते और दामोदर कुण्ड में स्नान करते। इनकी कमाकर खाने की वृत्ति नहीं देखकर लोग इनकी हँसी भी उड़ाते। एक बार भजन करने के लिए ये ढेढ़ों के निवास-स्थान पर भी गये, क्योंकि भक्ति मार्ग में ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं रहता:—

जाति पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि को होई॥

ढेढ़वाड़े में जाने के बाद तो उच्च जाति के लोग इन्हें निम्न दृष्टि से देखने लगे और इन्हें कई प्रकार के कष्ट उठाने पड़े।

नरसी के जीवन के पाँच प्रसङ्ग बहुत ही प्रसिद्ध हैं :—

हार हुण्डी नैं मोसालुं, विवाह नै बलि श्राद्ध।
नरसैं मेहता नैं कृपा करी ठस्या श्री दीनानाथ॥

इनमें से 'हुण्डी' और 'मोसाले' का प्रसङ्ग तो सर्वाधिक प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि एक बार तीर्थयात्रियों ने रास्ते में रुपया साथ रखना जोखम समझकर विचार किया कि जूनागढ़ में किसी साहूकार से रुपया देकर हुण्डी ले लें तो द्वारका में रुपये मिल जायेंगे। हुण्डी दे सकने वाले साह की पूछ करने पर लोगों ने व्यंग्य से नरसी का नाम बता दिया और नरसी ने भी भगवान पर भरोसा करके द्वारिका के साँवलशाह सेठ के नाम पर ७०० रुपये की हुण्डी लिख दी। यात्री द्वारिका पहुँचे, पर वहाँ जिस साँवलशाह के नाम हुण्डी लिखी थी, उसका कोई पता नहीं चला। वे निराश होकर लौटने लगे, तो भगवान भक्त की लाज रखने के लिए सेठ का रूप धारण कर यात्री के सामने उपस्थित हुए और हुण्डी का रुपया चुका दिये। श्री केशवराम शास्त्री ने हुण्डी के प्रसङ्ग का समय संवत् १५०६ के आसपास माना है। इसी तरह इनके पिता के श्राद्ध के दिन भी भगवत्कृपा से इनका इच्छित कार्य सम्पन्न हो गया। नरसी की हुण्डी के सम्बन्ध में जेठमल रचित 'नरसी मेहता की हुण्डी' नामक एक रचना हिन्दी में भी प्राप्त है। गुजराती में तो कृष्णदास, दयाराम, प्रेमानन्द, रघुराम, विष्णुदास आदि कई कवियों द्वारा रचित 'हुण्डी' नामक रचनाएँ प्राप्त हैं। स्वयं नरसी के रचित 'हुण्डी' पद भी गुजराती में प्राप्त हैं।

हुण्डी की तरह 'मोसाले' का प्रसङ्ग भी काफी प्रसिद्ध है। गुजराती मान्यता के अनुसार नरसी की पुत्री कुँवरबाई के विवाह के अवसर पर उसके सीमान्त में मोसाला (मामेरु) भगवान ने ही भरा था। मामेरुं या मोसाले का प्रसङ्ग सौराष्ट्र के माँगरोल या ऊना नामक स्थान में बना था, जहाँ नरसी की पुत्री कुँवरबाई की ससुराल थी। कहा जाता है कि माँगरोल के रणछोड़-मन्दिर के एक उत्सव पर नरसी भी उपस्थित हुए थे और रात भर कीर्तन किया था। उस समय नरसी को प्यास लगी और पानी माँगा तो रतन बाई नामक एक स्त्री ने आकर पानी पिलाया। भक्तों का कहना है कि रतन बाई खुद भगवान ही थे। नरसी रचित एक पद में इसका उल्लेख है—

सावण झारी रे अति रे समारी माँही नीर गंगोदक तोले।
नरसैया नै पाणी पावा नै करण हरजी पधारया को दै॥
हरि आव्यारे नारीना वेसे रे एने कोई जूवो रे।
रतनवाई घणुं व्याकुल फरे छे तमे ल्योने महेता जलपाणी रे॥

एक बार विरोधी व्यक्तियों ने जूनागढ़ के राव मण्डलीक को इस बात के लिए उकसाया कि नरसी यदि सच्चा भक्त है तो दामोदर भगवान उन्हें स्वयं आकर हार पहना दें। राव ने नरसी को बुलाकर उसके सच्चे भक्त होने की उक्त परीक्षा देने को कहा। नरसी को भगवान का पूरा भरोसा था, इसलिये उसने भगवान की बहुत स्तुति की। अन्त में भगवान ने भक्त को परीक्षा में सफल बनाया। इसका उल्लेख स्वयं नरसी ने अपनी वाणी में इस प्रकार किया है:—

दुरीजन लोक कहि, नरसिओं लंपटी, बाधती बात राजा ए जाणी।
दुष्ट ने वच्चन मंडलिक विह्वल थमु किहि, ल्यालो नरसिंआनि आँहाँ ताणी॥
शीघ्र सेवक नरसिंहआनि ल्याविआ, किहि महिपाल तूनि दास करीइं।
ताहीर प्रीत्य दामोदर शूं यइ, मागी लि हार ज्यम अहम्यो लहीइ॥
ते माटि करूँ विनती, त्रीकमा, पालशो वरद तो काज थाशि।
भणि नरसिओं, तूं भक्त वच्छल सदा, हठ करशो तो (मुझ) प्राण जाशि॥

दामोदर कीधी दया, मुगट सहित मुनि आप्योहार।
वाजु बंध विहिरखा आप्या, त्रिभुवन वरत्यो जे जे कार॥
राजा तूं गिहिलो थयो ज्ञां, खड्ग लेइनि आप्यो संग्य।
जे वहालांश रंग भूमि रमता, ते गोपालजी आं रख्यो रंग॥

इसी तरह 'सामलदास के विवाह का प्रसङ्ग' भी नरसी मेहता ने स्वयं लिखा है। भगवान ने विवाह की सामग्री किस तरह जुटा कर भक्त की सहायता की, उसमें इसका वर्णन है। हार के प्रसङ्ग में एक और चमत्कारिक उल्लेख मिलता है कि केदारा राग को नरसी ने परिस्थितिवश किसी सेठ के यहाँ गिरवीं रख दिया था। इसके गाये बिना भगवान प्रगट नहीं हुए। अतः जब नरसी ने प्रगट रूप से हार पहनाने के लिये बहुत जोर दिया तो भगवान ने स्वयं सेठ के यहाँ से केदारा राग को छुड़ाया। नरसी को जब उसके छुड़ाने का प्रमाण-पत्र प्रभु द्वारा मिला तब नरसी ने बहुत ही प्रसन्नता से केदारा राग में भगवान की स्तुति की और उनको हार पहनाया।

नरसी की रचनाएँ

भक्त के साथ-साथ नरसी उच्च कोटि के कवि भी थे। उनकी अनेक रचनाओं का उल्लेख गुजराती साहित्य के इतिहास में मिलता है। 'गुजराती हाथ प्रतोनी सङ्कलित यादी' नामक ग्रन्थ में नरसी रचित २७ रचनाओं का उल्लेख है। डॉ० जगदीश गुप्त ने नरसी की १६ रचनाओं का उल्लेख करते हुए १४ रचनाओं का विवरण अपने 'गुजराती व ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक शोधप्रबन्ध में दिया है और लिखा है कि "विषय और वस्तु की दृष्टि से नरसी की रचनाएँ दो प्रकार की प्राप्त होती हैं। एक प्रकार की कृतियाँ वे हैं जिनमें उन्होंने अपने जीवन की किसी अलौकिक घटना का वर्णन किया है और दूसरी वे जो पूर्णतया कृष्ण को आलम्बन मानकर लिखी गई हैं।" इस प्रकार नरसी की रचनाओं को निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है:—

प्रथम प्रकार की रचनाएँ—१. सामलदासनो विवाह २. हारमाला

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ—१. सरतसंग्राम २. गोविंदगमन ३. चातुरी छत्रीसी ४. चातुरी षोडशी ५. दानलीला ६. सुदामाचरित ७. राससहस्रपदी ८. श्रृंगारमाला ९. बाल-लीला। इन नौ रचनाओं के अतिरिक्त कुछ प्रकीर्णक पद हैं जिनकी संज्ञा विषय के अनुसार इस

प्रकार हैः— १०. हींडोलवां पदो ११. भक्तिज्ञानननां पदो १२. कृष्ण जन्मसमैनां पदो १३. कृष्णजन्म-वधाईनां पदो १४. वसंतनां पदो। इसके अलावे कको, गायनी मांगणी, द्रौपदी बेनु कीर्तन, पाण्डव जुगटानुपद, बारहमासा, बारेमासा रामदेव, मधुकरणा बारे मासा मामेरू, मोती नु खेती, रास के पद, विष्णुपद ससियार, सत्य मानानुरूसणू, सासवण नी समस्या, हुण्डी आदि से सम्बन्धित अन्य अनेक फुटकर पद भी मिलते हैं।

श्री केशवराम शास्त्री ने 'कवि चरित्र' ग्रंथ में नरसी के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला है। ऊपर जो परिचय दिया गया है प्रमुख रूप से उसी को आधार बनाया है। श्री शास्त्री द्वारा सम्पादित 'हारमाला' और 'रास सहस्रपदी' फारबस गुजराती सभा, बम्बई से सन् १९३८-३९ में प्रकाशित हो चुके हैं। सस्तु साहित्यवर्धक कार्यालय से 'नरसी मेहता नु भजनु' नामक पद-संग्रह प्रकाशित हुआ है जिसमें १८८ पद हैं। आगे दिये जाने वाले पद इसी ग्रंथ में से लिये गये हैं।

बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी तथा हमारे ग्रन्थालय की कुछ ह० लि० प्रतियों में भी नरसी के पद प्राप्त हैं। 'नरसी की हुण्डी' नामक एक संक्षिप्त रचना भी रतनयिया कवि रचित अनूप संस्कृत लायब्रेरी व हमारे संग्रह में है। इस सम्बन्ध में प्रयत्नपूर्वक खोज करने पर बहुत सी नई जानकारी व सामग्री मिल सकती है।

अब हम नरसी के कतिपय पदों को पाठकों के समक्ष उपस्थित कर रहे हैं जिससे उन्हें ज्ञात हो जाय कि नरसी के पदों में दर्शन और भक्ति का कितना सुन्दर समन्वय है।

(१)

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीर पराई जाणे रे।
पर दुःखे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे॥ वै० १॥
सकल लोकमाँ सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥ वै० २॥
सम दृष्टि अने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, पर धन नव झाले हाथ रे॥ वै० ३॥
मोह माया व्यापे नहि तेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे।
राम नाम शु शाली रे लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे॥ वै० ४॥
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या छे।
भणे नरसैयो तेनुं दरशन करतां, कुछ ईकोतेरे तार्यों रे॥ वै० ५॥

(२)

वैष्णव जन ने विषय थी टलवुं, हलवुं मांही थी मन रे।
इंद्रिय कोई अपवाद करे नहि, तेने कहिअे वैष्णव जन रे॥ टेक ॥

कृष्ण-कृष्ण कहेतां कंठज सूके, तो ये न मूके निज नाम रे।
श्वा श्वासे समरे श्रीहरि, मन न व्यापे काम रे॥ वै०१॥
अंतरवृत्ति अखण्ड राखे हरिशुं, धरे कृष्णनुं ध्यान रे।
व्रजसवासीनी लीला उपासे, बीजुं सुणे नहिं कान रे॥ वै०२॥
जगशुं तोड़े ने जोड़े प्रभु शुं, जगशुं जोड़े प्रभु शुं गुटी रे।
तेने कोई वैष्णव नव कहे शो, जमड़ा लेई जाशे फूटी रे॥ वै०३॥
कृष्ण बिना कांई अन्य न देखे, जेनी वृत्ति छे कृष्णाकार रे।
वैष्णव कहावे ने विषय न जावे, तेने वार वार धिक्कार रे॥ वै०४॥
वैष्णव ने तो वल्लभ लाग शे, कुडिया ने लागशे काचुं रे।
नरसयाचा स्वामी ने लंपट नहिं, गमे शोभशे सांचु रे॥ वै०५॥

(३)

वैष्णव जन ने विरोध न कोई शुं, जेनां कृष्णचरणे चित्त रह्यां रे।
कावादावा सर्वे काढ्या, शगु हता ते मित्र थया रे॥ वै०
कृष्ण उपासी ने जगथी उदासी, फाँसी ते जमनी कापी रे।
स्थावर जंगम ठाम न ठालो, सघले देखे कृष्ण व्यापी रे॥ वै०
काम क्रोध व्यापे नहिं क्यारे, त्रिविधि ताप जेना टलिया रे।
ते वैष्णवनां दर्शन करीअे, जेना ज्ञाने ते वासनिक गलिया रे॥ वै०
निःस्पृही ने निर्मल मति वली, कनक कामिनी ना त्यागी रे।
श्रीमुख वचनो श्रवणे सुणतां, ते वैष्णव बड़भागी रे॥ वै०
अेवा मले तो भव दुःख टले, जेनां सुधा समान वचन रे।
नरसैयाचा स्वामी ने निशदिन वहाला, अेवा ते वैष्णव जन रे॥ वै०

(४)

अखिल ब्रह्मण्डमां अेक तुं श्रीहरि, जूजवे रूपे अनंत भासे।
देहमां देव तुं तेजमां तत्त्व तुं, शून्यमां शब्द थई वेद वासे॥टेक
पवन तु पाणी तुं, भूमि तुं भूधरा, वृक्ष थई फूली रह्यो आकाश।
विविध रचना करी, अनेक कस लेवा ने, शिव थकी जीव थयो अेज आशे॥अ०
वेद तो अेम वदे, श्रुति स्मृति शाख दे, कनक कुंडल विशे भेद न होये।
घाट घड़िया पछी, नाम रूप जूजवां, अंते तो हेमनुं हेम होये।अ०
ग्रंथ गड़बड़ करी, बात न करी खरी, जेहने जे गमे तेने पूजे।
मन क्रम वचन थी, आप मानी लहे, सत्य छे अेज मन अेम सूजे॥अ०
वृक्षमां वीज तुं, बीजमां वृक्ष तुं, जोउं पटंतरो, अेज पासे।
भणे नरसैयो अे, मन तणी शोधना, प्रीति करूँ प्रेम थी प्रकट थाशे॥अ०

(५)

[देवा] आद्य तुं, अत्यं तुं त्रिकमा, अेक तुं अेक तुं अेक पोते।
अखिलचो ब्रह्म ब्रह्मादि नव लहे, भूरचा मानवी अन्य गोते॥ देवा०
रवि-शशि कोटि नख चंद्रिकामां वसे, दृष्टि पहोंचे नहीं खोज खोले।
अर्क उद्योत ज्यम तिमिर भासे नहिं, नेति-नेति कही निगम डोले॥ देवा०
कोड़ि ब्रह्मांडना ईश धरणीधरा, कोटि ब्रह्मांड अेक रोम जेनुं।
मर्म समज्या बिना मर्म भागे नहि, सगुण स्वरूप निर्गुण अेनुं॥ देवा०
अे नथी अेकलो विश्व थी वेगलो, सर्व व्यापिक छे शक्ति स्तुत्य जेनी।
अखिल शिव आद्य आनन्ददमय कृष्णजी, सुन्दरी राधिका भक्ति तेनी॥ देवा०
वेदनी वातनो भेद लाद्ये नहीं, तेनुं हारद ते कोक जाणे।
शिव सनकादिक देवमुनि नारद, पूरण ब्रह्मनुं ध्यान आणे॥ देवा०
ते पूर्ण पुरुषोत्तम प्रेम दाशुं रमे, भावेशुं भामनी अंक लीद्यो।
जे इस व्रज तणी नार विलसे सदा, सखी रूपे ते नरसैये पीछो॥ देवा०

उपर्युक्त उद्धृत कतिपय पदों से यह स्पष्ट है कि नरसी की भक्ति की भूमिका बहुत उच्च कोटि तक पहुँच गई थी। भक्ति का प्रारम्भ भगवान या आराध्य के प्रति प्रेम या अनुराग से होता है। फिर उन्हीं के आश्रय में भक्त उन्हीं को अर्पण कर देता है। उसके लिये भगवान ही एक मात्र सहारा है। नरसी ने इस बीच की स्थिति का भी अनुभव किया था और उसकी चरमस्थिति पर पहुँच गये थे।

●

नये प्रकाशन

समीक्षकों की दृष्टि में

छायावाद : पुनर्मूल्यांकन
सुमित्रानन्दन पन्त का आलोचना ग्रन्थ

प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद।
पृष्ठ संख्या : १४१
संस्करण : प्रथम
मूल्य : ६ रु० ५० पैसे

प्रस्तुत पुस्तक में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के छायावाद विषयक तीन निबन्ध सङ्कलित हैं जो प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग द्वारा आयोजित 'निराला व्याख्यानमाला' के अन्तर्गत पढ़े गये थे। इन निबन्धों में क्रमशः 'उद्‌भव और परिवेश', 'विकास और कवि चतुष्टय' तथा 'कलाबोध, विधाएँ और पुनर्मूल्यांकन' शीर्षकों से छायावाद के नवीन मूल्याङ्कन का प्रयास किया गया है। पन्त जी स्वयं छायावाद के प्रवर्तकों-उन्नायकों में से रहे हैं। अतः यह समझना कि उन्हें छायावादी काव्य-सञ्चरण की अन्तःप्रेरणाओं का प्रामाणिक बोध है, अयुक्तिसङ्गत नहीं होगा। इस दृष्टि से पुस्तक का महत्व साधारण की अपेक्षा बढ़ जाता है।

प्रथम निबन्ध में छायावाद-विषयक कतिपय प्रचलित मान्यताओं का निराकरण किया गया है। इस सिलसिले में पन्त जी ने सबसे अधिक इस बात पर बल दिया है कि छायावाद को मध्ययुगीन रहस्यवाद नहीं समझा जाय। उनका कथन है कि "छायावादी कवि तो रहस्यवादी तब होता है जब वह कबीर की तरह निर्गुण ब्रह्म की झीनी-झीनी चदरिया बुनने का प्रयत्न करता—और बुनते भी कबीर किन ज्ञान-सम्मत रूढ़िगत तारों से हैं।" इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि शायद ही कोई ऐसा प्रबुद्ध पाठक है जो ठीक उसी मध्ययुगीन अर्थ में, "प्रेम-साधना या भावयोग" आदि के अर्थ में, आज छायावाद को रहस्यवाद समझता हो। इतना तो पन्त जी मानते ही हैं कि भारतीय जागरण के वातावरण में जन्म लेने के कारण इस नये काव्य में ब्रह्म, सर्वात्मवाद अथवा परोक्ष सत्ता की किरणें छनकर आईं जिन्हें वे केवल "दार्शनिक चैतन्य तथा मूल्यों" की ही अभिव्यक्ति मानते हैं। लेकिन जिन रचनाओं में यह दार्शनिक चैतन्य काव्य-सुलभ भाव-स्पर्श से संयुक्त हो गया हो, वे रहस्य की सीमा से पृथक् नहीं की जा सकतीं। वस्तुतः रहस्यवाद को 'मध्ययुगीन रहस्यवाद' के साथ ही पूर्णतः तदात्म मान लेना उचित नहीं है। छायावादी कवि

कबीर, जायसी इत्यादि मध्ययुगीन सन्त-सूफियों के समान रहस्यवादी नहीं हैं। 'कामायनी' के "हे अनंत रमणीय! कौन तुम?" की शुद्ध किन्तु भाव-लिप्त जिज्ञासा रहस्यवाद का एक छोर है और 'राम के बहुरिया' की प्रिय-मिलन की तड़पन उसका दूसरा छोर है। छायावादी अनेक रचनाएँ इन दो ध्रुवान्तों के बीच में पड़ती हैं। पन्त जी का यह कथन सही है कि लाक्षणिक व्यञ्जना के कारण (भी) छायावादी काव्य को रहस्यवाद समझने में सहायता मिली, जैसा कि 'प्रथम रश्मि' शीर्षक उनकी कविता के साथ सम्भव दीखता है। लेकिन, 'मौन निमंत्रण' में केवल 'उक्ति वैचित्र्य' के कारण नहीं, अपितु भाव-स्पर्श से संयुक्त किसी अव्यक्त सत्ता के प्रति जिज्ञासात्मक लगाव के कारण रहस्यवाद प्रतिफलित हुआ है, जैसे "न जाने, सौरभ के मिस कौन; संदेशा मुझे भेजता मौन।"

'मूर्ति-विधायिनी कल्पना' की सहायता से अङ्कित प्रकृति-चित्रों में "प्रकृति में एक चेतन सत्ता के आरोप" से पन्त जी को असहमति है। उनका कथन है कि ऐसे चित्रों में "चेतना का आरोप करने के बदले केवल उसका रूप-चित्र भर उपस्थित किया है।" लेकिन, असलियत यह है कि छायावाद-विषयक प्रचलित धारणाओं के उच्छेद की ललक में उनकी रहस्यवादी 'फ़ोबिया' इतनी मुखर बन गयी है कि "संध्यासुन्दरी" के चित्रण में निराला द्वारा अनुभूयमान सचेतन सुन्दरी के स्निग्ध अवतरण का वे स्पष्ट प्रत्याख्यान कर जाते हैं। उनकी अपनी रचना 'छाया' में तो छाया का 'रूप-चित्र' है ही नहीं; वहाँ तो छाया को विशुद्ध चेतन प्राणी के रूप में चित्रित किया गया है। सही स्थिति यह है कि छायावाद में, रूप-चित्रण की ललक में प्रकृति का चेतनीकरण सम्पन्न हुआ है और चेतनीकरण की ललक में रूप-चित्रण अधिक सटीक एवं अर्थवान् बन गया है। अतः, छायावाद से उसकी एक प्रिय सम्पत्ति प्रकृति का चेतनीकरण या मानवीकरण छीन लेना उचित नहीं समझा जाएगा। वस्तुतः पन्त जी ने छायावाद के नव मूल्याङ्कन के प्रयास में लगभग समस्त मान्यताओं के निरास का जो सङ्कल्प कर लिया है, उसमें वे बराबर लड़खड़ाते-से रहे हैं और अनेक स्थलों पर वे अपनी नई स्थापनाओं का स्वयं प्रतिवाद-सा करते प्रचलित मान्यताओं पर अचेतन भाव से लौट आते दीखते हैं।

मध्ययुगीन मानों तथा आदर्शों की कटु आलोचना करते हुए, पन्त जी भक्ति-काव्य को छायावाद की तुलना में हीन ठहराते हैं और आश्चर्य है कि ऐसा करते समय उन्हें कबीर इत्यादि निर्गुण सन्तों की निष्क्रिय-लोकनिरपेक्ष साधना का तो बारम्बार स्मरण होता है, किन्तु सूर, तुलसी के लोकसंग्रही काव्य को वे सर्वथा विस्मरण कर जाते हैं। छायावाद के जनक अथवा प्रवर्त्तक के विषय में प्रचलित सामान्य मत (कि उसका श्रेय 'प्रसाद' जी को मिलना चाहिए) का प्रतिवाद करते हुए पन्त जी ने यह दिखाया है कि छायावाद की प्रेरणा उसके प्रमुख कवियों को उस युग की चेतना से स्वतन्त्र रूप से मिली तथा उनमें से प्रत्येक ने अपने अन्य सहयोगियों की रचनाओं को पढ़कर अपने काव्य-बोध का परिष्कार किया। पन्त जी की इस उपपत्ति से हमारा कोई वैमत्य नहीं है, यद्यपि 'प्रसाद' जी को दिये गये श्रेय से उत्पन्न पन्त जी की खिन्नता साफ़-साफ़ झलक उठती है।

दूसरे निबन्ध में पन्त जी ने मुख्यतया छायावादी कविचतुष्टय की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की है। इससे पूर्व कि इस समीक्षा की चर्चा की जाय, छायावाद विषयक उनकी नवीन उपपत्ति

का अवलोकन आवश्यक हो जाता है। पन्त जी की प्रधान स्थापना यह है कि छायावाद व्यक्ति-निष्ठ न होकर "मूल्यनिष्ठ या मूल्य-केन्द्रिक" काव्य है। क्योंकि इसमें व्यक्ति मूल्य का प्रतिनिधि रहा है। साधारणतः पन्त जी की इस स्थापना से कोई विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि प्रायः प्रत्येक सशक्त नवीन 'काव्य-संचरण' किसी मूल्य-विशेष का संवाहक होता है। आचार्य शुक्ल ने छायावाद को अभिव्यञ्जना की एक विशिष्ट शैली मात्र मानकर अवश्य न्याय नहीं किया। लेकिन, हमारी आपत्ति वहाँ उठती है जहाँ पन्त जी छायावाद का विस्तार कर समस्त आधुनिक काव्य को उसकी छाया में लपेट लेते हैं और यह वक्तव्य देते हैं कि "नये मूल्य की खोज की दृष्टि से प्रकृतिवाद, प्रयोगवाद तथा नयी कविता को भी केवल छायावाद अथवा उस युग के नये काव्य-सञ्चरण की ही रूपान्तरित विधाएँ मानता हूँ"—(पृ० ११३)। वस्तुतः पन्त जी ने छायावाद का व्याप्ति-प्रसार अपने काव्य-विकास को ध्यान में रखकर किया है। साधारणतः उनके छायावादी, प्रगतिवादी, गाँधीवादी अथवा अरविन्दवादी बनते जाने का उल्लेख किया गया है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक में उनकी केन्द्रीय स्थापना है कि छायावाद एक विशिष्ट मूल्य की खोज के साथ वर्तमान शती के आरम्भिक दशकों में प्रारम्भ हुआ और परवर्ती काव्यचरणों में वह भिन्न-भिन्न खण्ड-मूल्यों का प्रकाश करता हुआ आगे बढ़ता गया। अर्थात्, उनके मतानुसार ऐतिहासिक यथार्थ का प्रतिष्ठापक प्रगतिवाद और जैवी अथवा मनोविश्लेषणीय यथार्थ का संवाहक प्रयोगवाद या नई कविता —ये सभी काव्य-चरण छायावाद के विभिन्न स्वरूप हैं। इसीलिए उन्होंने छायावाद के प्रथम, द्वितीय इत्यादि 'उत्थानों' का उल्लेख किया है जब कि उन्हें आधुनिक काव्य के छायावादी, प्रगतिवादी इत्यादि उत्थानों की स्पष्ट चर्चा करनी चाहिए थी। किन्तु तब, वैसी अवस्था में छायावाद के 'बृहत्तर' मूल्य की स्थापना सम्भव नहीं होती। और, जैसा कि ऊपर कहा है, पन्त जी इस नवीन निरूपण में भी जम नहीं सके हैं। अनेक बार वे अपनी केन्द्रीय तर्कधारा को जैसे भूलकर, छायावादी मूल्य, प्रगतिवादी मूल्य तथा प्रयोगवादी मूल्य की भिन्न चर्चा करने लगे हैं। वास्तव में, पन्त जी का विवक्ष्यार्थ रहा है द्विवेदी-युग की समाप्ति के साथ नये मानव-मूल्य की खोज तथा उसकी उपलब्धि के सहायक-रूप में आंशिक वा आङ्गिक के उपमूल्यों का उदय तथा अवसान। और, यदि उन्होंने समस्त आधुनिक काव्य को एक बृहत्तर मूल्य की खोज एवं स्थापना के प्रमाणीभूत रूप में, छायावाद को उसके साथ एकान्वित करने का लोभ संवरण कर विवेचित किया होता, तो उनकी नई दृष्टि की अशेष भाव से सराहना की जाती। छायावादी मूल्य-चेतना की व्यापकता के निरूपण-मोह में पन्त जी असङ्गतियों तथा आत्मविरोधी कथनों के दलदल में फँस गये हैं। पन्त जी द्वारा उपस्थापित नया "सांस्कृतिक मूल्य," अभीष्ट "बृहत्तम मूल्य", वही है जो 'लोकायतन' में पल्लवित हुआ है—ज्ञान-विज्ञान का अन्तःसंयोजन+राग-भावना का नवसंशोधन+भू-जीवन में मानव प्रेम की प्रतिष्ठा—(पृ० १३९)। स्पष्ट ही पन्त जी की नवीन स्थापना के स्वाभाविक तर्क से 'लोकायतन' छायावाद की प्रस्थापिका 'शिखर' काव्यकृति है। हमें सन्देह है कि हमारे समीक्षा-संसार में प्रस्तुत छायावादी मूल्याङ्कन स्वीकार होगा। छायावाद के ह्रास अथवा पतन की चर्चा से स्वभावतः पन्त जी की नाराजगी समझ में आ जाती है।

छायावाद के उपर्युक्त बृहत्-मूल्य-निरूपण के प्रकाश में पन्त जी द्वारा अपने सहयोगी कवियों की की गयी समीक्षा, सही होते हुए भी खटकती है। उदाहरणतः, प्रसाद जी के विषय में

यह कथन कि उनमें नये मूल्य तथा नये सौन्दर्य-बोध की पकड़ नहीं थी, तब उचित माना जाता, जब प्रकृत छायावादी-कसौटी छोड़कर विशुद्ध आधुनिक दृष्टि से 'कामायनी' का मूल्याङ्कन किया जाता। और पन्त जी जब हमारी तरह यह कहने लगते हैं कि "छायावादी काव्य की दृष्टि से, अर्थात् नये काव्य सञ्चरण के प्रथम उत्थान की दृष्टि से, 'कामायनी' इस युग की एक अद्भुत भाव-सम्पद् तथा अपूर्व आकर्षण भरी कृति है", तब लगता है कि उनकी उत्साह-निर्मित छायावाद-विषयक नयी थीसिस उनके आत्म-विश्वास की प्रसूति न होकर, नवीन उद्भावना के मोह से प्रेरित तर्क-मेधा की उपज है। महादेवी की पन्त जी की आलोचना, अत्यन्त सुन्दर तथा सुलझी हुई है—"यह अज्ञात प्रियतम तो वह प्रेम-मूल्य या रागमूल्य है जिसे उन्होंने निवृत्ति के आनन्द से मण्डित न कर, प्रवृत्ति की पीड़ा के माध्यम से व्यक्त किया है"—(पृ० ९१)।

तथापि, सब कुछ कह लेने के बाद एक बात पाठक के मन में यह उभरती ही है कि पन्त जी छायावाद के पुनर्मूल्याङ्कन में समीक्षक की निस्सङ्गता नहीं बरत सके हैं। शायद रचनात्मक साहित्यकार से 'तत्त्वाभिनिवेशी' समालोचना के दायित्व का पालन नहीं हो सकता।

(डॉ०) रमाशंकर तिवारी,
जवाहरलाल नेहरू डिग्री कालेज,
बाराबंकी।

भाषा और भाषिकी
देवीशङ्कर द्विवेदी की भाषाशास्त्र की पुस्तक

प्रकाशक : लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा।
संस्करण : प्रथम, १९६४ ई०
मूल्य : ५ रुपया

हिन्दी प्रदेश के एम० ए० तथा बी० ए० के छात्रों को भाषा-शास्त्र की अंग्रेजी पुस्तकों को समझने में प्रायः कठिनाई होती है। इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य यह है कि उक्त कक्षाओं के विद्यार्थी हिन्दी के माध्यम से भाषा की परिभाषा तथा उसका स्वरूप, उसकी उपव्यवस्थाएँ भाषाशास्त्र तथा उसके विविध रूप आदि से सम्बन्धित इतना ज्ञान प्राप्त कर लें कि उसके बाद उन्हें भाषाशास्त्र विषयक बोध हो जाय तथा वे भाषा शास्त्रीय साहित्य को समझने में समर्थ हो सकें। भाषाशास्त्र की सामान्य सैद्धान्तिक पुस्तकों के प्रथम अध्याय में जिन बातों की विवेचना की जाती है प्रायः उन्हीं से सम्बन्धित बातों पर १२६ पृष्ठों में इस पुस्तक में भी विचार किया गया है (परिशिष्ट को छोड़कर)। भाषा की अव्यवस्थाओं से सम्बन्धित विवेचन अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा हिन्दी भाषा के उदाहरणों द्वारा पुष्ट है। लेखक ने आठ पृष्ठों में 'भाषा की उत्पत्ति' पर भी विचार किया है जिस पर आज कोई भाषा-शास्त्री विचार नहीं करता। इस विषय पर

लिखने का कारण शायद यह है कि आज भी एम० ए० (हिन्दी) में भाषा विज्ञान के प्रश्न-पत्र में "भाषा की उत्पत्ति" से सम्बन्धित प्रश्न पूछे जाते हैं।

पहले और दूसरे अध्यायों में लेखक ने भाषा की परिभाषा और उसके स्वरूप पर विचार किया है। "यादृच्छिक वाक् प्रतीकों की व्यवस्था" (सिस्टम ऑफ आर्बिट्रेरी वॉकल सिम्बल्स) के रूप में हिन्दी में भाषा की परिभाषा देने का सर्वप्रथम उल्लेखनीय प्रयास डॉक्टर उदयनारायण तिवारी का था। इस सम्बन्ध में उनका "भाषा की परिभाषा एवं स्वरूप" शीर्षक लेख सम्मेलन पत्रिका, भाग ४६, संख्या १, पौष-फाल्गुन १८८१ शक में प्रकाशित हुआ था। डॉ० देवीशङ्कर द्विवेदी ने भी तत्सम्बन्धी विवेचन आधुनिक भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुरूप ही किया है।

स्वानिकी (ध्वनि विज्ञान) के अन्तर्गत लेखक ने वाग्यन्त्र, स्वर एवं व्यञ्जन तथा ध्वनि गुण (मात्रा, बल, सुर एवं अनुतान) आदि पर विचार किया है, जो अत्यन्त संक्षिप्त, सामान्य एवं परम्परागत है। 'सुर' का विवेचन कुछ मात्रा में अवश्य वैशिष्ट्यपूर्ण है। 'सुर' के दो स्तर-भेदों (तान एवं अनुतान) का स्पष्ट वर्गीकरण किया गया है। किन्तु लेखक ने कहीं-कहीं ऐसे वाक्य भी लिखे हैं, जो अस्पष्ट हैं। यथा—

(१) **"स्वरतंत्र में रंगमंच के पर्दों की भाँति दो तंत्रियाँ होती हैं"।** (पृ० २२)

साहित्य के क्षेत्र में तन्त्रियों की उपमा रङ्गमञ्च के पर्दों से देना एक गुण माना जा सकता था; किन्तु किसी विज्ञान के विषय में इस प्रकार के उपमान विधान से विषय का यथातथ्य स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है।

(२) **"नासिक्य व्यंजनों में प्रसनी की वायु नासिका विवर के मार्ग से ही निकलती है। 'सानुनासिक स्वरों' में यह वायु मुख विवर के साथ नासिका विवर से भी निकलती है"।** (पृ० २३-२४)

यदि नासिक्य व्यञ्जनों के उच्चारण में सारी वायु केवल नासिका विवर के मार्ग से ही निकलती है तो फिर नासिक्य व्यञ्जनों के सन्दर्भ में उच्चारण-स्थान एवं उच्चारण-प्रयत्न का क्या महत्व है? फिर 'ङ्०', 'ञ्', 'ण्'', 'न्' एवं 'म्' ध्वनियों के अन्तर का क्या कारण है?

स्वानिमी (ध्वनिग्राम शास्त्र) के अन्तर्गत बंटन (वितरण) का विवेचन किया गया है तथा उसे हिन्दी उदाहरणों द्वारा समझाया गया है। लेखक स्वन, (फोन) ध्वनि (साउण्ड) एवं स्वानिम (फोनीम) के अन्तर को स्पष्टतः नहीं बता पाया है, जिसके कारण पाठकों को भ्रम हो सकता है। यथा : **"समाज के सारे सदस्यों को ध्यान में रक्खें और उनके जीवन भर में उच्चरित भाषा पर विचार करें तो एक ही ध्वनि का उच्चारण असंख्य बार करना पड़ता है। ये वास्तव में असंख्य ध्वनियाँ हैं, जिनमें पार्थक्य होता है"।** (पृ० ४८)।

एक ध्वनि का जब असंख्य बार उच्चारण किया जाता है तो वे असंख्य रूप "असंख्य ध्वनियाँ नहीं, "असंख्य स्वन" होते हैं। इस अन्तर का प्रतिपादन न कर सकने के कारण आगे का विवेचन भी भ्रमपूर्ण हो गया है। वस्तुतः 'स्वनिम' (ध्वनिग्राम) 'स्वनों' का 'भावानयन' ही है, किन्तु ध्वनियों का वह 'क्षेत्र' है। परिपूरक बंटन (परिपूरक वितरण) एवं मुक्त विभेद (मुक्त परिवर्तन) के आधार पर एक ध्वनिग्राम के सदस्य 'स्वन' नहीं होते, ध्वनियाँ होती हैं। ध्वनिग्राम की सदस्य ये "ध्वनियाँ" ही संस्वन (सहस्वनग्राम) होती हैं। इसी कारण इन संस्वनों

की ध्वन्यात्मक विशेषताओं की हम विवेचना करते हैं। अंग्रेजी में 'फोन्' एवं 'फोनीम्' शब्द अवश्य हैं, किन्तु वहाँ 'फोनीम्' शब्द रूढ़ हो गया है। 'फोन' तथा 'फोनीम' के वजन पर 'स्वन' तथा 'स्वनिम' गढ़ने का अर्थ अंग्रेजी की गलत रूढ़ि को मान लेना है। इस कारण 'फोनीम' की अर्थवत्ता का यथार्थ बोध 'स्वनिम' या 'स्वनग्राम' से प्रकट न होकर' ध्वनि ग्राम' से होता है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह है कि यह शब्द 'फोनीम' के प्रतिरूप में हिन्दी में प्रचलित भी हो गया है।

'मर्ष विज्ञान' (पदग्रामशास्त्र) के अन्तर्गत लेखक ने मर्ष (मॉर्फ) एवं मर्षिम (मॉर्फिम) के स्वरूप की अच्छी विवेचना की है। लेखक कि यह परिभाषा कि **"मर्षिम लघुतम अर्थयुक्त इकाई है, वह अर्थ की इकाई नहीं है"** मर्षिम के स्वरूप को समझने में अवश्य सहायता देगी।

इस प्रकरण में शब्दों का 'मार्षमिक विश्लेषण' (मॉर्फोलॉजिकल सैग्मैण्टेशन) प्रस्तुत किया गया है। यह विश्लेषण सर्वथा निर्दोष नहीं है यथाः—पृ० ६२ पर 'करना' का /कर्-न्-आ / विश्लेषण किया गया है। / करना, देना, लेना, पीना, होना / स्तम्भ के आधार पर 'करना' का विश्लेषण / कर–ना / होगा। सारणी के तीनों स्तम्भों (अर्थात् / करना, लेना, देना, पीना, होना, किया, लिया, दिया, पिया, हुआ, कीजिए ~ करिए, लीजिए, दीजिए, पीजिए, हूजिए ~ होइए /) के आधार पर 'करना' का / कर्-न्-आ/ विश्लेषण ठीक है; किन्तु फिर 'किया' का विश्लेषण / कि–य्–आ / होगा; / कि–या / नहीं। यदि सारणी में / किया ~ किआ / दोनों शब्द-रूप मुक्त विभेद की स्थिति में मिलते होते तो उस स्थिति में / कि–आ / विश्लेषण होता तथा मर्षस्वानिमी (मार्फोफोनैमिक्स) के अन्तर्गत मुक्त विभेद की स्थिति में 'य्' श्रुति के आगमन की विवेचना की जाती ।

लेखक की परिभाषाएँ भी सर्वथा सङ्गत नहीं है। यथा, प्रातिपदिक (स्टैम) की परिभाषा लेखक ने इस प्रकार दी है—**"धातु, धातु-समूह अथवा धातु-प्रत्यय के ऐसे अनुक्रम को प्रातिपदिक (स्टैम) कहा जाता है, जिसमें प्रत्ययों का योग होता है"। (पृ० ६६)।**

इस परिभाषा में अति-व्याप्ति दोष है। प्रातिपदिक में धातु अथवा धातु-समूह के बाद केवल व्युत्पादक प्रत्ययों (डैरीवेशनल एफिक्सिस) का ही योग होता है; विभक्ति प्रत्ययों (इन्फ्लैक्शनल एफिक्सिस) का नहीं। प्रातिपदिक रचना (स्टैम फॉरमेशन) का अर्थ ही होता है—'धातु या प्रकृति में व्युत्पादक प्रत्ययों के योग की प्रक्रिया का अध्ययन।'

लेखक ने पृष्ठ ६९ पर एक टिप्पणी दी है, जो अत्यधिक अस्पष्ट है। यह टिप्पणी इस प्रकार है—**"यदि किसी कोटि के थोड़े शब्द भी रूपायित हों तो वह रूपायित कोटि हो जाती है। हिन्दी में /घोड़्-/, /लड़क्-/ जैसे प्रातिपदिक अपना अर्थ देने के अतिरिक्त पुल्लिङ्ग कोटि में जाते हैं, अतः यह पुल्लिङ्ग हिन्दी संज्ञाओं में चयनात्मक कोटि है।"**

'चयनात्मक कोटि' की परिभाषा लेखक ने उसी पृष्ठ पर इस प्रकार दी है—**"जिस व्याकरणिक कोटि के द्योतन के लिए किसी मर्षिम का योग नहीं करना पड़ता, प्रातिपदिकों को परिवर्तित रूप में ही उस व्याकरणिक कोटि के अन्तर्गत मान लिया जाता है, उसे चयनात्मक कोटि कहते हैं।"**

चयनात्मक कोटि की यह परिभाषा लेखक की टिप्पणी को और अधिक अस्पष्ट कर देती है। लेखक के वक्तव्य के विश्लेषण से निम्नलिखित धारणाओं की स्थापना होती है--

(१) /घोड़-/, /लड़क्-/ जैसे प्रातिपदिक अपना अर्थ देने के अतिरिक्त पुल्लिङ्ग कोटि में आते हैं।

(२) /घोड़-/, /लड़क्-/ चयनात्मक कोटि के अन्तर्गत आते हैं; अर्थात् इन प्रातिपदिकों के बाद किसी व्याकरणिक कोटि के द्योतन के लिए किसी मर्फिम (मॉर्फिम) का योग नहीं करना पड़ता है।

उपर्युक्त ये दोनों ही स्थापनाएँ भ्रमपूर्ण एवं अशुद्ध हैं। /घोड़-/ तथा /लड़क्-/ केवल प्रातिपदिक हैं, स्वयं में पुल्लिङ्गवाचक नहीं हैं। ये चयनात्मक कोटि के अन्तर्गत भी नहीं हैं; क्योंकि व्याकरणिक कोटि के लिए अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त होने की क्षमता के लिए इनमें मर्फिम (विभक्ति प्रत्यय) का योग आवश्यक है। विभक्ति प्रत्ययों के योग के बाद ये केवल पुल्लिङ्ग कोटि के निर्माण तक ही सीमित नहीं हैं। इन प्रातिपदिकों में कारक, वचन तथा लिङ्ग के अनुसार प्रयुक्त होने वाली विभक्ति प्रत्ययों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है--

	पुल्लिङ्ग		स्त्रीलिङ्ग	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
अविकारी कारक	-- आ	-- ए	--ई	-- इयाँ
विकारी कारक	-- ए	-- ओं	--ई	-- इयों
सम्बोधन	-- आ	-- ओ	--ई	-- इयो

लेखक ने लिङ्ग, वचन, कारक, काल, पक्ष, वाच्य, वृत्ति आदि व्याकरणिक कोटियों की हिन्दी भाषा के उदाहरणों के साथ विवेचना की है। इन व्याकरणिक कोटियों की लेखक ने अलग-अलग विवेचना की है और यह पद्धति विवेच्य विषय के निरूपण की दृष्टि से ठीक है। किन्तु चूँकि लेखक ने उदाहरण हिन्दी भाषा से दिये हैं, इस कारण हिन्दी भाषा के प्रकृत्यानुसार जो विभक्ति एक साथ एकाधिक व्याकरणिक कोटियों की समन्वित अभिव्यक्ति करती है, उसका भी सङ्केत यदि लेखक टिप्पणी में कर देता, तो अधिक अच्छा होता। उदाहरण के लिए लेखक ने 'लड़का' शब्द का उदाहरण लिङ्ग का विवेचन करते हुए 'पुल्लिङ्ग' के लिए, 'वचन' का निरूपण करते हुए 'एकवचन' के लिए तथा 'कारक' की व्याख्या करते हुए 'सरल कारक (अवि० का०) एकवचन' के लिए दिया है। यदि लेखक यह स्पष्ट कर देता कि हिन्दी संज्ञा में एक ही विभक्ति लिङ्ग, वचन, कारक की समन्वित अभिव्यक्ति करती है तो पाठकों के लिए यह सहज बोधगम्य हो जाता कि /लड़क्-/ प्रातिपदिक के बाद /-आ/ विभक्ति प्रत्यय से सरल कारक पुल्लिङ्ग, एकवचन की समन्वित अभिव्यक्ति हो रही है।

वाक्य विज्ञान के अन्तर्गत लेखक ने ५–६ वाक्यों के समीपी सङ्घटकों का विश्लेषण (आई० सी० अनेलैसिस) किया है। यद्यपि अब समीपी-सङ्घटक-विश्लेषण पद्धति पुरानी पड़ गयी है तथा उसके स्थान पर एकान्तर विश्लेषण (ट्रान्स्फॉरमैशनल अनेलैसिस) की पद्धति प्रयुक्त होती है; किन्तु चूँकि हिन्दी में भाषाशास्त्र की पुस्तकों में समीपी सङ्घटक विश्लेषण पद्धति पर भी विचार नहीं किया गया है, इस कारण लेखक का यह प्रयास प्रशंसनीय है।

'भाषा: एक वैज्ञानिक दृष्टि' शीर्षक पाँचवें अध्याय के अन्तर्गत लेखक ने भाषा के गठन, भाषा और लिपि तथा भाषा, उपभाषा, बोली, अनुली (व्यक्ति बोली) पर विचार किया है। मेरा विश्वास है कि भाषा के स्वरूप को समझने में उपर्युक्त विवेचन काफी सहायक सिद्ध होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भाषा की परिभाषा तथा उसके स्वरूप से ही सम्बन्धित विवेचन लेखक ने पहले और दूसरे अध्यायों में तथा परिशिष्ट के आरम्भिक चार अध्यायों में किया है। यदि इन सात अध्यायों को अलग-अलग न लिखा गया होता तथा एक ही स्थान पर समस्त सामग्री का उपयोग किया गया होता तो विवेचन में स्पष्टता, क्रमबद्धता एवं गहनता का आधिक्य तो हो ही गया होता, एक ही विषय पर अलग-अलग विचार करने से जो 'ओवरलैपिङ्ग' हो गया है, वह न होता।

'भाषिकी खण्ड' (छठें से नवें अध्याय) के २२ पृष्ठों में भाषिकी की वैज्ञानिकता, भाषिकी का उपयोग, भाषिकी की शाखाएँ तथा भाषिकी का अन्य विषयों से सम्बन्ध आदि का संक्षेप में तथ्यपूर्ण विवेचन हुआ है। निश्चित रूप से पाठकों को यह विवेचन तत्सम्बन्धी उच्च साहित्य के समझने में सहायक सिद्ध होगा। आठवें अध्याय में ग्लासिमी (ग्लॉसमैटिक) स्कूल को 'स्वानिमी' का एक प्रकार-रूप बतलाया गया है। वस्तुतः यदि भाषाशास्त्र के विविध 'स्कूलों' के सन्दर्भ में लेखक 'ग्लासिमी' का अध्ययन करता तो अधिक सङ्गत होता।

पुस्तक के दसवें अध्याय में अपने द्वारा व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावली को हिन्दी-अंग्रेजी तथा अंग्रेजी-हिन्दी क्रम से देकर लेखक ने स्तुत्य कार्य किया है। पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ के मन्तव्य को समझने के लिए प्रायः उतनी ही बार हिन्दी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली कोश का उपयोग करना पड़ता है, जितने पारिभाषिक शब्द उस पृष्ठ में प्रयुक्त हुए होते हैं। अगर लेखक ने यह पारिभाषिक शब्दावली न दी होती तो अनेक भ्रान्तियाँ हो जाने की सम्भावनाएँ थीं। उदाहरण स्वरूप पुस्तक के पृष्ठ ४० (उत्तरार्द्ध) से ४२ (पूर्वार्द्ध) तक हम जो कुछ पढ़ते हैं, वह हमें आश्चर्यचकित कर देता है। यह आश्चर्य तभी दूर होता है जब हिन्दी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली को देखने के बाद हमें यह ज्ञात होता है कि लेखक ने 'वर्ण' शब्द का प्रयोग 'ऐल्फाबैट' के लिए नहीं, अपितु 'सिलैबिल' के लिए किया है। लेखक ने जिस परम्परागत एवं सर्वमान्य पारिभाषिक शब्दावली के स्थान पर अपनी नयी शब्दावली साग्रह गढ़ी है, उसकी कोई तुक समझ में नहीं आती। इस प्रकार के कार्य को यदि कोई तार्किक वैयाकरण करता, तो कुछ बात समझ में आ सकती थी, किन्तु एक भाषाशास्त्री होकर तथा इसी पुस्तक में शब्द और अर्थ के यादृच्छिक सम्बन्ध का निरूपण करते हुए भी लेखक ने मान्य शब्दावली के स्थान पर अपनी शब्दावली गढ़ने का जो प्रयास किया है, वह ठीक नहीं जँचता। नीचे लेखक द्वारा प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक शब्दों की ओर सङ्केत किया जा सकता है—

अंग्रेजी रूप	हिन्दी में मान्य	लेखक द्वारा प्रयुक्त
(१) Affricate	स्पर्श-सङ्घर्षी	स्पवर्ष
(२) Alveolar	वर्त्स्य	बर्स्व्य
(३) Idiolect	व्यक्तिबोली	अनुली
(४) Inflected	वैभक्तिक	रूपायित
(५) Linguistics	भाषाशास्त्र	भाषिकी
(६) Morph	पद या रूप	मर्ष
(७) Morpheme	पदग्राम या रूपग्राम	मर्षिम
(८) Non-Syllabic	अनक्षरात्मक	अवार्णिक
(९) Phenetic	ध्वनि विज्ञान	स्वनिकी
(१०) Semantics	अर्थविज्ञान	सीमान्तिकी
(११) Syllable	अक्षर	वर्ण
(१२) Vowel-Triangle	स्वर त्रिकोण	स्वर चतुष्कोण

यह निर्विवाद सत्य है कि भाषाशास्त्र की नयी पीढ़ी के विद्वानों में डॉ० देवीशङ्कर द्विवेदी का अपना स्थान है। इसमें भी सन्देह नहीं कि आज यह अत्यावश्यक है कि नवीन दृष्टिकोण से हिन्दी में भाषाशास्त्र विषयक पुस्तकें लिखी जायँ। इस दृष्टि से डॉ० द्विवेदी ने आधुनिक भाषाशास्त्र की प्रणाली एवं पद्धति की विवेचना करने का जो प्रयास किया है, उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। सब मिलाकर यह पुस्तक एक सुखद सम्भावना की ओर सङ्केत करती है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में डॉ० द्विवेदी भाषाशास्त्र सम्बन्धी सामग्री को विवेच्य आयामों की विस्तृत सीमा के साथ प्रस्तुत करेंगे।

(डॉ०) महावीरसरन जैन,
हिन्दी विभाग,
जबलपुर विश्वविद्यालय, जबलपुर।

बयार पुरवइया
भोलानाथ 'गहमरी' का भोजपुरी काव्यसंग्रह

प्रकाशक : भारतीय प्रकाशन
विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण : सन् १९६४ ई०
पृष्ठ संख्या : १२८
मूल्यः ३ रुपया ९० पैसा

हिन्दी भाषा की क्षेत्रीय बोलियों में 'भोजपुरी' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके बोलनेवालों की संख्या पूर्वी उत्तर प्रदेश के वाराणसी, बलिया, गाजीपुर, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, जौनपुर,

मिर्जापुर तथा आजमगढ़ जिलों और पश्चिमी बिहार के शाहाबाद, चम्पारण, सारन, छोटा नागपुर आदि जिलों को मिलाकर चार करोड़ से भी अधिक है जो क्षेत्रीय बोली बोलनेवालों में सर्वाधिक है। देश के विभिन्न बड़े-बड़े शहरों में भी इस बोली के बोलनेवालों की संख्या कम नहीं है। यह आश्चर्य की बात है कि इतने विशाल जन-समूह की भाषा होते हुए भी भोजपुरी-साहित्य का अभाव आज भी बना हुआ है। लिखित रूप में तो इसका प्राचीन साहित्य आज भी उपलब्ध नहीं है।

किन्तु इधर जब से लोक-साहित्य और भाषाशास्त्र के अनुशीलन और अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान गया है, तब से भोजपुरी के अध्ययन और मनन की दिशा में पर्याप्त विकास हुआ है और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्व की अनेक बातें प्रकाश में आई हैं। अब तो स्थिति ऐसी है कि अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कवियों एवं लेखकों ने भी इस जन-बोली में साहित्य-सृजन करना प्रारम्भ कर दिया है।

श्री भोलानाथ 'गहमरी'-कृत 'बयार पुरवइया' इस दिशा में मात्र एक प्रयास ही नहीं, महत्वपूर्ण उपलब्धि भी कही जायगी। प्रस्तुत सङ्कलन में श्री गहमरी के ५५ भोजपुरी गीत संगृहीत हैं जो क्रमानुसार भक्तिगीत, बरखाबहार, शरद, दीपावली, बसन्त, चइता, ग्रीष्म, बारहमासा, देशभक्ति गीत, बिखरे मोती तथा श्रद्धाञ्जलियाँ उपशीर्षकों में विभक्त हैं। इन उपशीर्षकों से गीतों की विषय-वस्तु तथा उनमें निहित भावतत्त्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भक्तिरस के गीतों में कवि ने उस अव्यक्त और सर्वशक्तिमान् अलौकिक सत्ता के प्रति अपने भावोद्गारों को व्यक्त किया है जो मध्यकालीन निर्गुणियाँ सन्तों की साधना का केन्द्र-बिन्दु था। इन गीतों की शैली भी रहस्यात्मक है। कवि ने आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए सन्तों के ही समान पारिभाषिक शब्दों का समुचित प्रयोग कर तथा उनमें नया अर्थ भरकर अपनी काव्य-कुशलता का परिचय दिया है। इस सन्दर्भ में कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

(१) ऊँचे बिरिछिया क ऊँची पुलुइयाँ,
कबहूँ न पंछी रे उतरत भुइयाँ,
छोड़ि गरूर अब करि लेहु नेहियाँ,
नगरिया एक दिन छूटिहे पंछी, नाहीं बूझे राम ।।

(२) पाँच हबेली रहत अकेली
बीतलि जाय उमरिया,
बाहर भीतर नींदों न लागे,
काटेले मोहि सेजरिया,

बूझेला नाहिं पिया परदेसी,
कवनी देस बसे।
बिरही रतिया डँसे ।।

'बरखा-बहार' में कवि ने अनेक दृष्टिकोणों से वर्षा को देखा है। आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूपों में वर्षा का चित्रण आकर्षक, मनोमुग्धकारी एवं स्वाभाविक है। भोजपुरी में इस प्रकार के नवीन प्रयोगों तथा छन्दों एवं अलङ्कारों में विरोधाभास देखकर आश्चर्य होता है और कवि की प्रतिभा तथा काव्य-कुशलता की प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जाता। अपने 'वर्षा गीत' में एक स्थान पर कवि कहता है—

सोन्ह-सोन्ह मँहकल अँचरा में, पाहुर दिहल पिया के,
खोले भेद पवन पुरवइया, नेहियाँ भरल हिया के,
मन के जरल चिराग, राग सुनि, बदरा के मल्हार।
आज घर आइल हँसत असाढ़॥

जहाँ विरोधाभास है वहीं नया प्रयोग भी देखिये—

चंचल भइल पाँव के बिछुआ, मेंहदी के मुँह पान,
नेह पाइ बिरवा अँकुराइल, बगिया करे गुमान,
निहुरि-निहुरि भुंइ माथ बदरवा, चूमे सौ-सौ बार।
आजु घर आइल हँसत असाढ़॥

शरद्, बसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं के वर्णन में भी कवि अपने इसी रूप में उपस्थित होता है और सहज स्वाभाविक ढङ्ग से इन ऋतुओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करता है कि पाठक सहज ही साधारणीकरण की स्थिति में लीन हो जाता है। सच बात तो यह है कि ऋतुओं एवं पर्वों से सम्बन्धित गीतों में कवि की आत्मा उन्मुक्त भाव से अपनी समस्त सौन्दर्यानुभूति सहित निर्मल गङ्गा की भाँति उछलती-कूदती प्रवाहित होती है। इस सन्दर्भ में शरद् का एक चित्र द्रष्टव्य है—

बिखरल मोती पात-पात पर,
टहकि फुलाइल कास;
भूललि डोर अकास-बँवर से,
कनइन भरल सुवास;
अगराइल मन हरसिंगार के
मँहकि उठल भिनसार।
यार अब डोलति सरद बयार॥

प्रकृति-चित्रण में गहमरी जी ने जैसा सूक्ष्म, सजीव एवं मनोहारी चित्र प्रस्तुत किया है, वैसा खड़ीबोली की कविताओं में भी देखने को कम ही मिलता है। पुस्तक में जहाँ इस तरह के अनेक चित्रण हैं, वहाँ मानवीय भावों के कोमल पक्षों का चित्रण भी अत्यन्त कुशलता से हुआ है। श्रृंगार-रस के वर्णन में कवि की सफलता अद्वितीय है। विरह के चित्र जो भोजपुरी लोकगीतों के प्राण हैं, अपने समस्त सौन्दर्य के साथ कवि की लेखनी से अवतरित हुए हैं। **'ना जाने कजरा**

के मोल, बलम हमरो परदेसिया' तथा **'भीजे जो अंचरा तो भीजें हो, कहीं भीजें न कजरा'** आदि कविताएँ भोजपुरी काव्य के इतिहास में अमर रहेंगी। ऐसे ही गीतों को लक्ष्य कर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी भूमिका में लिखा है कि "ये गीत स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी हैं तथा कवि की दक्षता के परिचायक हैं"।

देशभक्ति विषयक गीतों में कवि की राष्ट्रीय भावनाओं का सुन्दर रूप दृष्टिगत होता है और देश के सर्वतोन्मुखी विकास के लिए वह भरे हृदय से कामना करता है। 'श्रद्धाञ्जलियाँ' में कवि ने देश के महापुरुषों एवं शहीदों के प्रति श्रद्धा-भावना अर्पित की है।

गहमरी जी के गीतों में पाठकों को अपने में लीन कर लेने की शक्ति है। भोजपुरी तो वैसे ही मधुर एवं कोमल भावाभिव्यक्ति की भाषा है, किन्तु गहमरी जी के कलम में आकर वह और भी सुकुमार और भावमय हो गई है। निश्चित रूप से प्रस्तुत **काव्य-सङ्कलन** भोजपुरी की एक श्रेष्ठ कृति कही जायगी। आचार्य द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि "प्रस्तुत पुस्तक भोजपुरी साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए एक महत्वपूर्ण कड़ी होगी"।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में एक अन्य महत्वपूर्ण बात है जो इसकी रचनागत समीक्षा से सम्बन्धित न होकर छपाई, गेटअप और मूल्य से है। निश्चित रूप से पुस्तक की छपाई, गेटअप और सबसे अधिक मूल्य हिन्दी प्रकाशकों के लिए एक चुनौती है और साथ ही एक दिशा-निर्देश भी है।

भोजपुरी जगत् ऐसी कृति को पाकर निश्चित ही गर्व का अनुभव करेगा। श्री 'गहमरी' ऐसी कृति के लिए बधाई के पात्र हैं।

गोविन्दजी,
६८, रामबाग,
इलाहाबाद—३।

युग की नवल वन्दना के स्वर
रमाकान्त श्रीवास्तव का काव्यसङ्कलन

प्रकाशक: शैलजा प्रीति प्रकाशन कानपुर।
पृष्ठ संख्या: १११
मूल्य: ढाई रुपये

प्रस्तुत सङ्कलन में कवि की छत्तीस कविताएँ संग्रहीत हैं। अधिकांश के शीर्षक कथ्य की स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं—जैसे 'श्रमदेवता', 'हलवाहे का गीत', 'श्रम और परमेश्वर', 'धरती सोने की बन सकती है', 'श्रम और श्रमिक'। आशय यह कि पुस्तक की सारी रचनाएँ श्रम-श्रमिक तथा कृषि-कृषक से सम्बन्धित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन के निकट आने की चेष्टा में कविता धरती के गीत गाएगी, परन्तु वे गीत यदि पिष्टपेषण मात्र बनकर रह गए तो तुकबन्दी और काव्य में अन्तर करना कठिन हो जाएगा। इस संग्रह की कविताएँ देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें

समय-समय पर पञ्चवर्षीय योजना के सिलसिले में लिखा गया है। पढ़कर मालूम पड़ता है कवि तुक जोड़ने का अभ्यास कर रहा है—

तू दूरी क़दमों में भर ले,
अपनी छाती और फुला ले,
पास स्वयं तू लक्ष्य बुला ले,
तेरी गति तेरी मंज़िल है,
आकर तेरे गले लगेगी।
यह धरती सोना उगलेगी।।

यह कवि का अभियान गीत हैं। बताना अनावश्यक है कि ऐसे गीतों में जो स्फूर्तिदायिनी भावधारा होनी चाहिए, उसका यहाँ अभाव है। यही नहीं, जरा आगे देखिए—

मारे जा फावड़ा कुदाली
वार न जाए तेरा ख़ाली

मैं समझता हूँ कि इसके आगे 'जय जय जय कलकत्ते वाली' पंक्ति की जरूरत और रह जाती है।

कवि के पास कहने के लिए बस एक बात है, परन्तु उसे विधिपूर्वक रमणीय भाव-सङ्कलित बनाकर रखने की कला से वह अनभिज्ञ है। फलस्वरूप कोई-कोई कविता नामों की सूचीमात्र बन गई है। उदाहरणार्थ, 'जहाँ कहीं भी तुम हो' कविता द्रष्टव्य है—

जहाँ कहीं भी तुम हो श्रमिको!
ज्वार, बाजरा, मक्का, धानों के खेतों में
चाय, रबर, सिनकोना, क़हवा के बाग़ों में
सूती, ऊनी, जूट, रेशमी उद्योगों में
लोहा, कोयला, ताँबा, गंधक की खानों में
बिजली, चीनी, बर्फ़, तेल के उत्पादन में
सड़क, रेल बिछाने, ईंट जोड़ने के कामों में।
जहाँ कहीं भी तुम हो श्रमिको!

कवि वस्तुएँ गिनाते-गिनाते पाठक को थका देता है। इसी का सहपरिणाम शुष्क प्रवचन प्रवृत्ति है, जो इन रचनाओं में बहुत मिलती है। जो कविताएँ ग्राम्य-जीवन से सम्बद्ध हैं, उनमें कोई-कोई चित्रण सुन्दर बन पड़ा है। 'ग्राम-वधू' और 'किसानबाला' रचनाएँ कवि के भावबोध का परिचय देती हैं। 'ग्राम-बधू' में सौन्दर्य को धरती के सन्दर्भ में रखकर कवि ने मर्म-स्पर्श किया है। श्रृंगार की कितनी उदात्त भावना है—

सतरंगी चुनरी के अवगुण्ठन के अन्दर
खंजन-से चचल नयनों से

दृष्टिपात कर चली जा रही।
दूर क्षितिज के पास खड़े हैं धान खेत के
पुरवैया के साथ खेलते।
श्रम परिलक्षित होता उनमें
उसके पति का
जिसकी मांसल देह कनखियों से देखी थी
गठबंधन के शुभ मुहूर्त्त में...

'किसानबाला' में कवि की सजगता तथा सूक्ष्म निरीक्षण के दर्शन होते हैं। एक स्थल पर उपमा अत्यन्त मनोहारिणी है--

है शिरा-शिरा में लाल रक्त, है सजल और निर्मल काया।
माथे की बिँदिया लगती ज्यों, शबनम में मंगल की छाया॥

किन्तु खेद है कि इन दो कविताओं के अतिरिक्त अन्य सारी रचनाएँ घोर पुनरावृत्ति, इतिवृत्तात्मकता एवं नीरस जल्पना के नमूने उपस्थित करती हैं। सुभाषिताभास भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं--

जिसने न कभी अपनाया श्रम को जीवन में
वह मनुज नहीं मनुजत्व कभी पा सकता है;
जो श्रम को अपनी बाँहों में भर लेता है
देवत्व स्वयं उसके चरणों में झुकता है।

तात्पर्य यह कि इस संग्रह की लगभग सभी कविताएँ प्रचार-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं जिनमें कोरी नारेबाजी है। हाँ, पुस्तक का कागज़ तथा छपाई अच्छी है और मुद्रण की भूलें नहीं के बराबर हैं।

(डॉ०) मोहन अवस्थी,
हिन्दी विभाग,
यूनीवर्सिटी, इलाहाबाद।

प्रागनकृत 'भँवरगीत' हरिमोहन मालवीय द्वारा सम्पादित मध्ययुगीन विरह काव्य

प्रकाशक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
संस्करण : प्रथम (शक सं० १८८६)
मूल्य : डेढ़ रुपया

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की पाण्डुलिपि सम्पादन-योजना के अन्तर्गत प्रकाशित यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। मध्यकालीन हिन्दी भक्ति-साहित्य के कई ऐसे ग्रन्थ हैं जो कृतित्व

की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुए भी साहित्य-जगत् में सर्वथा अज्ञात हैं। ठीक ऐसी ही कुछ स्थिति प्रागन कृत 'भँवरगीत' की भी है। कृष्णभक्ति-साहित्य पर शोध करने वाले उन अन्वेषकों के लिए जिन्होंने इस काव्यधारा के विप्रलम्भ शृङ्गार या भँवरगीत-परम्परा पर कार्य किया है, यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करता है। विषयवस्तु की उपादेयता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि प्ररतुत कवि की भँवरगीत विषयक सैद्धान्तिक विचार-धारा नन्ददास और सूरदास दोनों से भिन्न है। नन्ददास के 'भँवरगीत' में सूर की सरसता नहीं है और सूरदास में निश्चित शृङ्खलाबद्ध तार्किक संवादात्मकता का अभाव है। किन्तु प्रस्तुत रचना जहाँ एक ओर शुद्ध प्रबन्धात्मकता से परिपूर्ण है, वहीं इसने सूर साहित्य की सम्पूर्ण भावनात्मक सम्पृक्ति को आत्मसात कर लिया है। गीतिकाव्य के सम्पूर्ण तत्त्वों की अभिव्यक्ति में कवि पूर्णरूप से जागरूक रहा है।

प्रस्तुत सम्पादित कृति को तीन खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। सम्पादक ने प्रथम खण्ड के अन्तर्गत कवि के जीवनवृत्त विषयक तथ्यों का सप्रमाण विवेचन तथा रचना का साहित्यिक मूल्याङ्कन किया है। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत पाठ विषयक सिद्धान्तों पर विचार किया है। इसका तीसरा अंश मूल पाठ का है।

कवि के जीवनवृत्त के अन्तर्गत सम्पादक ने जिन सामग्रियों का उल्लेख किया है, वे हैं—भगीरथप्रसाद दीक्षित का एक लेख 'हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और परम्परा'; डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव का शोधप्रबन्ध तथा श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी का लेख। किन्तु इन सामग्रियों में कोई ऐसा पुष्ट तथ्य नहीं है जिनसे कि कवि के जीवन वृत्त को पुष्टि मिल सके। सम्पादक ने अपने निष्कर्ष में श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी के निष्कर्षों को सामान्य रूप से दुहरा दिया है। जहाँ तक इसके साहित्यिक मूल्याङ्कन का प्रश्न है, सम्पादक इस कृति की स्वतन्त्र कृतित्वसम्पन्नता को उभारने का प्रयत्न करता हुआ भी नहीं उभार सका है। यदि वह ऐसा कर सकता तो इस ग्रन्थ के महत्त्व पर अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना रहती।

दूसरा अंश इसके पाठ-सम्पादन का है। प्रस्तुत सम्पादन ६ प्रतियों के आधार पर किया गया है। इसमें सबसे प्राचीन प्रति ब (वदस सिंह द्वारा प्रतिलिपित, प्रतिलिपि काल सं० १८४०) है। सम्पादक ने भूमिका भाग में इस प्रति को सबसे प्राचीन बताया है। सम्पादन-सिद्धान्त के अन्तर्गत उसने 'ब' तथा 'रा' प्रति के पाठ को विशेष महत्व दिया है। सम्पादक के ही शब्दों में इनमें "मूल पाठ का कुछ अधिक भाग" सुरक्षित है। उसने सम्पूर्ण प्रतियों को दो वर्गों में विभाजित किया है। एक का सम्बन्ध 'ब', 'सा', 'अ' प्रतियों से है तथा दूसरे वर्ग में 'द' तथा 'रा' प्रतियाँ आती हैं। किन्तु सम्पादक द्वारा दिए गए पाठान्तरों का यदि विवेचन करें, तो यह वर्ग-निर्धारण भ्रान्त ठहरेगा। इस सन्दर्भ में कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं:—**चरन गहि ऊधो सुनत सिधाए (पद सं० ३)।**

यहाँ 'सिधाए' के लिए 'सिधायो' पाठ 'सा' तथा 'रा' दोनों प्रतियों में है। इसी प्रकार के व्यतिक्रमपूर्ण सम्बन्धों के कुछ उदाहरण ये हैं—छंद सं० ३.१२ (सर्व—रा, अ), छ० सं० ५.२ (खरिक—सा,रा), छ० सं० ८.२ (देषी —सा, आ, रा), छ० सं० ११.७ (गिरिधरन—सा, द), छ० सं०१२.२ (इतहि—सा, द), छ०सं० १३.९ (ज्योति—सा, व, द, अ), छ० सं० १५.३ (सुनैगो—द, अ, रा), छ० सं० १९.१३ (ऐसे—अ, रा), छ० सं० २१.१४

(असूझ—सा, द, अ, रा)। ये समस्त उदाहरण सम्पादक द्वारा बनाए हुए वर्ग-क्रम से मेल नहीं खाते। वस्तुतः ऐसे पाठान्तरों को पुनः व्यवस्थित करके सम्पादक फिर से यदि वर्गक्रम बनाए तो पाठ विषयक नई सम्भावनाएँ निश्चित रूप से उभर सकती हैं।

सम्पादक ने इस ग्रन्थ में पाठ-सम्पादन की समस्या को जितनी सरलता से उठाया है, उसे सम्पादन की वैज्ञानिक पद्धति में प्राथमिकता दी जा सकती है, किन्तु यहाँ इससे पाठ की सम्पूर्ण स्थितियों का समाधान नहीं हो सका है। सम्पादक मूल या प्रामाणिक पाठ तक पहुँचने के लिए समस्त समस्याओं को पाठ-लोप, वृद्धि, विपर्यय तथा पाठान्तर के अन्तर्गत विभक्त कर देता है। यह सत्य है कि सम्पादन की पाठ समस्याएँ इन्हीं के अन्तर्गत आती हैं, किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न इनके समुचित विश्लेषण का है। पाठ-विज्ञान कोई बँधा-बँधाया ढाँचा नहीं है, जिसके अन्तर्गत सिद्धान्तों को ढाल दिया जाय। विशिष्ट पाठ के सन्दर्भ में पाठ-लोप, वृद्धि, विपर्यय आदि की विशिष्ट प्रकार की सम्भावनाएँ होती हैं। भ्रमपूर्ण विश्लेषणों, लुप्त पाठों, विपर्ययों तथा पाठ वृद्धियों की अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग सम्भावनाओं के आधार पर ग्रहण, त्याग, संशोधन आदि पर गम्भीरता से विचार होना यहाँ अपेक्षित था। परम्परा से प्राप्त विकृत या भ्रमपूर्ण विश्लेषण आदि से सम्बन्धित पाठों के संशोधन के प्रति यहाँ किसी भी प्रकार का विचार नहीं किया गया है।

इस ग्रन्थ का तीसरा अंश उसके पाठ से सम्बन्धित है। प्रति की पाठ परम्पराओं, लोप, वृद्धि, विपर्यय आदि के सामान्य आरोपण तथा संशोधन-दृष्टि के अभाव का प्रभाव मूल पाठ पर पड़ा है। सम्पादक द्वारा स्वीकृत किन्तु निरर्थक एवं अस्पष्ट स्थलों के कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनका पुनस्संशोधन होना अपेक्षित है—

सजे उरन सिक बन्ध [छ० सं० ११ पंक्ति संख्या २]
जानपनी को छोर [३७.२]
रसपोत मति होइ [४५.१]
हैं साइ ससुपाल [६४.२]

इनके अतिरिक्त प्रूफ सम्बन्धी भी अनेक चिन्त्य अशुद्धियाँ इस ग्रन्थ में देखने को मिलती हैं, जिनका अगले संस्करण में संशोधन हो जाना आवश्यक है।

इन त्रुटियों के बावजूद भी, पाठालोचन की दिशा में कार्य करने वाले साहित्य-मर्मज्ञ इस ग्रन्थ का समादर करेंगे, ऐसा विश्वास है। पाठ-सम्पादन की शास्त्रीय शैली से पृथक् पाठ के वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण की ओर सम्पादक सतत् प्रयत्नशील दिखाई देता है। उसके द्वारा प्रस्तुत अधिकांश पाठ तर्कपूर्ण एवं सङ्गत हैं।

(डॉ०) योगेन्द्र सिंह,
११९, पुराना कटरा,
इलाहाबाद।

सन्त कवि मलूकदास
त्रिलोकीनारायण दीक्षित का
आलोचना-ग्रन्थ

प्रकाशक : सन्त मलूकदास
स्मारक समिति, प्रयाग।
पृष्ठ संख्या : ८२
मूल्य : दो रुपया

साहित्यिक मूल्याङ्कन की दृष्टि से मलूकदास का स्थान कबीर, नानक, दादू के पहले हो या बाद में, इस विषय पर तो विवाद हो सकता है, पर सन्त-साहित्य में मलूकदास का महत्वपूर्ण स्थान है, यह निर्विवाद है। प्रस्तुत पुस्तक सन्त मलूकदास के जीवन और कृतित्व को प्रस्तुत करने वाली एक 'परिचयात्मक पुस्तिका' है जिसमें लेखक ने मलूकदास के युग, उनके जीवन एवं कृतित्व तथा उनकी राम विषयक धारणा पर बड़े ही नपे-तुले शब्दों में प्रकाश डाला है। साथ ही लेखक ने पुस्तक में सुथरादास कृत 'मलूक परिचयी' को सङ्कलित कर मलूकदास के जीवन पर और भी महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की है। प्रस्तुत पुस्तक का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश इसका उत्तरार्द्ध है जिसमें सन्त मलूकदास के तैंतालिस पदों का सम्पादन किया गया है।

विद्वान लेखक ने ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तवच्छावली, भक्ति विवेक, ज्ञानपरोछि, बारहखड़ी, रामअवतार लीला, व्रजलीला, ध्रुवचरित, विभवविभूति तथा सुखसागर को मलूकदास की प्रामाणिक रचना माना है। लेखककी दृष्टि में 'शतकम्' और 'भक्तमाल' मलूकदास विरचित नहीं हैं, अतः यह अप्रामाणिक रचनाएँ हैं। किन्तु ऐसा मत व्यक्त करते समय लेखक ने उपर्युक्त ग्रन्थों की प्रामाणिकता-अप्रमाणिकता के सम्बन्ध में कोई तर्क प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की है। कदाचित् लखक के समक्ष स्थान-सङ्कोच हो या मात्र 'परिचयात्मक पुस्तिका' लिखने का दृष्टिकोण रहा हो अथवा 'मलूकदास' शीर्षक अपने शोध प्रबन्ध में सारी सामग्री का विस्तृत विवेचन कर लेने के अनन्तर लेखक उन्हें यहाँ दुहराना उपयुक्त न समझता हो। जो भी हो, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि लेखक द्वारा प्रामाणिक कहे गए प्रत्येक ग्रन्थ का विषयगत संक्षिप्त परिचय पर्याप्त महत्व रखता है।

अन्य सन्त कवियों की तरह मलूकदास के जन्मकाल के विषय में भी विभिन्न मत हैं, पर लेखक ने तर्क के आधार पर इस बात की पुष्टि की है कि 'मलूक परिचयी' के दोहे में दिया गया जन्म-संवत् ही सही है।

बैशाख बदी तिथि पंचमी, संवत सोरह सै एकतीस।
जगत गुरू प्रकट भये, मलूक पुरुष जगदीस॥

इसी प्रकार मलूकदास की जाति और पिता के सम्बन्ध में भी लेखक ने विभिन्न भ्रान्तियों का निराकरण किया है।

लेखक ने मलूकदास की संक्षिप्त और प्रामाणिक जीवनी देकर उनके सम्बन्ध में अनेक नयी बातों पर प्रकाश डाला है। उनके इन सब विश्लेषणों का मूलाधार है सुथरादास रचित मलूक परिचयी। यहाँ एक बात अवश्य विचारणीय है कि महन्त नानकचन्द द्वारा प्रस्तुत की गई 'मलूक परिचयी' की प्रामाणिकता के विषय में कोई विचार नहीं किया गया है। सम्भव है, उसमें प्रतिलिपि की भूलें या प्रक्षेप भी हों।

विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक में 'मलूक-सम्प्रदाय' का संक्षिप्त इतिहास तो दिया है किन्तु सम्प्रदाय के प्रवर्तन-तिथि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक एवं निश्चित मत वह इसलिए नहीं दे पाया है कि उसके एकमात्र आधार ग्रन्थ 'मलूक परिचयी' में इसका कोई उल्लेख नहीं है। लेखक का अनुमान है कि मलूकदास ने अपने सम्प्रदाय का प्रवर्तन सं० १९०७ में किया। यहाँ उसका मत द्रष्टव्य है—"जीवन के ७० वें वर्ष के लगभग मलूकदास ने जगन्नाथपुरी की यात्रा की थी। जगन्नाथ-यात्रा के पश्चात् ही उन्होंने शिष्यों को दीक्षा देना प्रारम्भ किया था। अगर संवत् १७०७ में सम्प्रदाय के प्रवर्तन की निश्चित तिथि न भी मानें, तो इतना तो स्पष्ट है कि इस सम्प्रदाय का मलूकदास के जीवनकाल में अत्यधिक प्रचार रहा। इसके प्रवर्तक की सिद्धि, संयम, विश्वबन्धुत्व तथा दया आदि गुणों से प्रभावित होकर तत्कालीन जनता इस सम्प्रदाय की ओर आकर्षित हुई और थोड़े ही समय में हिन्दू तथा मुसलमान उसके शिष्य हो गए। एक निराकार ब्रह्म की उपासना के मधुर तथा आकर्षक सन्देश से प्रभावित हो कर अन्त्यज-वर्ग भी इस सम्प्रदाय का शिष्य बना। चिरकाल से अन्त्यजों के हेतु मन्दिरों के द्वारा की गई अवहेलना से प्रेरित हो कर मलूकदासी सम्प्रदाय ने उन्हें निराकार ब्रह्म की उपासना का पाठ पढ़ाया।"

'परिचयी' के आधार पर लेखक ने मलूक-सम्प्रदाय के महन्तों की लम्बी सूची प्रस्तुत करते हुए उनके समय के सम्प्रदाय की आर्थिक स्थिति और धार्मिक क्रियाकलाप, जैसे भण्डारा आदि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। साथ ही इस परिच्छेद के अन्त में 'मलूक-सम्प्रदाय' में प्रचलित 'दीक्षा' के समय नये शिष्यों से प्रतिज्ञा लेने के निमित्त बने इक्कीस नियमों का भी उल्लेख किया है। इससे मलूक-सम्प्रदाय के ब्रह्म, गुरु, गोविन्द, निष्काम सेवा, दया, सत्य, मांस-मदिरा, अहिंसा, अस्तेय, सन्तोष, स्वाध्याय, ज्ञान-भक्ति और वैराग्य का एक ही लक्ष्य, बाह्याडम्बरों का परित्याग आदि के विषय में सम्प्रदाय की उन सैद्धान्तिक मान्यताओं पर प्रकाश पड़ता है जिसके आधार पर 'मलूक-सम्प्रदाय' का निर्माण हुआ।

लेखक ने पूरे एक परिच्छेद में मलूकदास की राम विषयक धारणा पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला है। उसके मतानुसार "एकेश्वरवादी यवन एवं बहुदेववादी हिन्दुओं के मध्यस्थ विरोधी भावनाओं के उपशमन के हेतु मलूकदास ने भी एक ही ईश्वर की मान्यता का उपदेश दिया। साथ ही, हिन्दू तथा मुसलमानों के हृदय में इन्हीं भावों को स्थापित कर के उनके अन्तर्गत स्थित महान भेदभाव को समाप्त कर देने का प्रयत्न किया।" स्वयं लेखक के शब्दों में ही कहें तो—"सामान्य रूप से अभी तक मलूकदास अपने ब्रह्म विषयक विचारों में कबीर के अनुयायी समझे जाते थे। हिन्दी साहित्य के विद्वान उनकी और कबीरदास की ब्रह्म सम्बन्धी धारणा को एक मानते रहे हैं परन्तु तथ्य इसके विरुद्ध है।" कबीर निर्गुण के उपासक थे जब कि मलूकदास

• 'हिन्दुस्तानी' में समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

१. परतों के आर पार——श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
२. खोया हुआ प्रभा मण्डल——श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
३. शहर में घूमता आइना——श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
४. राजस्थानी साहित्य——डॉ० नरेन्द्र भनावत
५. नव रस रंग——सं० श्री हरिमोहन मालवीय
६. दूषणोल्लास——सं० श्री बेनीबहादुर सिंह
७. हिन्दी पर्यायों का भाषागत अध्ययन——डॉ० बदरीनाथ कपूर
८. अब्दकोश १९६६——सं० श्री गदाधर प्रसाद अम्बष्ट
९. अपभ्रंश भाषा और साहित्य——डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन
१०. रामचरित मानस का तत्व दर्शन——डॉ० श्रीश कुमार
११. सुदामा चरित——सं० डॉ० सियाराम तिवारी
१२. अमृत और विष——श्री अमृतलाल नागर
१३. डंगवै कथा तथा चक्रव्यूह कथा——सं० डॉ० शिवगोपाल मिश्र
१४. ध्वान्त——श्री महेन्द्र प्रताप

• 'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित समीक्षा का एक अपना महत्त्व होता है। प्रकाशक बन्धुओं से समीक्षार्थ पुस्तकें आमंत्रित हैं।

• 'हिन्दुस्तानी' में समीक्षार्थ पुस्तक की दो प्रतियाँ भेजनी आवश्यक हैं।

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

[१९६५ के संयुक्ताङ्क १-२ में प्रकाशित लेखों की सूची]

१. पद्मावत का अर्थ-विमर्श	डॉ० पारसनाथ तिवारी
२. कबीर का काल-निर्णय	श्री हरिप्रसाद नायक
३. 'रामचन्द्रिका' प्रबन्ध-काव्य नहीं, अपितु एक नाट्य प्रबन्ध	डॉ० रामदीन मिश्र
४. उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में सरकारी कार्यालयों तथा जन-जीवन में हिन्दी का स्थान	डॉ० गोपाल राय
५. लोकगीतों में पुनरावृत्ति : कारण और क्रम	डॉ० विमलेशकान्ति वर्मा
६. मध्यकालीन वैष्णव कीर्तनों का काव्यमूल्य	डॉ० योगेन्द्र सिंह
७. अक्षर	डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया
८. कोश-विज्ञान : एक परिचय	डॉ० अचलानन्द जखमोला
९. सौन्दर्य तत्त्व : एक विवेचना दृष्टि	श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा
१०. लोक वीर-काव्य 'आल्हा'	श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
११. 'विनय पत्रिका' की भाषा	डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी
१२. प्राचीन हिन्दी-काव्य की अर्थ-समस्या	श्री किशोरी लाल
१३. प्रतिपत्तिका	
(१) भाषा शास्त्रीय सामग्री-सङ्कलन	डॉ० अमरबहादुर सिंह
(२) विधि के क्षेत्र में प्राविधिक शब्दावली	श्री हीराप्रसाद त्रिपाठी
(३) १५ वीं शती ईसवी के अवधी कवि सूरजदास और उनकी कृति 'रामजनम'	श्री गोविन्दजी
(४) कवीन्द्राचार्य सरस्वती और कवीन्द्र परमानन्द	श्री कृ० गं० दिवाकर
(५) ईसा की १२ वीं और १३ वीं शताब्दियों के शिलालेखों में उपलब्ध प्रारम्भिक राजस्थानी गद्य	डॉ० रामचन्द्र राय
(६) रहमत बिलग्रामी	श्री शैलेश जैदी
(७) कबीर के कुछ अप्रकाशित पद	श्री ओम्प्रकाश सक्सेना
१४. नये प्रकाशन	

रजिस्ट्रार न्यूजपेपर्स एक्ट के नियम के अन्तर्गत

विज्ञप्ति

१. प्रकाशन का नाम	हिन्दुस्तानी
२. प्रकाशन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर)
३. मुद्रक का नाम	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
४. राष्ट्रीयता	भारतीय
५. पता	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
६. प्रकाशक	श्री उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष
७. राष्ट्रीयता	भारतीय
८. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
९. सम्पादक का नाम	श्री बालकृष्ण राव, प्रधान सम्पादक डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, सहायक सम्पादक
१०. राष्ट्रीयता	भारतीय
११. पता	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
१२. स्वामित्व	हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मैं उमाशंकर शुक्ल, सचिव तथा कोषाध्यक्ष, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित मेरी जानकारी के अनुसार बिल्कुल ठीक है।

उमाशंकर शुक्ल
सचिव तथा कोषाध्यक्ष

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के कतिपय महत्त्वपूर्ण नवीन प्रकाशन

• सरोज सर्वेक्षण

डॉ० किशोरी लाल गुप्त

मूल्य २५.००

हिन्दी साहित्य के प्रथम इतिहास ग्रंथ 'शिवसिंह सरोज' का वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक अनुशीलन। आगरा विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबंध।

• मथुरा जिले की बोली

डॉ० चन्द्रभान रावत

मूल्य १५.००

मथुरा जिले की बोली का गंभीर भाषा वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने वाला एक मात्र ग्रंथ। आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

• प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन

डॉ० उदयनारायण राय

मूल्य २२.००

प्राचीन भारत के नगरों की व्यवस्था तथा नगर-जीवन की सांस्कृतिक विवेचना करने वाली अपने विषय की अद्वितीय पुस्तक। अनेक मान्य विद्वानों द्वारा प्रशंसित प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

• सन्त साहित्य की लौकिक पृष्ठभूमि

डॉ० ओमप्रकाश शर्मा

मूल्य १२.००

लोक-जीवन के सन्दर्भ में सन्त साहित्य का गवेषणापूर्ण सांस्कृतिक अध्ययन। प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

• समाज और राष्ट्र : भारतीय विचार

डॉ० सुरेन्द्र मीतल

प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर समाज और राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्धों और गतिविधियों का सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत करनेवाली गम्भीर पुस्तक। प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फिल्० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

•

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
के
महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त श्री लीलाधर गुप्त	नैषध परिशीलन डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
चन्दबरदायी और उनका काव्य डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी	मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया
साहित्य की मान्यताएँ श्री भगवतीचरण वर्मा	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे
श्री शंकराचार्य पं० बलदेव उपाध्याय	सूरसागर-शब्दावली डॉ० निमला सक्सेना
खड़ीबोली का लोकसाहित्य डॉ० सत्या गुप्त	कृषक जीवन सम्बन्धी ब्रजभाषा शब्दावली डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	चुम्बकत्व और विद्युत् डॉ० निहालकरण सेठी
ग्रह-नक्षत्र डॉ० सम्पूर्णानन्द	मार्कण्डेय पुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

- **एकेडेमी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की जानकारी के लिए विस्तृत सूचीपत्र निःशुल्क मँगावें।**
- **पुस्तक विक्रेताओं को विशेष सुविधा। नियमावली के लिए लिखें।**

प्रकाशक : श्री उमाशंकर शुक्ल, सचिव, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
मुद्रक : सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग